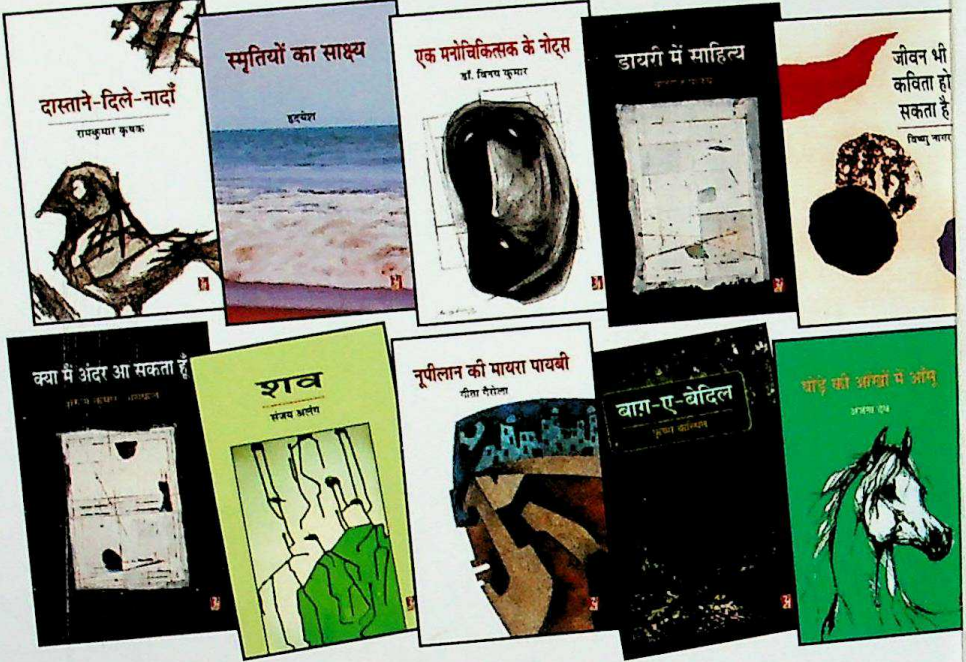


lit
1997

48/97

مجله فصلی
فصلی



अंतिका प्रकाशन की नवीनतम पुस्तकें

संस्मरण/आपबीती/डायरी	लेखक	मूल्य (सजिल्द/पेपरबैक)
स्मृतियों का साक्ष्य	हृदयेश	315.00/170.00
दास्ताने-दिले-नादाँ	रामकुमार कृष्ण	225.00/130.00
डायरी में साहित्य	बलराज पांडेय	495.00/295.00
सेहत		
एक मनोचिकित्सक के नोट्स	डॉ. विनय कुमार	310.00/--
उपन्यास		
क्या मैं अंदर आ सकता हूँ	अरुण कुमार 'असफल'	425.00/225.00
कविता-संग्रह		
जीवन भी कविता हो सकता है	विष्णु नागर	275.00/150.00
बाग-ए-बेदिल	कृष्ण कल्पित	850.00/450.00
घोड़े की आँखों में आँसू	अजंता देव	210.00/--
शव	संजय अलंग	225.00/--
नूपीलान की मायरा पायबी	गीता गैरोला	210.00/--

अंतिका प्रकाशन



सी-56/ यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-2 गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.)
फ़ोन : 0120-2648212, 0-9871856053, ई-मेल : antika56@gmail.com

पहल

अग्निशेखर और शमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक संप्रेम भेंट

कठिन दिन आने वाले हैं
बेहद लम्बे और निचाट दिन
जब तुम्हारी सायकिलों से उम्मीद की जायेगी
वे अपना संतुलन बनाए रखें

पहले दाने कम होंगे
हो सकता है इसका एहसास चिड़ियों को पहले से
आदमी को बाद में
फिर कम होना शुरू होगा पानी
फिर हवा कम होने लगेगी
तैयार रहो दोस्तों
उस हवा को बचाकर रखने की कोशिश करो
जो तुम्हारे पहियों में है
हो सकता है लम्बे समय तक
उसी पर जिंदा रहना पड़े
यातना यहीं से शुरू होती है
पर तुम्हारी घंटियों का बजना भी
शुरू होता है यहां से

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu

पहले
Acc No... 3767
Date... 7.12.2023

इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत
प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक

पहल

सितम्बर : 2014

अव्यवसायिक
अनियतकालीन

संपादक : ज्ञानरंजन, राजकुमार केसवानी
संपादन सहयोग : राजेन्द्र दानी, पंकज स्वामी
कला पक्ष : अवधेश बाजपेयी, संजय आनंद
आवरण : नसरुल्लाह अफजई
वेबसाइट संपादक : कुलभूषण मिश्रा

प्रकाशक : पहल, जबलपुर
101, रामनगर, आधारताल
जबलपुर - 482004

टेलीफोन : 0761-2460393

मोबाईल : 09893017853

ई-मेल : edpahaljbp@yahoo.co.in
editorpahal@gmail.com

सौजन्य - सहयोग : अंतिका प्रकाशन
सी-56, यूजीएफ-4
शालीमार गार्डन एक्सटेंशन-2
गाजियाबाद - 201005

अक्षर रचना : पीयूष जोधानी
मुद्रक : आर. के. ऑफसेट प्रॉसेस
शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : 50.00

वार्षिक : 250.00

संस्थाएं : 300.00

कार्यालय, सम्पर्क और सूचना : मनोहर बिल्लौर, मो. 8982175385
ब्रजभूषण शकरगाये, मो. 9424728985

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से आर्थिक अनुदान के प्रति आभार
वेबसाइट : pahalpatrika.com

अनुक्रम

पहल 97

मुखपृष्ठ कलाकार		4
कुछ पंक्तियां	: संपादक	5
कार्टून माला	: राजेन्द्र धोड़पकर	8
निधन/नादिन गार्डिमर	: शैलेन्द्र चौहान	12
प्रारंभ/अजीबोगरीब, अनोखा फल	: प्रस्तुति यादवेन्द्र	13

पहल विशेष

बुत हमको कहें काफ़िर...	: प्रियंवद	16
कथालोचक नामवर	: रविभूषण	41
देवीप्रसाद मिश्र के प्रयोग	: जीतेन्द्र गुप्ता	77

इक्कीसवीं सदी की लड़ाईयां

पार्थिव और बौद्धिक कचरा उगलने वाला ज्वालामुखी	: जितेन्द्र भाटिया	97
---	--------------------	----

नये कवि

फ़रेन की कविताएं		113
अनिरुद्ध उमट की कविताएं		121

लम्बी कहानियां

आग और राख के बीच	: मनोज रुपड़ा	128
कहीं कुछ गलत हुआ है!	: कैलासचन्द्र	148
जहर बुझे तीर के बाद भी	: तरुण भटनागर	172

कहानी (पहली बार)

शुभचिंतक	: विमलचन्द्र पाण्डेय	187
----------	----------------------	-----

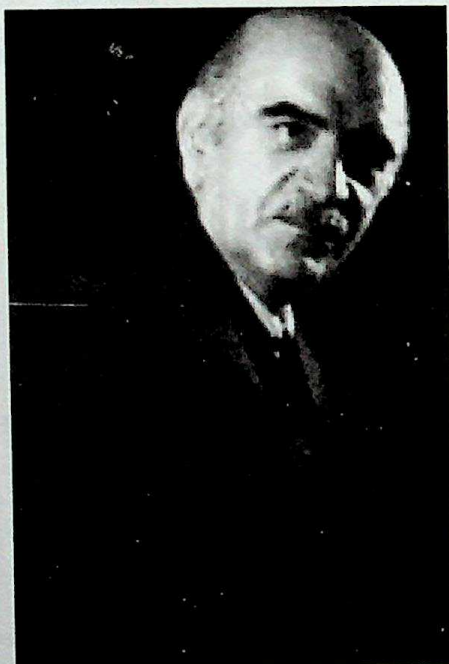
स्तंभ

परिक्रमा की परितुष्ट संस्कृति और पीछे छूटते	: रोहणी अग्रवाल	195
सवालोंने का क्षोभ		
भूत जो कुछ चाहते थे वह पूरा हो चुका था...	: प्रियम अंकित	211
देह, धर्म और राज्य के इलाके में	: राहुल सिंह	220

पाठ्यालोचन

बाँचना तद्भव का दुःख अर्थात् होना केदारनाथ सिंह	: जितेन्द्र श्रीवास्तव	232
सम्पूर्णता की तलाश में	: अमिताभ राय	250

चित्रकार
मुखपृष्ठ



पहल 97 का मुख पृष्ठ ईरानी कलाकार नसरुल्लाह अफजई द्वारा निर्मित है। 1933 में, तेहरान में जन्मे नसरुल्लाह मूल रूप से फारसी की कैलीग्राफी करते हैं और कैलीग्राफी में पेंटिंग के तत्वों का इस तरह से समावेश करते हैं कि वह एक नई और मौलिक कृति बन जाती है। इस कवर की रचना में पाठक अक्रेलिक रंगों और स्याही का बारीक कारोबार देख सकते हैं

कुछ पंक्तियां

‘पहल’ के इस अंक में यूं तो काफी महत्वपूर्ण सामग्री है जिसका उल्लेख इस जगह होना चाहिये था लेकिन प्रियंवद का ‘पहल विशेष’ के लिए लिखा गया दस्तावेज कुछ खास तबज्जो की मांग करता है। जिस जटिल सामाजिक संरचना के साथ भारतीय समाज जीता आया है, उसमें इस तरह के हस्तक्षेप और उनसे उपजने वाली बहसें हमेशा जरूरी रही हैं। खासकर तब, जबकि संरचना की नींव पर ही सीधे-सीधे सांघातिक हमले हो रहे हों।

प्रियंवद ने एक मुद्दा उठाया है ‘दूसरा पाकिस्तान’ वाली मानसिकता का। यह ऐसी जहरीली मानसिकता है जिससे ‘पहला पाकिस्तान’ जन्मा है। समाज के इस वर्ग के लिए जो देश को ‘हिंदू राष्ट्र’ मानकर मुसलमान को ‘पाकिस्तानी’ मानता हैं, अपनी एक शांति और सधी हुई योजना के तहत समाज के एक बड़े तबके की मानसिकता में एक घातक बेक्टरिया की तरह फैल चुका है और बचे हुए समाज तक उसे पहुंचाने की मुहिम में आज भी लगा हुआ है।

यह एक अजीब त्रासदी है कि जिस जगह एक साथ कई मुस्लिम घर हों या कहीं कोई भी मुस्लिम बस्ती हो, उसे फौरन ‘मिनी पाकिस्तान’ या फिर ऐसे ही किसी लकब से नवाज दिया जाता है लेकिन हिन्दू बहुल इलाकों को ‘मिनी हिंदुस्तान’ कभी नहीं कहा जाता।

1992 के दशहतनाक दंगों के बाद यह विभाजन और गहराया है। दंगाग्रस्त शहरों में हिंदू-मुस्लिम आबादी सुरक्षा की तलाश में इतनी बड़ी तादाद में इधर से उधर हुई कि समाज का परंपरागत कम्पोजिट कल्चर वाला ढांचा अपना संतुलन खो बैठा। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि बार-बार के आघात सहकर उबरना और अपने मूल रूप में फिर-फिर कायम-दायम हो जाना हमारे इस ढांचे की खूबी है। यही वजह है कि सांप्रदायिक राजनीति से जन्मे संगठनों को बार-बार ‘दूसरा

पाकिस्तान' का हौवा खड़ा करना पड़ता है।

इस तरह के दुष्प्रचार का असर अकेले हिंदू नहीं लेकिन मुसलमान की सोच पर भी पड़ता है। ऐसा नहीं है कि इस तरह के सामाजिक सौहार्द्र को आघात पहुंचाने वाले तत्व अकेले हिंदू राजनीति में ही हैं, मुस्लिम समाज में भी इसी तरह के तत्व हमेशा सक्रिय रहे हैं, जो अपनी कथनी और करनी से अपने हिंदू जोड़ीदारों की राजनीति को पुख्ता करते हैं। यह कारनामा असुरक्षा की मानसिकता से घिरे मुसलमान को आकर्षित भी करता है। आक्रामकता हमेशा से बचाव का सबसे बड़ा हथियार माना जाता रहा है। कोई ताजुब नहीं कि ज़माने से चले आ रहे इस विश्वास-अविश्वास के संघर्ष में अल्पमत समाज ने भी इन्हीं तीखे तेवरों वाली भाषा का अक्सर सहारा लिया है। इस स्थिति की विडंबना यह है कि आत्म-रक्षा के लिए अपनाए गए इन तीखे तेवरों को ही हिंदू राजनीति ने अपने तर्क का आधार बना लिया है।

इस संदर्भ में एक बेहद जरूरी सवाल है जो कभी विल्फ्रेड सी स्मिथ और एम. मुजीब जैसे विद्वानों ने उठाया है और उसकी खासी पड़ताल भी की है। यह सवाल है कि आखिर यह हिन्दुस्तानी मुसलमान है कौन? मुझे निजी तौर पर बचपन से ही सुनी हुई कुछ बातें अब तक याद हैं। इनमें से एक बात यह है कि हिंदुस्तानी मुसलमान असल में वे हिंदू हैं जिन्हें पीढ़ियों पहले जबरिया तरीके से हिंदू से मुसलमान बनाया गया है। हिंदू परिवारों में यह बात बहुत प्रचलित थी कि औरंगजेब ने तो बाकायदा एक मुहिम चलाकर लाखों हिंदुओं का धर्म परिवर्तन करवाया। इसी के साथ यह भी बताया जाता था कि औरंगजेब जब तक हर रोज एक मन जनेऊ तुलवा नहीं लेता था तब तक अन्न ग्रहण नहीं करता था।

यही वो विश्वास और यही वो अपेक्षा है जिसके चलते आज भी कृष्ण जन्माष्टमी पर एक मुस्लिम महिला के साथ उसकी उंगली पकड़कर चलता हुआ कृष्ण रूप धारी बालक फेस बुक पर हजारों 'लाईक्स' पा लेता है। दशहरे पर रावण का पुतला बनाने वाले मुस्लिम कलाकार की फोटो अखबारों में ख़बर के साथ छप जाती है। गांव में राम-राम का जवाब राम-राम से देने वाले मुसलमानों को बहसों में नज़ीर की तरह पेश किया जाता है। यह मानसिकता असल में मुसलमान में पीढ़ियों पहले वाला हिंदू ढूंढकर खुश होने वाली मानसिकता है।

इन्हीं विकृतियों का नतीजा है कि पाबंदी से पांच वक्त की नमाज़ पढ़ने वाला मुसलमान या फिर दाढ़ी बढ़ाने वाला मुसलमान हिंदुओं के एक तबक्के के लिए ज़हर है। ठीक उसी तरह तिलकधारी हिंदू भी अपनी धार्मिकता से ज़्यादा कट्टरता

की निशानी बन गया है। वह वक्त बहुत पुराना नहीं हुआ है जब इन्हीं लोगों को बड़ी इज्जत की निगाह से देखा जाता था और उन्हें आम इंसानों से बेहतर समझा जाता था।

इन दो चेहरों के बरअक्स आज हिंदुओं को गाली देने वाला हिंदू और मुसलमान को कोसने वाला मुसलमान सिक्यूलर होने के तमगे का हकदार हो जाता है। इस भीड़ में इतनी बड़ी तादाद में राजनीति के शातिर खिलाड़ी शामिल हो गए हैं कि इंसानी रिश्तों को मजहब से ऊपर रखने वाले सच्चे और सादिक जज्बे वाले लोग भी परेशान हैं।

देश के ताज़ा राजनीतिक घटनाक्रम के बाद आए बदलाव के बाद यह बेहद जरूरी हो गया है कि समाज के सोचने-समझने वाले वर्ग जिसने बुद्धिजीवी होने का रुतबा हथिया रखा है, वह पूरी ईमानदारी से इन हालत पर गौरो-फिक्र करे कि आखिर वह समाज को सच दिखाने और समझाने में नाकाम क्यों है? और यह भी कि क्यों जांधें उघाड़े घूमता लठधारी, समाज को भ्रमित करने में इस क्रूर कामयाब है?

प्रियंवद ने एक और बड़ी गौर-तलब बात उठाई है, जिस पर पहले मुद्दे की ही तरह कई बड़ी बहसें हो चुकी हैं। इस हकीकत के बावजूद आज भी यह काबिले-बहस मुद्दा है। इसकी वजह हिंदी समाज द्वारा सच को स्वीकार करने की बजाय रेत में मुंडी घुसेड़ लेने वाली अदा है। यह बात है उर्दू शायरी बनाम हिंदी कविता की। वे कहते हैं - मैं अपने कवि मित्रों को अक्सर यह कहकर नागज कर देता हूँ कि जिसने भी एक बार उर्दू शायरी पढ़ ली उसे कभी हिंदी कविता अच्छी नहीं लगती।

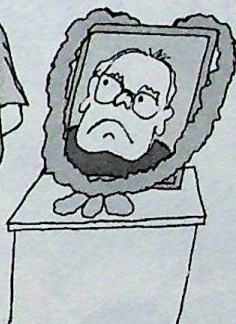
इस एक मुद्दे में एक उससे भी बड़ा अहम और जरूरी मुद्दा छुपा हुआ है। मुद्दा उर्दू और हिंदी भाषा का। इस मुद्दे पर दो-चार जुमले या फिर दो-चार पन्ने की बात बेहद नाकाफी और बेमानी होगी। लिहाजा आने वाले दिनों में 'पहल' में एक शोध-आधारित लंबी बहस शुरू करने का इरादा है। यहां फिर इस बात को दोहराऊंगा कि इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि इस विषय पर पहले बहसें नहीं हुई हैं। हुई हैं, और खूब हुई हैं। किताबें लिखी गई हैं। किताबें पढ़ी गई हैं लेकिन ऐसे बड़े मुद्दे कुछ बरस की बहसों और कुछ शोध के आधार के बाद खत्म नहीं बल्कि शुरू होती है, इसलिए यह बेहद जरूरी है कि इस मसले पर बहस जारी रखी जाए।

- राजकुमार केसवानी

चार कार्टून : राजेन्द्र धोड़पकर

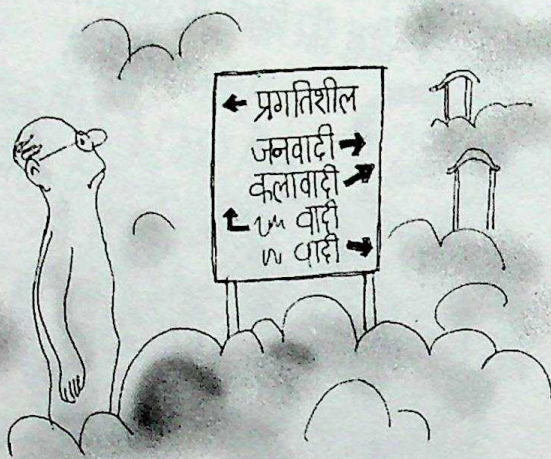


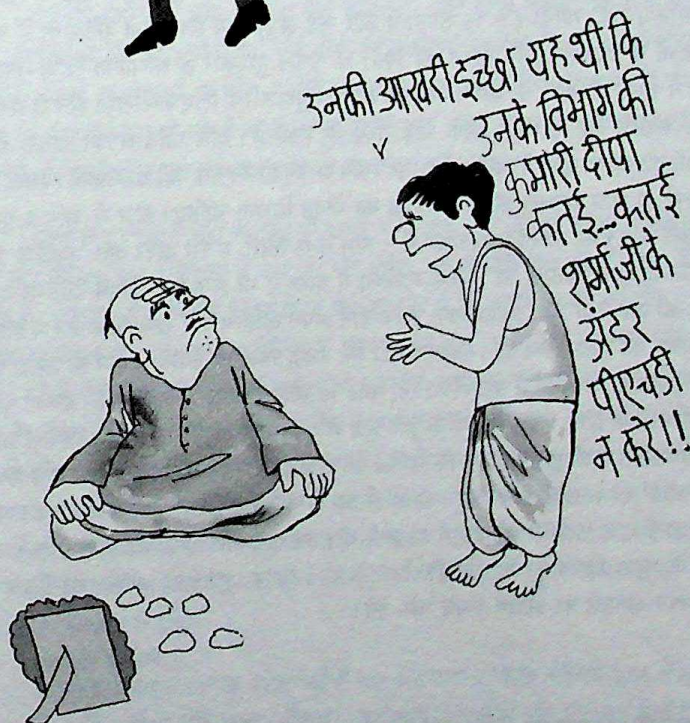
मैंने दो दिन पहले ही उन्हें मेरी
किताब 'चीख और क्लाप' भेंट की थी....
...मुझे लगा कि कहीं
उसे पढ़कर ही उनकी हृदयंगति
तो नहीं रुक गई



हर लेखक की इच्छा होती है
कि जीवन में वह एक ऐसी सार्थक
रचना कर सके जिससे मन को
संतोष हो....
मुझे दुख है कि वे यह
इच्छा लिये लिये ही दुनिया
से चल दिए ।







निधन

नादिन गॉर्डिंमर

दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद के खिलाफ लिखने वाली प्रभावशाली लेखिका नादिन गॉर्डिंमर का 90 वर्ष की उम्र में निधन हो गया।

20 नवंबर 1923 को जन्मी नादिन गॉर्डिंमर को औपचारिक शिक्षा नहीं के बराबर मिली। जोहान्सबर्ग की स्थानीय लाइब्रेरी ही उनकी शिक्षण संस्था थी। इसीलिए वे कहती हैं कि अगर उनकी चमड़ी का रंग काला होता तो वे साहित्यकार नहीं बन पातीं, क्योंकि उस लाइब्रेरी में अश्वेतों के आने की मनाही थी। नेल्सन मंडेला की मित्र रहीं गॉर्डिंमर रंगभेद नीति के खिलाफ निरंतर सक्रिय रहीं। गॉर्डिंमर ने 15 उपन्यास और कई लघुकथायें लिखीं जो दुनियाभर में करीब 40 भाषाओं में प्रकाशित हुईं। नादिन को 1991 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। गॉर्डिंमर ने 1998 में ब्रिटेन के ऑरेंज ब्रॉडबैंड साहित्य पुरस्कार के लिए शार्टलिस्ट होने से मना कर दिया था क्योंकि यह पुरस्कार सिर्फ महिलाओं के लिए है। और गॉर्डिंमर का मानना है कि महिलाओं को अलग खंड में, अलग स्तर पर रखने से उनकी बेहतरी नहीं हो सकती। इसके लिये उन्हें पुरुषों के साथ बराबरी की प्रतियोगिता का मौका मिलना चाहिए। तीस से अधिक पुस्तकें लिख चुकी नादिन की लोकप्रिय पुस्तकों में - माय सन्स स्टोरी, बर्जर्स डॉटर और जुलाईज पीपुल रहे हैं। उनकी कुछ किताबों पर दक्षिण अफ्रीका में प्रतिबंध भी लगा था। नादिन गॉर्डिंमर दक्षिण अफ्रीका की एक ऐसी श्वेत साहित्यकार हैं जिन्होंने अपने साहित्य और सामाजिक क्षेत्र में काम के जरिए रंगभेद की मुहालफत की। आश्चर्य नहीं कि उनके ज्यादातर उपन्यास कम या ज्यादा समय के लिए गुलाम द. अफ्रीका में प्रतिबंधित रहे, कोई 10 साल तो कोई 12 साल तक। उनकी पुस्तक द कंजर्वेन्सिस्ट के लिए 1974 में उन्हें संयुक्त रूप से बुकर पुरस्कार दिया गया था। नोबल समिति ने उन्हें सम्मानित करते हुए कहा था कि नादिन का लेखन महानतम लेखन की श्रेणी में है क्योंकि इससे मानवता को लाभ हुआ है। बहुत ही छोटी उम्र से नादिन ने लेखन शुरू कर दिया है। उनकी पहली कहानी मात्र 15 साल की उम्र में ही छपी थी। उपन्यास और छोटी कहानियां लिखने वाली गॉर्डिंमर के मुख्य विषय रंगभेद और निर्वासन के रहे। चौदह जुलाई 2014 को जोहानिसबर्ग में उन्होंने अपने आवास पर अंतिम समय सांस ली।

- शैलेन्द्र चौहान

अगली बार प्रख्यात अफ्रीकी लेखिका, कवि और एक्टिविस्ट माया एंजेलू (जिनका हाल ही में निधन हुआ है) पर एक दस्तावेजी सामग्री 'पहल' के पाठकों के लिये।

प्रारंभ

प्रस्तुति-यादवेन्द्र

एक अजीबोगरीब/अनोखा फल

हालिया महीनों में एक के बाद एक बलात्कार और हत्या करके लड़कियों/स्त्रियों की लाशें सार्वजनिक तौर पर चुनौती देती जैसे पेड़ों पर लटकायी जा रही हैं और इनकी रोकथाम के महकमें संभाले राजनेताओं के बीच मृतकों के कपड़े लत्ते और शील/आचरण को लेकर जैसे शब्दों का आदान प्रदान हो रहा है उसके लिए "शर्मनाक" शब्द छोटा पड़ रहा है। इन्हीं सन्दर्भों को लेते हुए यहाँ स्ट्रेंज फ्रूट को स्मरण करना प्रासंगिक और उचित लगा।

स्ट्रेंज फ्रूट पिछली सदी के तीस के दशक में न्यूयार्क स्टेट के एक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने वाले रूस से भाग कर अमेरिका में बस गए गोरे यहूदी अबेल मीरोपाल (उस समय वे लेविस एलन के छद्म नाम से कवितायें लिखा करते थे) का गीत है जो अमेरिका की कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता थे। तत्कालीन अमेरिका में अश्वेतों को खुले आम जला या पीट पीट कर मार डालने की घटनाएं आम थीं। ऐसी ही एक घटना का चित्र देख कर मीरोपोल इतने उद्वेलित हुए कि यह गीत लिख डाला। उनका कहना था कि वे यातना देकर ऐसे मार डालने की संस्कृति के खिलाफ हैं। अन्याय और उसको प्रश्रय देने वालों के प्रति अपनी घनघोर नफरत का इजहार करने के लिए ही उन्होंने यह गीत लिखा। शुरू में इसका शीर्षक उन्होंने कसैला फल (बिटर फ्रूट) रखा था पर इस से उनकी राजनैतिक प्रतिबद्धता झलकती थी, सो मित्रों के कहने पर उन्होंने गीत का शीर्षक बदल दिया। पहली बार यह गीत 1937 में अमेरिकी स्कूल शिक्षकों की वामपंथी यूनियन की पत्रिका में छपा।

घटना दरअसल 7 अगस्त 1930 की है जब इंडियाना प्रान्त के मेरियन शहर में दो अश्वेत नौजवानों - थॉमस शिप और अब्राम स्थिम - को बड़ी दरिदगी से पीट पीट कर सार्वजनिक तौर पर हजारों लोगों के सामने फांसी देकर मार डाला गया था। उन पर आरोप था कि उन्होंने एक गोरे फैक्ट्री कर्मचारी के घर में लूटपाट की और उसकी प्रेमिका के साथ बलात्कार किया। पुलिस वहां

मूक दर्शक बनकर खड़ी रही और सबसे अहम बात यह कि जिस स्त्री के शील हरण के आरोप में उन नौजवानों को फांसी चढ़ा दिया गया था उसने बलात्कार से स्पष्ट इंकार कर दिया - हजारों लोगों के सामने अंजाम दिए गये इस हादसे के लिए किसी को सज़ा नहीं दी गयी।

1939 में मशहूर अश्वेत जैज़ गायिका बिली होलीडे ने इसको सार्वजनिक तौर पर गाकर अमर कर दिया। तब नाईट क्लबों में हलके फुल्के गीत गाकर दर्शकों का मनोरंजन करने वाली होलीडे ने बड़े अनमने ढंग से इस गंभीर और मन को झगझोर कर रख देने वाले गीत की प्रस्तुति की। इतिहास में दर्ज है कि उस समय की बड़ी रिकार्ड बनाने वाली कंपनी कोलंबिया ने यह गीत गंभीर राजनीतिक विषय होने के कारण रिकार्ड करने से इंकार कर दिया। कहा जाता है कि होलीडे ने अपने पिता का प्रथम विश्व युद्ध में घायल होकर घर लौटने के बाद अमेरिका के अस्पतालों में अश्वेत होने के कारण इलाज न किये जाने से तिल तिल कर मरना देखा था, सो इस गीत ने उनके मन के तारों को झंकृत कर दिया। यह भी कहा जाता है कि होलीडे की मां को हल्का फुल्का गा कर दर्शकों का मनोरंजन करने वाली बेटी का यह गीत गाकर एक राजनैतिक सन्देश देने का ढंग कतई पसंद नहीं आया था और इसको लेकर मां बेटी के बीच खूब अनबन भी हुई... इस बाबत जब उन्होंने होलीडे को कहा तो उनका जवाब था: मैं यह गीत गाते हुए अश्वेतों के प्रति किये गए अन्याय को महसूस करती हूँ, और अपनी कब्र में भी मैं इसको अपने साथ रखूंगी - इसको भूल जाने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

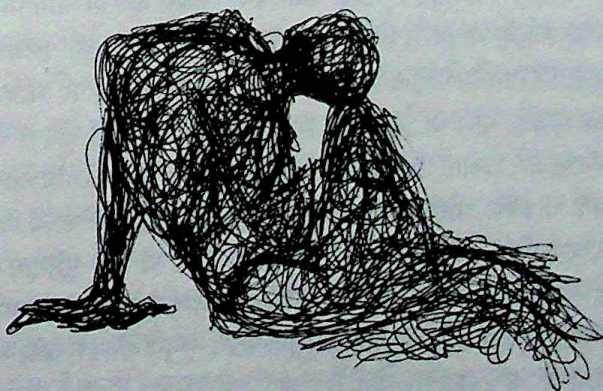
इस गीत ने जितनी ख्याति होलीडे को दिलाई उसको भुनाने के लिए उन्होंने इस गीत को लिखने का श्रेय लेने की कोशिश अपनी आत्मकथा में की, पर बाद में मीरोपाल के स्पष्टीकरण से मामला स्पष्ट हो गया। उनके बाद से लगभग चालीस अन्य गायकों ने इस गीत को अपनी अपनी तरह से गाया... आज अमेरिकी समाज में अश्वेत समुदाय पर किये जाने वाले अत्याचार का यह दस्तावेजी गीत बन गया है। इस गीत के पक्ष और विपक्ष में बहुत तीखे विचार व्यक्त किये जाते रहे हैं और अनेक रेडियो स्टेशनों और क्लबों ने इस पर प्रतिबन्ध भी लगाये - पर आज भी अश्वेत प्रतिरोध गीतों में निरंतर अग्रणी बना रहा। डेविड मार्गॉलिक ने इस पर एक बहुचर्चित किताब लिखी। 1999 में टाइम मैगजीन ने इसको "शताब्दी का गीत" घोषित किया था। 2010 में न्यू स्टेट्समैन ने इस गीत को दुनिया के बीस सर्वश्रेष्ठ राजनैतिक गीतों में शुमार किया है। पुलित्जर पुरस्कार प्राप्त मशहूर इतिहासकार लियोन लिट्वाक इस गीत को बर्कले यूनिवर्सिटी में अपने छात्रों को कक्षा में पढ़ाते भी हैं। युवा अमेरिकी फ़िल्मकार जोएल काटज़ ने 2002 में इस महान प्रतिरोध गीत के इतिहास और सार्वजनिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित करते हुए इसी नाम से एक बहुचर्चित डॉक्युमेंट्री बनायीं- उनका मानना है कि जब छोटी छोटी महज़ बारह पंक्तियां पूरी दुनिया के प्रतिरोध आंदोलन पर इतना असर डाल सकती हैं तो आधुनिक जीवन में प्रतिरोध की कोई छोटी से छोटी घटना भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है और आज उनकी बेहद ज़रूरत है।

एक अजीबोगरीब/अनोखा फल (स्ट्रेंज फ्रूट)

दक्खिन के पेड़ों में लगा हुआ है एक अजीबोगरीब/अनोखा सा फल
पत्तियों पर लहू के धब्बे... जड़ें भी लहू लुहान
दक्खिनी हवाओं से हिल रहे हैं काले कलूटे शरीर
यह अजीबोगरीब/अनोखा फल लटक रहा है पोपलर के पेड़ पर...

लड़ाके दक्खिनी चरवाहों के इलाके का मंजर ऐसा
कि बाहर निकल आयी आँखें और बीभत्स हो गए मुँह
पर फूलों की गमक उतनी ही मोहक और तरोताजा
पर बीच बीच में घुस आती है जलते हुए मांस की सड़ांध।

यहां फूल खिला है जिसे नोंच ले जायेंगे कौवे
जिन पर गिरेगा बरसात का पानी, जिसको सूंघेगी बहती हुई बयार
जिसे सड़ा डालेगी धूप... और एक दिन ज़मीन पर गिरा देगा पेड़
यहां उगी हुई है एक अजीबोगरीब/अनोखी कसैली फसल...



पहल विशेष/एक

प्रियंवद

बुत हमको कहें काफ़िर...

कुछ दिन पहले हलीम मुस्लिम कॉलेज से 'दास्तान' पर शम्सुर्रहमान फ़ारूकी साहब का व्याख्यान सुन कर निकला तो मन उदास था। इससे पहले की शाम जब एक दोस्त को बताया था तो उसने सहज रूप से पूछा था, 'दूसरे पाकिस्तान जाओगे?' अब सामान्यतः मध्य या उच्च मध्य वर्ग के हिन्दू इसी तरह बोलते हैं। बोलते नहीं, तो सोचते हैं।

बहुत दिन बाद इस पुराने घने मुस्लिम इलाके में आया था। पहले बहुत आता था इसलिये कि वहां एक दूसरे से सटे तीन टॉकीज थे। 'रूपम' 'नारायण' और 'सत्यम' (नामों पर ध्यान दें)। वहाँ बीसियों फिल्म देखी थीं। तभी उन मुहल्लों की सड़कों पर घूमा था। मामूली रेस्त्रां में बासी सामोसे, टमाटर की चटनी के नाम पर कद्दू की लाल रंग की चटनी, ठंडी पकौड़ियां, काली कड़वी चाय पी थी। हलीम मुस्लिम कॉलेज के मैदान से ही हमारे मशहूर क्रिकेट क्लब की पराजय गाथा शुरू हुयी थी। ज़फ़र नाम के लड़के को मैं गेंद फेंक रहा था। नौ रन पर उसका कैच छूटा, उसने फिर सैकड़ा मारा था और आठ विकेट भी लिये थे। हमें बाद में पता चला था कि वह 'रणजी' खेलता है। उस पराजय के बाद हमारे आत्मविश्वास को बहुत धक्का लगा था। इस और कुछ दूसरे कारणों से, हमारा क्रिकेट क्लब बिखरता चला गया था। 'स्मगलिंग' के बाजार का सबसे बड़ा केन्द्र भी वही मुस्लिम इलाका था। 'इम्पोर्टेड' चीजें तब 'स्टेटस सिम्बल' होती थीं। बम्बई के अपराध जगत का मुख्य काम तब स्मगलिंग था। हाजी मस्तान, यूसुफ पटेल, सुकुर नारायण बखिया, वरदराजन मशहूर नाम थे। ब्लू फिल्म, सोनी का म्यूजिक सिस्टम, विदेशी परफ्यूम, विदेशी

सिगरेट सब कुछ उस इलाके में मिलता था। शहर की अपराधी दुनिया के बड़े नाम भी वहां थे। वहां की एक सड़क तो 'खूनी सड़क' के नाम से ही जानी जाती थी। एक ही परिवार के बीच 39 कत्ल हो चुके थे। वहाँ पर तीसरे लड़के के पास हथियार होता था। चारों तरफ गरीबी, अशिक्षा, गंदगी थी। पुरपेच गलियों में नालियों के ऊपर खटोलों पर बैठे बलगम उगलते बूढ़े, बुकों में लिपटी औरतें, कमजोर बीमार बच्चे, खिड़कियों पर लटकते टाट के पर्दे, भट्ठियों पर चढ़ी काली पेंदी वाली देगचियाँ, उर्दू के साइन बोर्ड, सब उस इलाके की खास पहचान था। यह सब था, फिर भी कोई उसे दूसरा पाकिस्तान नहीं कहता था। वह भी तब, जब देश का बटवारा होने के बाद हम सिर्फ बीस साल ही आगे निकले थे। वह भयानक कालखंड बहुत से लोगों की यादों में अभी ताजा था और उसकी कड़वाहट बची थी, जो एक दूसरे के लिए नफरत पैदा करने को काफी थी। इसके अलावा न आज जैसी आधुनिकता थी, न शिक्षा, न तकनीक, न रोशनख्याली, न तरक्की, न जदीदियत, फिर भी कहीं न कहीं इतनी समझ थी, इतनी चेतना, इतना इतिहास बोध था, या साथ रहने की इतनी आदत थी, कि सब हमारे अपने, इस मुल्क के ही हिस्से थे, इसी हिन्दुस्तान के, किसी पाकिस्तान के नहीं।

व्याख्यान काफी देर से शुरू हुआ था। खान फ़ारूक ने मुझे प्रिंसिपल के कमरे में बैठा दिया था। वहां और भी बहुत से लोग थे। आते जा रहे थे। वे अध्यापक थे, अदीब थे, सुनने वाले थे, फ़ारूकी साहब के मददाह थे। मैं एक ओर चुपचाप बैठा था। न कोई मुझे जानता था, न मैं किसी को। इन्तज़ार के उस लम्बे दौर में दिमाग में यही सब घूमने लगा था। अपनी जिन्दगी में शामिल मुसलमान, उर्दू ज़बान से इश्क, इतिहास, मुस्लिम बस्तियाँ... सब अलग अलग शक्लों में 'फेड इन' - 'फेड आउट' करते रहे। जो बात सबसे ज्यादा हैरान परेशान और उदास कर रही थी, वह दो अनदेखी सी सरहदें थीं जो अब मुहल्लों के बीच तक खिंच गयी थीं, न सुलझती सी दिखती गांठें थीं, बहुत सारी बेबसी और इससे पैदा होते बहुत सारे सवाल थे। आज मन की ये सलबटें खोलना चाहता हूँ, पर बात ज़रा नाजुक है, थोड़ी उलझी हुई भी, इसलिये न समझे जाने या गलत समझे जाने के पूरे खतरे हैं। चिराग की ज़रा सी रगड़ से 'जिन्न' की तरह कोई भी वहशत नमूदार हो सकती है, फिर भी...।

'मुसलमान' को जानने की शुरूआत घर से हुई थी। किसी मुसलमान के आने पर माँ अलग से बर्तन निकालती थी। बाद में उन्हें आग से जला कर 'शुद्ध' भी

करती थी। पिता का इन बातों से कोई ताल्लुक नहीं था। वह शायद जानते भी न हों कि ऊपर यह सब होता है। तब घर के सामने की पार्क में 'शाखा' लगती थी। उस पार्क में 'गोल इमारत' और आसपास रहने वाले हम लड़कों का साम्राज्य था। हमारा पूरा दिन उसी पार्क में बीतता था। वहीं सारे खेल होते थे। शाखा में आसपास के मुहल्लों में रहने वाले लड़के भी आते थे। जवान अधेड़ और बूढ़े भी। खाकी निकर, सफेद कमीज, टोपी, लाठी। निश्चित समय पर केसरिया डंडा लगा कर वे ध्वज प्रणाम करते उसके बाद दूसरे कार्यक्रम होते थे। शाखा में आने वालों लड़कों से भी हमारी दोस्ती थी, पर दूर वाली। वे हमें शाखा में आने के लिये कहते थे। वे मध्य और उच्च मध्यवर्ग के थे। उनकी बातों में मिठास होती थी। बातचीत का तरीका बेहद विनम्र और शालीन था। वे पढ़ने में तेज थे। हमारे विषयों में हमें हर तरह की मदद करने का आश्वासन देते थे। वहां कहीं, कुछ गलत नहीं था। खेल, अच्छी बातें, व्यायाम, भद्र लड़के, अनुशासन था। कोई अभद्रता, गाली गलौज या स्तर से गिरी बात नहीं थी। फिर भी हम नहीं जाते थे।

एक दिन 'शाखा' के दौरान ही हमारा एक मित्र श्याम, जो उनका परिचित नहीं था, 'ध्वज प्रणाम' के बाद उनके खेलों में शामिल हो गया। खेल खत्म होने के बाद उनके प्रमुख ने श्याम का स्वागत किया और नाम पूछा - 'मुश्ताक', श्याम ने कहा - सन्नाटा छा गया। शाखा खत्म होने का समय था। सब चले गए। श्याम भी हंसता हुआ हमारे बीच लौट आया। उसी ने फिर पूरा किस्सा सुनाया।

हमें तब कोई समझ नहीं थी कि यह सब क्या है, क्यों होता है? हमें किसी ने कभी कुछ बताया भी नहीं था। हमें बस इतना पता था कि ये लोग मुसलमानों को पसन्द नहीं करते। मजा आएगा, बस यही सोच कर श्याम ने यह किया था। यह हिम्मत भी वह इसलिए कर पाया था कि वास्तव में तो वह एक हिन्दू ही था, इसलिये कहीं न कहीं उनके बीच का होने का भाव उसे आश्वस्त दे रहा था। निरापद बना रहा था। यदि मुसलमान होता तो वह यह जुर्रत कभी नहीं करता।

'शाखा' की ही एक और घटना हुई। राजेश्वर कृष्णन हमारा दक्षिण भारतीय मित्र है। पारम्परिक, निष्ठावान हिन्दू परिवार था। उसके पितामहों में एक को बनारस के राजा दो सौ साल पहले दक्षिण से पुरोहित के रूप में लाए थे। बनारस के दक्षिण भारतीयों के मुहल्ले में गंगा किनारे आज भी उसका वह पुश्तैनी घर है जो उन्होंने तब उन्हें रहने के लिये दिया था। उसकी मां निष्ठावान हिन्दू थी। 'शाखा' में तय हुआ कि शरद पूर्णिमा के अगले दिन सबको चांदनी में रखी खीर खिलाई जाएगी। राजेश्वर ने अपनी माँ को बताया कि वह शाम को खीर खाने शाखा जाएगा।

आज राजेश्वर इंग्लैंड में है। बड़ा सर्जन है। पहले वर्षों लखनऊ में रहा है। वहां अपना घर है। साल में दो बार कुछ दिन लखनऊ आ कर रहता है। आज भी भीगी आँखों से बताता है कि मेरी माँ ने पूछा था 'क्यों जाओगे?'

“खीर मिलेगी”

‘वहाँ गए तो टाँगें तोड़ दूँगी’ माँ ने कहा था। वह बताता है, मैंने माँ से बहस की कि क्या बुराई है? प्रसाद की खीर है। प्रसाद तो घर में, मन्दिरों में सब जगह खाते हैं। फिर वहाँ खेल भी होंगे। पर उसका एक ही उत्तर था ‘नहीं जाना है।’ राजेश्वर की पत्नी अंग्रेज है। बहुत साल लखनऊ में रही है। आज राजेश्वर को अपनी माँ की बात समझ में आती है। खासतौर से तब जब उसकी पत्नी लखनऊ की सड़कों पर निकलती है। बाद में बच्चों के बड़े होने पर वह इंग्लैंड चला गया। उसके बच्चे शकल से अंग्रेज लगते हैं। बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं। बेटी का नाम रोहिणी है। वे भी साल में एक बार लखनऊ आते हैं। पत्नी आती रहती है। शायद वे सब न डरते हों, पर उसके साथ होने पर राजेश्वर डरता है। ट्रेन में, सड़कों पर, भीड़ में, मेलों में, जुलूस में, उसी तरह जिस तरह तमिलों द्वारा राजीव गांधी की हत्या के बाद उसे सलाह दी गयी थी कि घर के बाहर ‘डॉ. कृष्णन’ की नेम प्लेट हटा ले, क्योंकि 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सिक्खों के साथ जो हुआ, सबने देखा था। उसने भी कानपुर में देखा था। तब कानपुर में 72 सिक्खों की हत्या हुई थी और दिल्ली के बाद सिक्खों की हत्या करने के मामले में दूसरा शहर कानपुर था। वह उसी तरह डरता है जिस तरह बाबरी मस्जिद गिरने के बाद डरा था, और जो मुसलमानों के साथ हुआ था और जिसे उसने देखा था। वह उसी तरह डरता है, जिस तरह उड़ीसा में ग्राहम स्टेन्स को जलाने और चर्च फूँके जाने के बाद डरा था। ‘नस्ल की श्रेष्ठता’, ‘धर्म की उच्चता’, ‘विशिष्ट होने का बोध’, ‘अन्य से घृणा’, ‘सांस्कृतिक गौरव’, ‘राष्ट्रवादी उन्माद’, धर्म-शक्ति का प्रदर्शन, कर्मकांड सब उसे डराते हैं, किसी भी धर्म, देश, जाति के हों।

‘शाखा’ के दिन हमारे बचपन के दिन थे। हमने कभी दूसरा पाकिस्तान ऐसा शब्द नहीं सुना था। हमारे घर पारम्परिक रूप से धार्मिक थे, पर हमें किसी ने नहीं बताया था कि ‘हिन्दू’ क्या होता है, ‘मुसलमान क्या होता है?’ सब कुछ सहज रूप से हमारे सामने से गुजरता रहता था। हम तक आता था। हम उसी से सब कुछ ग्रहण करते चलते थे। सब्जी मंडी से सुबह पिता के साथ लौटता, तो ‘शहर कांग्रेस कमेटी’ मुख्यालय ‘तिलक हाल’ में दुबले पतले हमीद खाँ को शांत भाव से चुपचाप अकेले चर्खा कातते रोज देखता था। पिता से उनकी दुआ सलाम होती थी। कानपुर की

इकबाल लाइब्रेरी, उर्दू की सबसे पुरानी और बड़ी लाइब्रेरी है। नय्यर साहब का परिवार इसके संस्थापकों में था। नय्यर साहब वकील थे। बचपन में उन्हें अक्सर देखता था। कचहरी से लौटते समय घर आ जाते थे। छोटा कद था, पेट कुछ ज्यादा बाहर निकला था। उस पर सफेद पैंट बमुश्किल तमाम रूकती थी। उस पर काला कोट। सबसे दिलचस्प, सर पर अंग्रेजों वाला गोल, खाकी रंग का हैट था। नय्यर साहब का मदन नाम के व्यक्ति से किसी बात पर विवाद हुआ। हालांकि वह खुद वकील थे पर दोनों ने पिता को पंच बनाया। महीनों दोनों आते थे। बहस ...तर्क ...दस्तावेज ...सबूत गवाह सब चलता रहा। आज लोग नहीं जानते, पर तब विवाद में पंच का निर्णय महत्वपूर्ण और वैधानिक था। कोर्ट जाने से पहले लोग किसी को पंच बनाकर झगड़ा निपटा लेते थे। पंच पर दोनों को विश्वास होता था। पंच का निर्णय कानूनी मान्यता रखता था। आज भी रखता है, पर लोगों ने पंच व्यवस्था पर विश्वास छोड़ दिया है। पिता कई विवादों में पंच बने थे।

खैर... उस दौरान नय्यर साहब को खूब देखा। दूसरा पक्ष पंडित मदन थे। वैसे वे व्यापारी थे पर 'रामायणी' भी थे। अक्सर 'रामचरित मानस' की व्याख्याएं करते थे। बहुत अच्छे स्वरों में चौपाई, दोहे पढ़ते थे। मैंने उन्हें घर पर कई बार सुना था। मानस की एक व्याख्या आज भी याद है जिसमें रावण अहंकार, राम आत्मा, रावण के भाई, अन्य दुर्गुण थे। सीता, हनुमान, भरत आदि भी मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियां थीं। पूरी रामचरितमानस अध्यात्म के स्तर पर विवेचित थी।

एक ओर इकबाल लाइब्रेरी के नय्यर साहब, दूसरी ओर रामायणी पंडित मदन। विवाद का फैसला पता नहीं क्या हुआ। बाद के दिनों में नय्यर साहब की बहन शहर के सबसे प्रसिद्ध और सम्मानित 'नगर महापालिका गर्ल्स इंटर कॉलेज, सिविल लाइंस' की प्रधानाध्यापिका हुयीं। सब उन्हें 'आपा जान' कहते थे। पाठक कल्पना करें कि मेरी दो बहनों की शादी में पिता ने पूरा गर्ल्स कॉलेज और गर्ल्स हॉस्टल ले लिया था। कॉलेज में हम, यानी लड़की वाले रूके थे, हॉस्टल में बराती। वहीं दावत, शादी, भंडार, बारात, बिदा सब हुआ था। ऐसा इसलिये संभव हुआ था कि प्रिंसिपल आपा जान थी। पिता के पास हर साल लोग बच्चों के एडमिशन की सिफारिश के लिये आते थे। लड़कियों को वह आपाजान के नाम एक चिट लिख देते थे। एडमिशन हो जाता था।

वही पतंगबाजी के दिन भी थे। पतंग की दुकान 'बिसातखाने' की गलियों में थी। ये गलियां आगे जा कर घनी और संकरी होती हुई 'रोटी वाली गली' में मिल जाती थीं। रोटी वाली गली रूमाली रोटियों, कबाब और रंडियों (उस समय यही

शब्द प्रचलित था। बचपन में इसे सुनते थे, इसलिये इस लेख की पूरी असहमति के बावजूद, यहां इसका प्रयोग एक अनिवार्य विवशता है - लेखक इसके लिये क्षमाप्रार्थी है।) के लिये मशहूर थी। नूरे यानी नूर आलम की पतंग की दुकान यहीं थी। वह दोपहर के बाद अपने घर के बाहर चबूतरे पर कुछ पतंगे, लटाई, सद्दी, मांझा रख कर बैठ जाता था। मैं हर तीसरे चौथे दिन वहां जाता था। नूरे की उंगलियाँ आगे से गोल और गली हुई थीं। उन्हीं उंगलियों पर मांझे का 'चव्वा' करते हुए वह बताता था कि उसके पुरखे लखनऊ के चौक में रहते थे और वाजिद अली शाह के लिये मांझा बनाते थे।

लखनऊ के चौक में मेरा ननिहाल था। लखनऊ के चौक को ऐसे नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उसकी गलियों से न गुजरें। उस लखनऊ की ज़िन्दगी, कला, तहज़ीब या तो चौक से शुरू होती थी या वहीं पनाह पाती थी। आज कोई इसे एक ख्वाब की तरह समझना चाहे, तो 'गुजिश्ता लखनऊ' (अब्दुल हलीम, 'शरर') 'उमरावजान' (हादी रूसवा) और 'ये कोठेवालियाँ' (अमृतलाल नागर) पढ़ सकता है।

'गोल दरवाजे' के अंदर जाते ही चौक की मशहूर मुख्य सड़क शुरू हो जाती है। तब चांदी का वरक पीटने वालों की नन्ही हथौड़ियों की आवाजें सुनायी देती थीं। बंधी हुई लय में उठती गिरती यह आवाज घुंघरूओं से कुछ ज्यादा और मंदिरों की घंटियों से कुछ कम होती थी। सड़क पर नीचे दुकानें, ऊपर मकानों के छज्जे थे। इन्हीं छज्जों से कई बार मैंने ताजिए निकलते देखे थे। हिन्दू ताजिए उसी तरह देखते थे जिस तरह मुसलमान दशहरे में राम की सवारी। मेरी नानी का घर ठेठ चौक के अंदरूनी हिस्से में था। उस मुख्य सड़क से फूलों वाली गली के और आगे जा कर एक रास्ता बाएं हाथ पर, बहुत पतली, ऊपर की चढ़ाई वाली गली में जाता था। उसके अंदर घुसने के कुछ कदम बाद ही मकान शुरू होते थे। ये मकान दुमंजिले थे। गली के बाएं हाथ पर शुरू के तीन मकान हिन्दुओं के थे। दाएं हाथ पर मुसलमानों के। गली इतनी पतली थी कि दोनों तरफ के मकानों की खिड़कियों से हाथ बढ़ाकर सामान लिया जा सकता था, पर ये खिड़कियां बंद ही रहती थीं, अलबत्ता कभी-कभी तब खुलती थीं जब गर्मियों की दोपहर में कोई फेरीवाला टोकरी में फालसे, करंदे, लोकाट, कसेरू रख कर आवाज देता हुआ निकलता था।

हिन्दुओं के घर अंदर से मिले हुए थे। छोटी खिड़कियों से होकर एक से दूसरे घर में जाया जाता था। यह व्यवस्था इसलिये थी कि औरतों को एक घर से दूसरे घर जाने के लिये गली में न जाना पड़े। मुसलमानों के घरों की खिड़कियों पर

पर्दे पड़े रहते थे। उनके दरवाजे गली से अंदर को फूटती शाखों के अन्धेरो में थे। इन आठ दस मकानों के बाद यह गली आगे पूरी तरह मुसलमानों की बस्ती में मिल जाती थी। यहां मस्जिद थी, मदरसा था, मकतब था, हकीम था, गोश्त की दुकान थी। खास तरह की जीवन शैली, पोशाक, मकान, लोग थे। पहले मेरी हर साल की गर्मियां वहीं बीतती थीं। तब नूरे की बातें याद आती थीं। वापस लौटते समय चौक की दुकान से पतंगें, लटाई लेकर लौटता। जब दूसरों की पतंगें काटता, तब गर्व से कहता कि यह मांझा उसी दुकान का है जो वाजिद अली शाह के लिये मांझा बनाती थी। इसी चौक में अमृतलाल नागर रहते थे।

एम.ए के दिनों में भी कभी उमरावजान 'अदा' पढ़ी थी। संस्कृत साहित्य में भी वेश्याओं की एक विराट, विविध दुनिया पढ़ चुका था। संसार की किसी प्राचीन भाषा के साहित्य में वेश्या-जीवन का या समाज में वेश्याओं की स्वीकृति का इतना विपुल, प्रामाणिक चित्रण नहीं है, जितना संस्कृत में। 'कुट्टनीमतम' 'चर्तुभाणी' पढ़ कर तब बहुत हैरान हुआ था। यह एक ऐसी भारतीय संस्कृति थी जिस पर सबने चुप्पी साध ली थी, सिवाय हमारे कुछ महान इतिहासकारों और विद्वानों के। वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. मोतीचंद्र व पांडुरंग वामन काणे के नाम हिन्दी के आत्ममुग्ध लेखक के लिए अपरिचित ही होंगे।

वेश्याओं का जीवन बहुत कौतुक रचता था। रोमांचित करता था। 'आम्रपाली', 'बसंतसेना', या 'एसपाशिया' 'फ्रीनी', 'द्योतमा' के साथ 'उमराव जान' का भी जादू जुड़ गया था। लिहाजा शोध के लिये इन्हीं को विषय के रूप में चुन लिया। 'ये कोठेवालियाँ' में नागर जी ने प्रस्तावना में लिखा है, "सन् 1950 में राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद ने यह इच्छा प्रकट की थी कि, वेश्याओं से भेंट करके कोई व्यक्ति उनके सुख दुख का हाल लिखे।" वे स्वयं ही इस सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु अवकाशाभाव के कारण ऐसा न कर सके। यह काम फिर नागर जी ने तभी हाथ में लिया था। मेरा शोध का विषय विश्वविद्यालय में समिति के सामने था। तब कुलपति नीनान अब्राहम ने उसे फेंकते हुए कहा था 'कानपुर यूनिवर्सिटी वेश्याओं पर रिसर्च करने नहीं दे सकती।' यह 74 या 75 का साल था मेरे एक गुरु समिति में थे। एक जिद और सम्मान की बात बना कर उनके पूरी तरह अड़ने के बाद मेरा विषय स्वीकृत हुआ। मैंने वेश्या की जगह शब्द 'रूपाजीवा' रखा था। इसी पर उन्होंने बहस की थी कि यह वेश्याओं से अलग बात है। बाकायदा शब्दकोश मंगाया गया था।

'ये कोठेवालियाँ' में वेश्याओं के जीवन की बहुत आन्तरिक सूचनाएँ हैं।

बाई, जान, बेगम, नवाब के लकब वाली औरतों के बहुत से साक्षात्कार हैं। आज हम नहीं समझ सकते, पर तब इन औरतों का अपना एक बिल्कुल अलग और बहुत विशिष्ट जगत था। सामाजिक स्थितियाँ, जीवन, सुख-दुख, बोली-बानी सब अलग थे। ग़ज़ल और संगीत को तो जैसे इन्होंने ही अपने कोठों में जीवित रखा था। उस पुस्तक में लखनऊ और आसपास की वेश्याओं के बीच बराबर की टक्कर में कानपुर की वेश्याओं का भी जिक्र था। वे अधिकांश मुसलमान थीं। कानपुर का 'तलाक मोहाल' या 'बेगमगंज' अपनी बात खुद कह देता है। उस पुस्तक में बहुत सी अन्य पुस्तकों का भी जिक्र था। उन्हें पढ़ना चाहता था, पर उनके प्रकाशकों के नाम नहीं थे। सोचा लखनऊ जाकर नागर जी से मिल लूँ। संभव है उनके पास कहीं कोई सूची हो या फिर कुछ ऐसी जानकारीयाँ मिल जाएँ जिनसे वे किताबें उपलब्ध हो जाएँ। मैंने लखनऊ में अपने मामा से कहा कि नागर जी से मिलना है। हमारी लखनऊ मिल के मैनजरनुमा व्यक्ति गुलाबचंद घर जैसे ही थे। मामा ने उनके साथ नागर जी के घर भेज दिया। गुलाबचंद को सब 'गुलबबो' कहते थे। नागरजी भी। 'कैसे हो गुलबबो?' उन्होंने पूछा था।

चौक क्या, लखनऊ में ही नागर जी किंवदन्ति की तरह थे। लखनऊ उन्हें अपनी शान मानता था। बहुत कम ऐसा होता है जब कोई शहर किसी लेखक के नाम से जाना जाए। लखनऊ में ऐसा ही था। नागर जी का घर भी अपने आप में किंवदन्ति था। बड़ा-सा फाटक, फिर आँगन, उसके बाद नागर जी का बड़ा, खुला हुआ बेतरतीब कमरा, कमरे में बड़ा तख्त। कमरे में चारों ओर किताबें। तख्त पर नागर जी की दुनिया भी कितनी थी? पान, ठहाके, भांग, मस्ती और दुर्लभ बतरस। हम तख्त पर बैठ गए। मैं क्या, मेरी हस्ती क्या? अलबत्ता गुलबबो से उनके पुराने सम्बन्ध थे मैंने किताबों के प्रकाशकों के नाम न दिए जाने की ओर संकेत किया। उन्होंने मेरा विषय सुना। अपनी गलती को माना। मेरे इस अनुरोध पर, कि अगले संस्करण में प्रकाशकों के नाम जोड़ दें, जिससे कि इस विषय में काम करने वालों को असुविधा न हो, उन्होंने तब ठहाका लगा कर कहा था 'बूढ़ा तोता राम राम नहीं करता।'।

फिल्म देखने का चस्का लग चुका था। कयामत कि वहां भी जादू जगाने वाली हीरोइनें मुसलमान थीं। मीना कुमारी, मधुबाला, नरगिस, सुरैया, शकीला, श्यामा (खुशींद), वहीदा रहमान, निम्मी, सायरा बानो। मुगले आजम के अलावा चौदहवीं का चाँद, मेरे महबूब, बहू बेगम, जहाँआरा, नूरजहाँ, ग़ज़ाल, पाकीजा, मेरे हुजूर, पालकी, मेहबूब की मेंहदी, उमरावजान, रजिया सुल्तान, नसीम, गर्म हवा,

सलीम लगड़े पे मत रो, मम्मो, जख्म, फ़िज़ा ऐसी बहुत सी फिल्में बनी और चलीं। इनमें मुस्लिम समाजों की दुनिया थी। उनके सवाल थे। संगीत और गायकों को तो पूरा-पूरा ही मुसलमानों ने बचा कर रखा था जो आज हम तक आया है। तब काले, तब ऐसे रिकार्ड खूब चलते थे। उन्हीं का जमाना था। मलिका पुखराज, बेगम अख्तर, मेंहदी हसन का जादू मेरे सर पर चढ़ा हुआ था। मलिका पुखराज की गायी हफ़ीज़ जालन्धारी की यादगार नज़्म 'अभी तो मैं जवान हूँ', हर दूसरे तीसरे दिन सुनता था। वह तवील और मुश्किल नज़्म आज भी मुझे पूरी याद है और मैं उसी तरन्नुम में सुना सकता हूँ। बेगम अख्तर के भी कई रिकार्ड थे। गर्मियों की दोपहर के सन्नाटे में वह रेशम रेशम होती आवाज़ धंसती चली जाती थी,

दूर है मंजिल राहें मुश्किल आलम है तन्हाई का
आज मुझे अहसास हुआ है अपनी शिकस्तावाई का,

हमने ज़िया हुस्न को बख़्शी उसका तो कोई ज़िक्र नहीं
घर घर में चर्चा है लेकिन आज तेरी रानाई का

अहले हवस अब पछताते हैं डूब के बहरे गम में शकील
पहले न था इन बेचारों को अन्दाज़ा गहराई का।

ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाने और घर-घर पहुँचाने की शुरुआत मेंहदी हसन से हुयी थी। बाद में जगजीत सिंह ने उसे उरूज पर पहुँचाया। फ़ैज़ ने 'गुलों में रंग भरे, बाद नौबहार चले' से अच्छी ग़ज़ल दूसरी नहीं लिखी और मेंहदी हसन ने इससे ज्यादा अच्छा कभी कुछ गाया नहीं। शुरुआती दिनों में मेंहदी हसन कानपुर आये थे। मंच पर गा रहे थे। सुबह होने वाली थी। थके हुए से मेंहदी हसन खत्म करते उठे और जाने लगे। आगे की कुर्सी से एक आदमी उठा और ललकारती हुई तेज़ आवाज़ में बोला -

'मेंहदी हसन'

मेंहदी हसन ने घूम कर देखा। लहकते हुए, दुलारती आवाज़ में उसने कहा,
'आज जाने की ज़िद न करो।'

रुकने की गुहार तो बहुत देखी सुनी थीं, पर ललकार के साथ मनुहार पहली बार देखी थी। मेंहदी हसन हंसते हुए बैठ गए थे। कुछ और सुनाया उन्होंने। यह कानपुर का अपना रंग था। मेंहदी हसन के कार्यक्रम में वह आदमी मामूली नहीं था,

इसलिए कि वहां कुछ भी मामूली नहीं था। न फ़ैज, न मेंहदी हसन, न वह तारों भरी दम तोड़ती रात, न ठंडी सुबुक हवा और न ही कानपुर की वह गंगाजमनी ज़िन्दगी, जो रात भर चलने वाले उन मुशायरों में सबसे साफ़ दिखती थी जिनका संचालन कुँवर महेन्द्र सिंह बेदी करते थे, या तो रात भर चलने वाले उन कवि सम्मेलनों में दिखती थी जिनका संचालन उमाकांत मालवीय करते थे और अक्सर ही दोनों पहलू ब पहलू शाना ब शाना और कई बार साझा होते थे। जीवन में कहीं कुछ अलग नहीं था। हिन्दू मुसलमान ताने बाने की तरह गुंथे बुने थे।

इन सबके बीच ख्वाहिशों और जुनून की उमर भी आ गयी। ख्वाहिशों के हजार रंग थे, जुनून के मैयार अलग अलग थे। तीन ख्वाहिशें बड़ी थीं। पहली, किसी बंगाली लड़की से दोतरफा मुहब्बत, दूसरी, किसी मुसलमान लड़की से दोतरफा मुहब्बत, तीसरी उर्दू सीखना। तीनों में कोई बेवजह नहीं थी। इनके ठोस कारण थे। पहली ख्वाहिश बंगला साहित्य पढ़ने के बाद पैदा हुई थी। बंगाल का काला जादू किसी और के लिये नहीं, बंगाली लड़कियों के लिये कहा जाता था। लम्बे घन काले केश, बड़ी-बड़ी काली आँखें और लुनाई लिये सांवला रंग। बंगला साहित्य ने इसे काले जादू के पाश में ढकेला और दुर्गा पूजा के पंडालों में सुखरू होने तक इसे परवान चढ़ाया।

मैं उसे ही कृष्ण कली कहता हूँ

कलूटी कहते हैं जिसे गांव के लोग

मैंने उसकी हिरनी जैसी काली आँखें देखी हैं

खुशवंत सिंह ने अपनी आत्मकथा में बंगला देश में फौजी दमन करने वाले जनरल टिक्का खाँ से अपनी मुलाकात के किस्से में एक शेर लिखा है जो उन्हें बंगायियों के विरोध में टिक्का खाँ ने सुनाया था -

शौक-ए-तूल-ओ-पेच इस जुल्मतकदे में है अगर

बंगाली की बात सुन और बंगालन के बाल देख

बंगाली सांवलापन दक्षिण के सांवलेपन से अलग है। इसमें लावण्य (नमक) है... एक चमक है... जैसे कि लौ खाल के नीचे थरथरा रही है। रंग में जितना नमक है जबान में उतनी ही मिठास है। उसमें कठोर उच्चारण वाले वर्ण नहीं हैं।

निर्विवाद रूप से धरती पर सबसे सुन्दर स्त्रियाँ ईरान से ले कर तुर्की की ज़मीन तक हैं। बचपन में चन्दामामा के पृष्ठों पर फैला बगदाद हमेशा दिखता था। उसके हर अंक में बगदाद की एक न एक कहानी ज़रूर होती थी। उसमें पृष्ठों के

कौनों पर छोटे वर्गाकार चित्र बने होते थे। उनमें आधे चेहरे को पारदर्शी नकाब से ढंकी लड़कियों के चित्र कौतूहल पैदा करते थे। खलीफा हाँरू रसीद, अलीबाबा, अलादीन, सिंदबाद जहाजी, मरजीना, हातिमताई, रूस्तम सोहराब, अरब के रेगिस्तान, ऊंट सब अपने लगते थे। उर्दू जवान की खास शीरीनी, रानाई, पुख्तगी, लबो-लहजा, बातचीत का बेहद सुसंस्कृत तरीका एक सुखद विशिष्टता देता था। यह सब किसी लड़की में सबसे अच्छे रूप में होगा, इसका एक महज तखय्युल था। यही दूसरी ख्वाहिश का कारण था।

इसी ने उर्दू सीखने की तीसरी ख्वाहिश को जन्म दिया। यही एक ख्वाहिश थी जिसे पूरा करना पूरी तरह अपने इख्तियार में था। लिहाजा एक उस्ताद की तलाश शुरू की। कयामत यह कि उर्दू सिखाने वाले उस्ताद कोई मुसलमान नहीं, हिन्दू मिले, और वह भी उच्च कुल के ठाकुर जो सीधे राणा प्रताप के वंशजों से अपने को जोड़ते थे। मुगलों के खिलाफ लड़ने वाली दो तलवारें याद के तौर पर अभी तक उस खानदान में चली आ रही थीं। इस उस्ताद की बेटी से मुहब्बत और दूसरे अवांतर प्रसंगों को छोड़कर मुद्दे की बात इतनी ही है कि कुछ ही दिनों में ठीक-ठाक उर्दू सीख ली। सिर्फ अभ्यास करते रहना बचा था जिससे उसमें हर तरह की तराश आती रहे।

मैं अपने कवि मित्रों को हमेशा यह कहकर नाराज कर देता हूँ कि जिसने भी एक बार उर्दू शाइरी पढ़ ली उसे कभी हिन्दी कविता अच्छी नहीं लगेगी। भारतेन्दु से लेकर अविनाश मिश्र और दिनकर कुमार तक। कारण यह कि उर्दू के मुकाबले, बनारस के ब्राह्मणों द्वारा एक नकली भाषा गढ़ी गयी जो लोक की भाषा कभी नहीं थी। उसका कभी अपना स्वतंत्र, नैसर्गिक, सहज विकास नहीं हुआ था। छायावाद से अज्ञेय के 'तार सप्तक' तक, हिन्दी कविता की भाषा जन की भाषा नहीं थी। छायावाद में कृत्रिम शब्दों का भारीपन, असम्प्रेषणीयता और भाषा के आवरण को सजाने की सारी चेष्टाएँ हैं, तो पहले 'तार सप्तक' में आयातित विदेशी प्रभाव से आप्लावित सप्रयास आरोपित जटिलता है। रसविहीन, निर्जीव, सम्प्रेषणीयता है। (इन शब्दों को ही देखें) यह हिन्दी भाषा के साहित्य और इतिहास के अधिकारी विद्वान बताएंगे कि छायावाद की 50 वर्षों की लहर में प्रकाशित होने वाले दो सौ कवियों में कितने बचे हैं और 'तार सप्तकों' की श्रृंखला के कितने? अलबत्ता पिछले तीन सौ सालों की उर्दू में वली दकनी, नज़ीर अकबरावादी, मीर, गालिब, जोश, जिगर, इकबाल, दाग, हफ़ीज जालंधरी, मख़दूम, मज़ाज़, फैज़, फ़िराक, साहिर क़ैफ़ी लोगों की ज़बानों पर जिन्दा हैं। बात बात में उन्हें उद्धृत किया जाता

है। उर्दू ज़बान की जिस मिठास और रवानी की बात की गयी है, वह उसमें लोक शामिल होता गया। उसके शब्द आते चले गए। गंगा जमना के दो आबे में पली बढ़ी यह ज़बान, दुनिया की सबसे शानदार और जानदार ज़बानों में इसलिये है कि इसे किसी और ने नहीं, दरगाहों, मंदिरों, मस्जिदों, गलियों, बाजारों, मेलों ने गढ़ा था। वली दकनी से शुरू हो कर आज तक। (कम अज़ कम पाकिस्तान में) यह बिना मुरझाये चली आयी है।

तुझ लब की सिफत लाले बदख़्शा सूं कहूँगा
जादू हैं तेरे नैन गज़ाला सूं कहूँगा

देख लेता है वह पहले चारसू अच्छी तरह
चुपके से फिर पूछता है मीर तू अच्छी तरह

यह सिर्फ एक बार पढ़ या सुन लेने के बाद याद रह जाने वाली ज़बान और कविता थी। हिन्दी में इस भाषा को बाकायदा कोशिश करके सौ साल पहले खारिज कर दिया गया था।

हालांकि हिन्दी गीतों के मंच पर इसे जिंदा रखा गया। वहां गीत की शक्ति में लय, छंद, गेयता, रस, जीवन बचा था। हजारों सुनने वाले पूरी रात सुनते थे। दिनकर और बच्चन से लेकर भारत भूषण, माहेश्वर, किशन सरोज से होती हुयी आज भी कानपुर के कई गीतकारों तक कमोबेश यह भाषा बची हुई है। यह देखना रोचक है कि हमारी आधुनिक कविता के लगभग सारे बड़े नामों ने शुरू में गीत लिखे हैं। पर वे अब इसे स्वीकारते नहीं छुपाते हैं। वे सार्वजनिक रूप से गीत का समर्थन नहीं करते, पर हो सकता है अकेले में गुनगनाते हों। उनके अंदर डर बैठा दिया गया है, और यह डर बैठाया है बनारस की ही तरह वामपंथ के अपने ब्राह्मणों ने, जिन्होंने प्रेम रस, लय, छंद कल्पनाशीलता, गीत को न जाने किन-किन क्रांतिकारी शब्दावलियों के हथियारों से साहित्य और जीवन से बहिष्कृत करके एकांत में ढकेला और उसकी हत्या कर दी। वामपंथ के प्रचंड तुमुलनाद और शिक्षा व साहित्यिक सत्ता के विभिन्न या कि समस्त शक्ति केन्द्रों पर वामपंथियों के नियन्त्रण के कारण कविता में रस और लोक भाषा होने को निरंतर हेय बताया गया। सम्प्रेषणीयता दुर्गुण और जटिलता प्रगतिशीलता बन गयी। इस बिन्दु पर कलावादी और वामपंथी एक थे, क्योंकि दोनों के प्रेरणास्रोत, रचनात्मक उद्गम स्थल विदेशों में थे। थोड़ा बहुत जो कुछ हरा-भरा इधर-उधर बचा रह गया, उसे हिन्दी अध्यापकों की महान विवेचनाओं

और पाठ्य पुस्तकों में संकलित सूखी ठठरियों जैसी रचनाओं ने 'गोड़' दिया। आज लोक इस हिन्दी भाषा, हिन्दी कविता से पूरी तरह कट गया है। इसे सिद्ध करने के लिये कहीं जाने की जरूरत नहीं है। हम अपने आसपास देखें तो हम सब जिन्दगी में गाहे-बगाहे, मौके बे मौके, चार छ शेर या कोई दोहा चौपाई बोल देते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता की पंक्तियाँ कोई उद्धृत नहीं करता, सिवाय उन अध्यापकों और छात्रों के, जो कई सालों पहले जरूरत के मुताबिक बनाये गए नोट्स को इस्तेमाल करते रहने के कारण उन्हें कंठस्थ कर चुके हैं। बाकी... हमारी न मानें तो दिल्ली की आज की सजी हुई साहित्यिक मंडी को देखें, हिन्दी के बारे में सोचें, और पाकीजा का 'दुपट्टा छिने वाले गाना' सुनें, बात खुद बोलेगी, बात ही भेद खोलेगी कि दुपट्टा छिने वाला सिपाही, रंगरेज, बजाज कौन है, ...हमें क्या करना है?

तो ...जीवन में मुसलमान सब जगह थे पर दूसरा पाकिस्तान कहीं नहीं था। सन् 80 में हमारे कारखानों में मजदूरों की चालीस दिन की बेहद संगठित और आक्रामक हड़ताल हुयी। वे मजदूर आंदोलन और ट्रेड यूनियन के सक्रिय और उत्तेजक दिन थे। कलकत्ता, बम्बई और कानपुर इसके बहुत बड़े गढ़ थे। ट्रेड यूनियन के नेताओं का प्रभाव और वर्चस्व आतंक जैसा बन गया था। प्रत्येक राजनैतिक दल का अपना मजदूर संगठन था। हमारी मुठभेड़, इंटक (कांग्रेस का मजदूर संगठन) के बड़े नेताओं से हुयी थी। कारखाने के गेट का मोर्चा मैंने सम्हाला था। शफ़ीक़ खान हमारे फोरमैन/इलेक्ट्रीशियन थे। अकेले वही थे जिन्होंने चालीस दिन हमारा साथ दिया। मैं घर से उन्हें उठाता था और वापसी में घर के दरवाजे पर छोड़ता था। मेरी कार के साथ मजदूर साइकिल दौड़ाते चलते थे, कि कहीं कुछ देर के लिये भी शफ़ीक़ मियाँ अकेले मिल जाएं। कार में मेरे साथ 'कट्टा' लिया एक सुन्दर मासूम सा दिखता, छोटा-सा लड़का बैठता था। मेरे पिता ने उसे साथ लगा दिया था। बाद में, शादी के कुछ दिन पहले ही गैंगवार में बम से उसकी एक टाँग उड़ गयी। उसकी सगाई हो चुकी थी। लड़की को घर वालों ने समझाया पर वह नहीं मानी। उसका एक ही सवाल था, बाद में यह होता तो आप क्या कहते? इसका उत्तर किसी के पास नहीं था। उसने उसी से शादी की। बहुत जीदारी थी लड़के में एक टाँग से साइकिल चलाकर वह वैष्णव दैवी जाता था। तीसरी मंजिल पर गैस से भरा सिलिंडर चढ़ा देता था। कुछ समय पहले ही उसकी मृत्यु हुयी शफ़ीक़ मियाँ को मजदूर कभी छू नहीं पाए। अनवारूलहक मेरा सन् 61 मॉडल का लैम्ब्रेटा बनाता था। मैंने प्यार से लैम्ब्रेटा का नाम 'उन्फुवाने शबाब' (चढ़ती जवानी) रखा था। यह

नाम मेरे सब मित्र जानते हैं। सबने उसे चलाया है। मैंने उसे बहुत आखरी सालों तक चलाया, जब तक कि उसके पुर्जे मिलना बंद नहीं हो गए। अनवारूलहक साल में सिर्फ एक बार ईद से पहले पैसे लेने आते थे। हसन घर में पुताई करता था। हम घर की चाबियाँ उसे सौंप कर चले जाते थे। बहुत धीरे धीरे, किसी संगीत वाद्य को बजाने की तरह वह दीवारों को, दरवाजों को सजाता था। उससे काम जल्दी खत्म करने को कहो तो काम छोड़ देता था। इनमें से अब कोई जीवित नहीं है।

इस सबके बीच जाजमऊ की चमड़े की टैनरियों में भी जाना होता रहा। कच्चे चमड़े के पहाड़ों के बीच लोग काम करते थे। जाजमऊ की पूरी बस्ती मुसलमानों की है। चमड़े की पचासों टैनरियाँ हैं। गोल्फ क्लब से जाजमऊ की सड़क पर घूमते ही चमड़े की खास गंध आने लगती है। सड़क के किनारे चमड़े की छीलन पड़ी रहती थी। भैंसा गाड़ी पर लदी, पानी टपकती, कच्चे चमड़े की कतारें गुजरती थीं। टैनरी की गालियों से क्रोमियम निकल कर गंगा को गंदा करता था। पूरे इलाके में तहमद पहने, टोपी लगाए, ताबीज बांधे आदमी, बुर्का पहने या लपेटे औरतें, टाट के पर्दे, भट्ठी पर चढ़ी अल्यूमिनियम की काली पेंदी वाले बर्तन, टी.बी. के मरीज, नंगधड़ंग सड़क पर घूमते बच्चे, मदरसा, मस्जिद, बकरियाँ, मुर्गी, कच्चे पक्के मकान दिखते थे। चमड़े के व्यवसाय पर पूरा नियंत्रण मुसलमानों का था। चमड़े का सलेक्शन (यह बहुत महत्वपूर्ण होता था) करने के लिए एक टैनरी से दूसरी टैनरी तरह-तरह के जानवरों के चमड़ों के ढेर देखते घूमते थे। जूतों के कारीगर भी ज्यादातर मुसलमान थे। उनके घर और छोटे-मोटे सिलाई और लास्टिंग के कारखाने भी घनी मुस्लिम बस्तियों में थे। बड़े कारखाने भी थे। इनमें कोई कायदा कानून नहीं होता था। कभी कोई सरकारी आदमी निरीक्षण के लिये, कर वसूलने के लिये वहाँ जाने का साहस नहीं करता था। इन बस्तियों का किसी भी तरह का कोई सही आंकड़ा किसी सरकार के पास नहीं है। देश की जनगणना हो, या कोई नीति बनाना या योजना क्रियान्वित करना या किसी और तरह की गणना, कोई भी आंकड़ा सही है इस पर विश्वास करना मुश्किल है। न कोई मतदाता सूची, न शिक्षा, न गरीबी रेखा न देश की प्रगति विकास का कोई आंकड़ा। इन गलियों, गलियों के मकानों के अन्दर के बंटे हिस्सों के अन्दर कोई धूप, रोशनी, ताजी हवा नहीं जाती। वहाँ देश की किसी प्रगति, किसी सरकारी अधिकारी का पहुँचना पूरी तरह संदिग्ध है। सच्वर कमेटी की रिपोर्ट इस देश के मुसलमानों की एक बड़ी सच्चाई है।

‘दूसरे पाकिस्तान’ का पहला अहसास बाबरी मस्जिद गिराए जाने के कुछ

दिनों बाद हुआ था। एक रात, एक मित्र के घर से निकल रहे थे। उसके बगीचे के बाहर के दरवाजे पर लगे नल पर अन्धेरे में झुका हुआ कोई पानी पी रहा था। दूरी थोड़ी ज्यादा थी, इसलिए सिर्फ इतना ही समझ में आया कि कोई दरवाजे पर है। हममें से किसी ने तेज अवाज में पूछा 'कौन है ?'

वह आदमी हड़बड़ा कर सीधा हो गया। उसकी आवाज आयी 'मुसलमान हूँ।'

मेरी नसों का खून जम गया। उस दिन पहली बार लगा कि यतीमखाने के चौराहे से बाँए घूमते ही जो बस्ती शुरू होती है, अब वहाँ न दिखायी देने वाली एक सरहद है, जिसके इधर और उधर दो अलग कौमें, दो अलग मजहब और शायद, दो मुल्क भी हैं। यदि कानपुर शहर में मुसलमान बस्ती के चारों ओर एक दीवार बनायी जाए, तो वह बस्ती एक अलग इलाके या किले में तब्दील हो जाएगी। वहाँ कुछ मिला जुला नहीं है सिवाय उन सरहदों के।

जिस दिन बाबरी मस्जिद गिरायी गयी, हस्बेमामूल उस दोपहर हम 'मैटिनी शो' देखने जा रहे थे। पान की दुकान के लड़के ने बताया कि अयोध्या में कुछ हो रहा है। हमने कोई ध्यान नहीं दिया। हम आश्वस्त थे कि लोकतांत्रिक मुल्क में, एक चुनी हुई कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी संभालने वाली सरकार में, क्या हो सकता था ? शाम को जब टॉकीज के बाहर निकले तब तक शहर में हल्की सनसनी फैल चुकी थी। बाद में बाबरी मस्जिद गिराए जाने का पता चला।

अगली शाम या शायद उसके बाद वाली शाम तक शहर का पूरा माहौल बिगड़ चुका था। कुछ शोर शराबा सुनकर मैं छत पर गया। वहाँ गोलियों की आवाजें सुनायी दे रही थी। किसी मस्जिद के लाउडस्पीकर से मैंने मुल्ला की या किसी और व्यक्ति की आवाज सुनी जो पुलिस को चेतावनी दे रहा था कि वह अपनी गलत हरकतों से बाज आए वरना कुछ हो जाएगा। वह मुसलमानों को भी सावधान कर रहा था। डर, परेशानी, घबराहट और बेबसी से भरी आशंकाओं से उसकी आवाज काँप रही थी। पुलिस शायद गोलियाँ चलाती अन्दर घुस रही थी। उस पर भी छतों या गली के मोड़ों से हमला हो रहा था। शहर के हिस्सों में कुछ लोग मरे और कर्पूर लग रहा।

हिन्दू बस्तियों की गलियों के अन्दर कर्पूर का कोई ज्यादा मतलब नहीं होता। वहाँ सब घरों के बाहर घूमते हैं, बातें करते हैं, सड़क तक चले आते हैं। जरूरत का सब सामान मिल जाता है। मुस्लिम बस्तियों की गलियों में इसका अर्थ दूसरा होता है। वहीं खिड़कियों से झाँकने तक की इजाजत नहीं होती। पानी, दूध,

अखबार, दवा तक को सब तरस जाते हैं। वे पुलिस को पूरी तरह साम्प्रदायिक मानते हैं, और जो वह है भी, इसलिए उस पर हमले करते हैं। कानपुर का कर्फ्यू तभी शांत होता है जब सेना आती है। सेना पर उन्हें पूरा विश्वास है। सिर्फ एक सैनिक पूरी सड़क पर नियंत्रण कर लेता है। गलियों को नियन्त्रण में ले लेता है। उस पर कभी कोई हमला नहीं करता। वे उस देश और अपने रक्षक के रूप में स्वीकार करते हैं। पुलिस को कभी नहीं।

दंगा ख़त्म हुआ, कर्फ्यू भी। सामान्यतः हिन्दुओं में इस घटना को इस तरह देखा गया था कि ढाँचा गिरा दिया, अच्छा किया। हमेशा के लिए झगड़ा ख़त्म हुआ। पर मुसलमान हैरानकुन और डरा हुआ था। आज़ाद हिन्दुस्तान की यह ऐसी घटना थी जिस पर उसे यकीन नहीं हो रहा था। देश बंटवारे के समय उसे हर तरह का आश्वासन दिया गया था। इसी विश्वास पर उसने यह मुल्क नहीं छोड़ा था। इसके नेताओं, जम्हूरियत, कानून, न्याय पर उसे विश्वास था। इसका भी कि न तो उसे दोगम दर्जे का नागरिक समझा जाएगा, न उसकी इबादतगाहों, उसके धर्म, उसकी ज़िन्दगी को कहीं से, किसी भी तरह कमतर समझा जाएगा या उसमें सीधे सीधे दखल दिया जाएगा। वह डरा हुआ और ठगा हुआ महसूस कर रहा था। इस ढाँचे के गिरने से वह सशंकित हो गया था। हिन्दू संगठन, दल उसे और डरा रहे थे। अपनी विजयी हुँकार में आगे के लिये अब मथुरा और काशी के नाम भी जोड़ रहे थे। मन्दिरों और मस्जिदों की मिली जुली दीवारों को गिराने का मतलब था दो अलग बस्तियों, दो अलग सरहदों दो अलग कौमों के सिद्धान्त को स्वीकृति। जो समझा था, मिला जुला था, गंगा जमनी था, चाहे ज़बान, चाहे कला, चाहे संस्कृति, उस सबको अस्वीकारना था। इस घटना के बाद बड़े स्तर पर स्वतंत्र भारत में इतिहास का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पाठ किया जा रहा था।

इसके बाद कुछ फर्क साफ़ तौर पर दिखने लगे थे। हिन्दू मुसलमान बस्तियों में जाने से बचने लगा। मुसलमान हिन्दू बस्तियों से निकलता था, उनसे व्यापार करता था पर चुप रहता था। मन की बात नहीं बोलता था। लोग जैसे ग़ैर के सामने घर की बात नहीं करते, कुछ उसी तरह का व्यवहार करने लगा था। चमड़े और जूते की वजह से मेरा ताल्लुक ऊपरी और बिल्कुल नीचे, दोनों ही वर्गों के मुसलमानों से था। कभी मैं उनसे कुरआन, अयोध्या, अरब या उनकी रवायतों के बारे में कोई बात करता या भारत की राजनीति या उनके किसी मसले पर बात करना चाहता, तो वह कुशलता से सधा हुआ, तटस्थ दिखने जैसा व्यवहार करते, अलबत्ता मेरे पास ही कभी नमाज़ का वक्त हो जाता, तो दोजानू हो कर नमाज़ जरूर पढ़ लेते।

हिन्दुओं की इस उग्र आक्रमकता के पीछे कोई वाजिब तर्क नहीं था। इतिहास की दी गयी गलत जानकारी, नफरत की विरासत और बहुसंख्यक होने के कारण एक वर्चस्ववादी अधिकार बोध था, जो महान संस्कृति या कि नस्ल जैसी बासी और अवैज्ञानिक अवधारणाओं की चाशनी में डूबा था। संविधान, न्याय, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, चुनी हुई सरकार, कानून, पुलिस इन सबसे ऊपर आस्था के महत्व का तर्क दिया जा रहा था। हमारा मुल्क, हमारा धर्म, हमारे पूजा स्थल, हमारे देवी देवता, हमारे अधिकार जैसे बातों में साफ दिखता जाता था कि इस 'हम' में कौन शामिल नहीं है, कौन 'अन्य' हैं। ये सब बातें हर तरह के कुतर्कों के साथ की जाती थीं। सबसे सामान्य तर्क था कि उनको उनका मुल्क दे दिया, अब यहाँ क्यों? अब अगर रहना है तो हमसे दबकर, हमारे तरीके से रहना होगा, वर्ना अपने मुल्क जाओ, इन कुतर्कों में न किसी तरह का इतिहास का ज्ञान था, न सामाजिक बुनावट का, न कोई आधुनिकता थी, न प्रगतिशीलता, न वैज्ञानिक चेतना, न वैश्विक मूल्य बोध, न सांस्कृतिक विरासत की समझ, न लोकतंत्र पर आस्था, न अपने दयनीय वर्तमान की समस्याओं का ज्ञान, न कोई वृहद परिप्रेक्ष्य। सबसे बड़ी बात कि हिन्दू धर्म के नाम पर जो बातें की जाती थीं, वो कभी उसकी रही ही नहीं। वे एक सर्वाधिक उदार, वैविध्यपूर्ण, मानवीय, कलात्मक धर्म को अपनी जाहिली में विकृत कर रहे थे। यह सब सिर्फ एक 'विकलांग उन्माद' था। एक अलक्षित असंभव उद्देश्य, जो पिछली लगभग एक सदी से 'राष्ट्र' और 'धर्म' के नाम पर भीड़ के सामने ताना जा रहा था। बीन से डरे हुए साँप को मुग्ध होकर नाचता हुआ बताने का प्रयास था। नतीजे में एक भीड़ हुंकार भर रही थी। 'अभी तो यह अंगड़ाई है, आगे और लड़ाई है।' हिन्दू बहुसंख्यक के पास अपने वही तर्क थे जो किसी भी बहुसंख्यक के पास हमेशा होते हैं। मुसलमान (ईसाई भी) अल्पसंख्यक के पास अपने डर थे जो हमेशा अल्पसंख्यकों के पास होते हैं। बहुसंख्यक एक 'सांस्कृतिक राष्ट्र' के स्वप्न में जीता है और अल्पसंख्यक फैलते हुए 'घेटो' में बदल जाता है। गंदगी, घुटन, अशिक्षा और अपने धर्म की गलत व्याख्याओं की बीच अपनी परम्पराओं, अपने प्रतीकों में ही शरण, सुरक्षा पाने के कारण उनसे और मजबूती से चिपकता जाता है। नतीजे में एक न दिखने वाली चुप, घृणा और हिंसा दोनों के बीच तनी रहती है, जो किसी विवशता या कुछ अज्ञात भय के कारण शांत बनी रहती है।

अपने समय में मात्र 'साक्षी' की तरह रहना कठिन होता है। यह अक्सर दुविधा और दुख देता है। पक्षधरता में यह संकट नहीं है। वहाँ आवेग, चेतना और लक्ष्य विवेक को ढंक लेते हैं, शान्ति और शरण देते हैं। 'साक्षी' होकर देखने पर ही

इतिहास, सृजनात्मकता, सामाजिक गतिशीलता समझ में आती है। तट पर खड़े होकर ही जल का प्रवाह दिखता है, नदी में डुबकी लगाकर जल में रहने पर नहीं। मेरे साथ यही हो रहा था। मैं चीजों में 'साक्षी' की तरह शामिल था और इसलिए समझ रहा था कि अब वर्तमान से मुसलमानों को अलग नहीं किया जा सकता। कोई कोशिश भी की गयी तो सब कुछ दरहम बरहम हो जाएगा। अगर मुसलमानों के रेशों को अलग किया गया संस्कृति की चातर चिथड़ों में बदल जाएगी। समाज अब सिर्फ समरसता में ही गतिशील हो सकता था, संघर्ष में नहीं, खासतौर से 20 प्रतिशत मुसलमानों के साथ मिली जुली बस्तियों, जबानों, व्यापार, परम्पराओं और त्योहारों के साथ। मैं मित्रों को ये बातें बताता, खासतौर से शनिवार की शाम को अपने घर की बैठकों में। पर उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उनके पास तर्क से ज्यादा भावनाएं थीं, अस्पष्ट विचार थे। वे उनकी पुष्टि चाहते थे, विरोध नहीं। लिहाजा मैं कभी सायास और अक्सर ही अनायास, हर बात में मुसलमानों के पक्ष में बोलने लगा। मुझे लगता था सिर्फ इसी तरह मैं एक भटकी हुई मानसिकता का विरोध कर सकता था। वास्तव में यह पक्षधरता से ज्यादा उनका विरोध करने का तरीका था। मैंने मुसलमानों के पक्ष में बहुत से तथ्य और तर्क जुटा लिये थे। स्थापित चीजों का खंडन या उन्हें ध्वस्त करना मेरी आदत बन गयी थी। जब वे महमूद गज़नवी की बात करते, तो मैं बताता उसका सेनापति कमल था। जब तैमूर लंग की बात करते, मैं बताता कि उसकी आत्मकथा दुनिया की श्रेष्ठ किताबों में है। जब वे बाबर की बात करते तब मैं पूछता कि किसने उसको बुलाया था और किसने उसे धोखा दिया जिसकी वजह से वह दिल्ली से लौटा नहीं और आगे बढ़ गया? जब औरंगजेब की बात करते तो बताता था मुगल वंश में सबसे ज्यादा हिन्दू मनसबदार उसके समय में थे और अपनी खुशी और मर्जी से थे। जब वे राणा प्रताप की बात करते तो मैं बताता कि उनका सेनापति मुसलमान था और हल्दीघाटी से भागने में पठानों ने सबसे ज्यादा लार्शें गिरायी थीं। मैं बताता कि शिवाजी, लक्ष्मीबाई, महादजी सिंधिया के तोपची मुसलमान थे। पूछता कि जब शिवाजी औरंगजेब की कैद से भागे तो उनकी जगह पलंग पर कौन लेटा था? वाइसराय मेयो का कत्ल करने वाले शेर अली का नाम कोई क्यों नहीं जानता जबकि मामूली इंस्पेक्टरों का कत्ल करने वाले इतिहास में प्रशंसा के पात्र बनाए जाते हैं? इन सबमें इतिहास मेरी मदद करता था। यह कुछ और नहीं सिर्फ एक भयानक बेचैनी थी। बेबसी और छटपटाहट थी। एक 'साक्षी' का द्वन्द्व, दुविधा, संकट था। इतिहास से खिलवाड़, अभिव्यक्ति और रचनात्मकता पर गहराते संकट के बादल और भविष्य में किसी मजबूत भारत की जगह अन्दर से

छोटे-छोटे द्वीपों में बदलते हुए देश को देखने की विवशता थी।

दूसरी ओर मुसलमानों की स्थिति बहुत जटिल थी। वहां सिवाय सैकड़ों साल पुराने ठहराव के कुछ और नहीं था। वे गले तक अशिक्षा, गरीबी, धर्मान्धता, मुल्लाओं के नियन्त्रण में जीवन को निर्देशित करने वाली उनकी मोनोलिथिक व्याख्याओं के चंगुल में थे। यह शिकंजा बहुत मजबूत है। यह बात बहुत हैरान करती है कि मुसलमानों के जगत में कोई बड़े परिवर्तन हुए ही नहीं। किसी तरह का कोई पुनर्जागरण, कोई सामाजिक क्रान्ति, धर्म के विघटन, शंकाएं, प्रश्न, बहसें, राजनैतिक नेतृत्व... ऐसा कुछ घटित नहीं हुआ। विज्ञान, प्रगति, विकास का सबसे कम प्रवेश यहां है। यहां की बंद खिड़कियाँ सिर्फ धूप, रोशनी, ताजी हवा ही नहीं रोकतीं, बीनाई समय के साथ हमकदमी और आत्मा की चमक भी रोकती है। अकबर, दारा शिकोह, शाह वलीउल्लाह, जमालुद्दीन अफगानी या जिन्ना या खान अब्दुल गफ्फार खां या वामपंथी विचार, साहित्य तक कई बार संभावनाएं बनीं कि किसी बड़ी चेतना की लहर इनमें कोई बड़ा परिवर्तन ले आये, पर देश के बंटवारे ने और फिर बाबरी मस्जिद ने सिद्ध कर दिया कि दूसरी जकड़नें बहुत मजबूत होती हैं। वे आसानी से उंगलियाँ ढीली नहीं करतीं।

ईद के दो दिन बाद 'टर्र' का मेला होता है। मुझे नहीं पता कि यह सिर्फ कानपुर में होता है या दूसरी जगह भी। लगभग इसी तरह का गंगा मेला होली के लगभग छह दिन बाद होता है। यह सिर्फ कानपुर की अपनी परम्परा है। मैं 'टर्र' के मेले में पहले भी दो तीन बार गया था। इस साल फिर गया। मेला लगभग एक किलोमीटर लम्बी सड़क पर होता है। इसका एक सिरा मुस्लिम इलाके से शुरू होता है और दूसरा सिरा हिन्दू मुहल्ले में खत्म होता है। मैं एक सिरे से दूसरे सिरे तक गया। जिसे भी मुस्लिम समाज की दहला देने वाली क्रूर और नंगी सच्चाई देखनी हो, उसे एक बार इस मेले में ज़रूर आना चाहिये। पूरी सड़क दुकानों और इन्सानों से भरी थी, उनमें 80 प्रतिशत दस से बीस साल के बच्चे, लड़के थे। वे झुण्ड में थे। वे सब कुपोषित, बीमार और कमजोर थे। सब एक से दिखते थे। उभरी हड्डियाँ, धंसा पेट। सब पारम्परिक कपड़े पहने थे। टोपी, पायजामा, कुरता, पैरों में रबर की सस्ती चप्पल। 20 प्रतिशत में भी 95 प्रतिशत औरतें थीं। शेष पुरुष। औरतों के साथ कई छोटे बच्चे थे। बहुतों की गोद में भी थे। वे बच्चे भी बीमार, कमजोर थे। औरतें भी कुपोषित, एनिमिक थीं। सस्ता मेकअप, फुटपाथों पर बिकने वाले सस्ते, चमकदार कपड़े, नकली गहने। खाने पीने की दुकानें सबसे ज्यादा थी। वे सब नालियों या

गंदगी के ढेर के ऊपर या उसके आसपास बनी थीं। इनमें मिठाई, शर्बत, चाट, पकौड़ी थी। इनके ठेले भी थे। फल, खजूर, कुल्फी, फालूदा सिंवई भी थी। सब पर मक्खियां थीं। सब सस्ती चाशनी, बाजार के सस्ते रंगों से बनी थीं। खाने वालों में औरतें, बच्चे सबसे ज्यादा थे। वे उनकी खुशी के पल थे। वे सब खा रहे थे, हंस रहे थे, घूम रहे थे। झूलों पर झूल रहे थे। वहां कोई उच्च, उच्च मध्य या मध्य वर्ग का मुसलमान नहीं था। न स्त्री न पुरुष और लगभग बच्चे भी नहीं। यह गरीबी, अशिक्षा, अज्ञानता, कुपोषण बीमारी के धागों से बनी ऐसा सामाजिक बुनावट थी, जो इतनी शिद्दत से इस तरह तो नहीं दिखती पर 'टर' के मेले में जैसे अचानक नमूदार हो गयी थी और यह हिन्दुस्तान की लगभग 20 प्रतिशत मुस्लिम आबादी के लगभग 80 प्रतिशत मुसलमानों का सच था। और वह केवल हमारे शहर का नहीं पूरे मुल्क का, हमारे अपने हिन्दुस्तान का सच था, और ये उनके सबसे सम्पन्न, सबसे खुशी वाले त्योहार ईद के तीन दिन बाद का सबसे खुशनुमा दिन था, जिसका वे साल भर इन्तजार करते थे। इसमें अगर दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर, झुग्गी झोपड़ियों की आबादी, रोजन्दारी पर काम करने वालों को भी जोड़ लें तो फिर जो हिन्दुस्तान की आबादी बचेगी, और जितनी बचेगी, जो हिन्दुस्तान बचेगा, वह किसका होगा? किसका है वह विकसित, गतिशील दुनिया की ताकत बनने वाला हिन्दुस्तान? शायद उनका, जो गुड़गांव के 'साइबर हब' में दिखते हैं? यदि ईश्वर की बदनीयती या अन्याय देखना हो या धरती के इन्सानों के सच को देखना हो, तो 'टर' के मेले से 'साइबर हब' के मेले की एक यात्रा सब दिखा देगी।

इसके बरअक्स होली के बाद 'गंगा मेले' का दृश्य बिल्कुल दूसरा होता है। शाम 4 बजे तक चलने वाला मेला मुख्य रूप से गंगा के सरसैया घाट जाने वाली सड़क पर लगता है। बहुत पुलिस रहती है। पूरी यातायात व्यवस्था बदली जाती है। घाट जाने वाली सड़क से पहले सैकड़ों मोटर साइकिलें, कारें और दूसरे वाहन खड़े रहते हैं। हँसते मुस्कराते, समृद्ध लोग होते हैं। पूरी सड़क पर तम्बू लगे होते हैं। ये व्यापारी संगठनों के, जातियों के, राजनैतिक दलों के होते हैं। इन तम्बूओं में इन समुदाय, जाति, धर्मों के लोग जमा होकर होली मिलते हैं। प्रशासन का तम्बू भी होता है। डी.एम. भी उपस्थित रहते हैं। इन तम्बूओं के बाद घाट से पहले छोटे बड़े मंदिरों में भव्य श्रृंगार होता है। फूल, गंध, गुलाल होता है। उत्सव जैसा उल्लास और माहौल होता है। परम्परा के रूप में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व शायर शहर क्राजी या उलेमा करते हैं। वे डी.एम. से मिलते हैं। दोनों मेले का फर्क बहुत साफ है। दोनों मेले हिन्दू और मुसलमानों के दो सबसे बड़े त्यौहारों के बाद होते हैं।

बाबरी मस्जिद की घटना के फौरन बाद एक फर्क आया था, जो शायद अब हमेशा ही बना रहेगा, वह मुसलमानों की खामोशी और चुप्पी है। वह बढ़ी है। यह आसानी से जल्दी और दूर से नहीं दिखती। शहर के सबसे खराब, बदहाल इलाकों में एक चमनगंज में जमीनों के दाम आज भी बहुत ज्यादा हैं क्योंकि मुसलमान अपने को अपनी बस्ती में सुरक्षित समझता है। जिनके पास पैसा है या बहुत पैसा है, वे शहर के अन्दर हिन्दुओं की बस्तियों के बीच रहते भी हैं, तो अकेले नहीं। कुछ लोग मिलकर, छोटी हुई तो पूरी इमारत ही खरीद कर साथ रहते हैं। यदि उनके अकेले मकान हैं, तो उनकी खिड़कियां बंद रहती हैं। दरवाजे मजबूत लोहे के, ऊँचे, आसानी से पार न किए जाने वाले और न तोड़े जा सकने वाले होते हैं। सेहत के प्रति बढ़ती जागरूकता या बीमारियों के कारण अब नानाराव पार्क में सुबह की सैर के लिये मुसलमान आने लगे हैं। आदमी भी, औरतें भी। हिन्दू पूरी बेशर्मी और जहालत के साथ पेड़ के ताजे, खिले फूल तोड़ता है, मुसलमान जमीन पर गिरे फूल उठाता है। हिन्दू मोबाईल पर तेज आवाज में भजन, प्रार्थनाएं सुनता है, मुसलमान इयर फोन लगाकर। हिन्दू बच्चे सूखे तालाब में क्रिकेट खेलते हैं, मदरसे के मुसलमान बच्चे किनारे बैठ कर उन्हें खेलते देखते हैं। हिन्दू बरगद के नीचे 'बैकुंठधाम' बना कर कीर्तन कथा करने लगता है, मुसलमान इकट्ठा होकर कुरआन पर बात नहीं करता। हिन्दू व्यायाम करता है, वंदे मातरम कहता है, राधे राधे, हरिओम के अभिवादन करता है, मुसलमान पड़ों के बीच के रास्तों पर चुपचाप बेगाना सा पास से निकल जाता है। वह झुंड बनाकर नकली हंसी नहीं हंसता, जोर जोर से ठहाके लगा कर बातें नहीं करता। कोशिश करके कोई हिन्दुओं की मंडली में शामिल भी होता है तो तो चार दिन बाद फिर अकेले दिखने लगता है। मुसलमान की बढ़ती तादाद देखकर हिन्दुओं के झुंड बैचने हैं कि किसी दिन पार्क में सिर्फ वही न दिखने लगे, तो मुसलमानों को डर है कि बाबा रामदेव की योग कक्षाएं, 'बैकुंठधाम' के बढ़ते कीर्तन, शाखा जैसे व्यायाम, सत्संग उनके घूमने आने पर दबाव न बनाने लगे। उनके इलाके में फुटपाथ नहीं हैं, सड़क नहीं है, पेड़ नहीं हैं, धूप रोशनी नहीं, ताजी हवा नहीं है। बीमारियों में सुबह की सैर बहुत जरूरी है। लड़कियाँ भी आती हैं। अपना शरीर ठीक रखना चाहती हैं। पर वे बैडमिंटन नहीं खेल सकतीं, दौड़ नहीं सकतीं, चारों ओर हाथ घुमा कर व्यायाम नहीं कर सकतीं। उनकी पोशाक, उनकी सरहदें, उन्हें यह सब नहीं करने देंगी। उनके पुरुष, मौलवी, मुल्ला भी नहीं करने देंगे। उनकी किताबों की हिदायतें नहीं करने देंगी। हमारे केसरिया झंडे, हमारे हुंकारते अभिवादन नहीं करने देंगे। उनके मुहल्ले के लफंगे और हमारे लट्टूरे लड़के नहीं

करने देंगे।

गलत इतिहासबोध, धार्मिक कट्टरता, अलगाव दोनों तरफ बढ़ रहा है। पहले जब गर्मियों में छत पर पानी छिड़कर कर सोते थे, और हवा नहीं चलने पर सात तरह के विकलांगों से हवा चलाने की प्रार्थना करते थे, और अक्सर सुबह आंख खुलने पर सिरहाने बंदर को बैठा पाते थे, तब सुबह अज्ञान की सिर्फ एक आवाज़ सुनायी पड़ती थी। अब सुबह छत पर जाने पर अज्ञान की पचासों आवाजें चारों ओर सुनायी देती हैं। दस साल पहले कानपुर में कोई गणेश पूजा के बारे में जानता भी नहीं था। आज गणेश पूजा में लगभग 250 प्रतिमाएं गलियों, नुक्कड़ों, सड़कों के मन्दिरों के साथ सजती हैं। लाऊडस्पीकर, कीर्तन, प्रसाद चढ़ावा एक अलग वातावरण रचता है। विसर्जन के लिये जाती प्रतिमाओं के साथ गुलाल रंगे लड़कों के चेहरों के जुलूस डराने वाली उपस्थिति दर्ज कराते हैं। अचानक यह उत्सव, मुफ्त दी जाती प्रतिमाएं, पंडाल, लड़कों के अन्दर पैदा की जाती धार्मिकता की पूरी कहानी अलग है। यही दुर्गा पूजा के उत्सवों में होने लगा है। पहले सार्वजनिक रूप से सिर्फ बंगालियों के भव्य पंडाल और मूर्तियां सिर्फ पांच या सात जगह सजते थे। सामान्य रूप से सामान्य हिन्दुओं को पता भी नहीं होता था। वे उसमें जाते भी नहीं थे। आज उन पंडालों में बंगालियों से ज्यादा हिन्दुओं की भीड़ होती है। गलियों, नुक्कड़ों के मंदिरों पर देवी प्रतिमा सजती हैं। रात भर जागरण होते हैं। विसर्जन होता है। बंगालियों से ज्यादा गैर बंगाली अब हिन्दू प्रतिमाएं विसर्जित करते हैं। किसी भी पेड़ के नीचे, निर्जन या खुली जगह में रोज जन्म लेते नए देवता हैं तो कुरकुरमुत्तों की तरह उगते पुजारी। मुहर्रम के जुलूस भी ज्यादा लम्बे, ज्यादा उन्मादी, ज्यादा आवेगपूर्ण हो रहे हैं। ताजियों की संख्या और भव्यता में बहुत इजाफा हुआ है। कर्बला जाने वाले ताजियों के पीछे बहुत भीड़ जाती हैं। शब बरात की रात मुसलमानों की भीड़ का बाहर निकलना और इतनी व्यापकता में लड़कों का हुड़दंगें मचाते घूमना चौंकाता है। यह देखना बहुत महत्वपूर्ण है कि यह सब कुछ, दोनों समाजों, धर्मों के मध्य, उच्च मध्य और उच्च वर्ग में है। निम्न वर्ग के हिन्दुओं और मुसलमानों में पारस्परिक साझा जीवनशैली अभी बची है। वहाँ भूख, गरीबी से लड़ने की जद्दोजहद ज्यादा बढ़ी है। ये मसले वहाँ के सामान्यतः नहीं हैं, या फिर आधुनिक शिक्षा, जीवन शैली, जागृति और वैश्विक बोध के युवाओं में नहीं हैं, पर ये दोनों ही वर्ग चीजों को नियन्त्रित नहीं करते। कहीं इनकी संख्या बहुत कम है, कहीं प्रभाव और कहीं इच्छा शक्ति।

धर्म का बढ़ाया जाता आवेग, उत्तेजना हमेशा एक उन्मादी, राष्ट्रवाद में समाहित किया जाता है। इसमें महान अतीत, महान पुस्तकें, महान संस्कृति, महान नायक जैसे तत्वों को जोड़कर एक संस्कृति, एक इतिहास गढ़ा जाता है। वास्तव में संस्कृति तभी बनती है जब धर्म, इतिहास और राष्ट्रवाद को एक कर दिया जाता है। यह भी बहुत साफ दिखने वाले तरीके से नहीं किया जाता। इस कोशिश पर कुछ और मुलम्मे चढ़ाए जाते हैं। इसे कुछ आकर्षक शब्दों से अलंकृत किया जाता है। अन्य के लिये घृणा और हिंसा को जन्म देने वाले झूठे तथ्य और कुर्तक गढ़े जाते हैं। यह सब इतनी सावधानी से किया जाता है कि मनुष्य या कि नागरिक अपने सांस्कृतिक वर्चस्व के लिये अपनी स्वतंत्रता का त्याग करके किसी विचारधारा या व्यक्ति तक की गुलामी को तैयार हो जाता है। ऐसे गुलाम पैदा करना ही अन्ततः राज्य, धर्म, समाज और पूंजी का अन्तिम लक्ष्य होता है, जो उनकी अमानवीय सत्ता को भी विश्वास और श्रद्धा को साथ देखे। मुसोलिनी कहता था “फ़ासिज्म, जो अपने को प्रतिक्रियावादी कहे जाने से नहीं डरता, खुद को स्वतंत्रता विरोधी कहलाए जाने से भी नहीं हिचकिचाता है।” एक ढीली ढाली, निष्प्रभावी, अकर्मण्य, अस्थिर, लोकतांत्रिक व्यवस्था और सरकार, सत्ता केन्द्रों में बैठे लोगों को सबसे ज्यादा पसन्द है। जब तक वे इस व्यवस्था को लोकतंत्र का छद्म आवरण दे कर चला सकते हैं, चलाते हैं। इसकी महिमा को मंडित करते हैं। मतदाताओं को उनके अधिकार, उनकी शक्तियों, उनकी भूमिका की मरीचिका में डुबोए रखते हैं। जब यह व्यवस्था इतनी निकम्मी और भ्रष्ट हो जाती है, इतनी सड़ जाती है कि उनके हित साधने में भी असमर्थ हो जाती है, तब वे इसके आवरण में एक तानाशाही या तानाशाह लाते हैं। ध्यान देना ज़रूरी है कि तानाशाह हमेशा निकम्मे, भ्रष्ट, दम तोड़ते लोकतंत्र से जन्म लेता है। ऐसे ही मुसोलिनी आया था। ऐसे ही हिटलर आया था। वे अपने आप नहीं टपक पड़े थे। उन्हें पूरी रणनीति के साथ लाया गया था। हिटलर को लाने में उन सब राष्ट्रों, व्यक्तियों की बड़ी भूमिका थी जो बाद में उसके खिलाफ संगठित होकर लड़े। पहले सबने उससे संधियां की थीं या करने की कोशिश की थीं। मुल्कों के इतिहास यही हैं। उनके बनने बिगड़ने के इतिहास भी यही हैं। उनके बंटने या जुड़ने के इतिहास यही हैं। सद्दाम, ओसामा, गद्दाफी सब इन पूंजीवादी मुल्कों के प्रिय रहे थे, फिर अचानक ये ‘मानवता विरोधी’, ‘तानाशाह’ बताकर कत्ल कर दिए गए। जब तक ये उनका हित साधते रहे, दोषरहित थे। बाद में एक महान, लोकतांत्रिक, उदार, मानवतावादी दृष्टिकोण, व्यवस्था और विश्व के लिये संगठित होकर उनकी क्रूर हत्याएं कर दी गयीं।

(2)

रात गहरा रही है। उदासी और थकान भी। कुछ दिन पहले मकबूल साहब ने कहा था कि आँखें और कमजोर हो गयी हैं, नया चश्मा बनवा लीजिए। शायद वही थकान है। चश्मा उतार कर रख देता हूँ। सामने इमारत के पीछे से चाँद निकल रहा है। अभी वह जर्द है, रोशनी अफ़सुर्दा है। अभी यह गंगा के किनारे पूरा दिख रहा होगा। यह रोशनी अभी ययाति के टीले पर, जाजमऊ की टेनरियों के चमड़े के ढेरों पर, किनारे पड़ी उल्टी नावों की दरारों पर गिर रही होगी। अभी चाँद और उठेगा। तब यह रोशनी 'चमेली के मंडुए तले प्यार की आग में जलने वाले दो बदनों पर गिरेगी'। 'मन्दिरों के किवाड़ों, मयकदों की दरारों, मस्जिदों की मीनारों' पर गिरेगी। अभी चाँद और उठेगा। यह 'बेवा के शबाब' की तरह उठेगा। यह 'मुफ़लिस की जवानी' की तरह उठेगा। 'मुल्ला के अमामा बनिए की किताब' की तरह उठेगा। जैसे जैसे यह उठेगा इसकी रोशनी बढ़ेगी। जर्द में चमकदार होगी। किसी जीने पर रुकेगी, किसी सीने पर रुकेगी।

अव्वले शब चाँद जहाँ ठहरा था
आज ठहरा है उसी जीने पर
आओ सो जाओ मेरे सीने पर

रात गहरा रही है। उदासी और थकान भी। रंजो गम, दर्दों अलम, यास, तमन्ना, सोजो गुदाज, दिल में आठों का मेला लग चुका है। गहरे सन्नाटे में सुबह की ओर रेंगती रात की हर साँस, हर आहट सुनायी दे रही है। न परियाँ हैं, न नींद, न ख्वाब।

ये साँस लेती हुयी कायनात ये शबे-माह
ये पुरसुकूँ ये पुरअसरार ये उदास समाँ
ये नर्म-नर्म हवाओं के नीलगूँ झोंके
फ़ज़ा की ओट में मुर्दों की गुनगुनाहट हैं
ये रात मौत की बेरंग मुस्कराहट है
धुँआ-धुँआ से मनाज़िर तमाम नमदीदा
खुनुक धुँदलके की आँखें भी नीम-खाबीदां
सितारे हैं कि जहाँ पर है आँसुओं का कफ़न

हयात पर्दा-ए-शब में बदलती है पहलू
कुछ और जाग उठा आधी रात का जादू
ज़माना कितना लड़ाई को रह गया होगा
मेरे ख़्याल में अब एक बज रहा होगा।

ऐसा कम होता है जब रमजान और नवरात्रि के कुछ दिन साथ पड़ जाते हैं, उस साल ऐसा ही हुआ था। सुबह कभी-कभी मैं पैदल घूमने की जगह साइकिल चलाता था। उस दिन साइकिल पर था। अन्धेरा खत्म ही हो रहा था। रोशनी फूटने वाली थी। परेड चौराहे पर सड़क के एक ओर लड़कियाँ नंगे पाँव, बाल खाले, माँ का जयकारा बोलती जा रही थीं। दूसरी ओर से सहरी के बाद मुसलमान लड़कों के झुंड सड़क पर निकल आए थे। दोनों के बीच सड़क का डिवाइडर था। एक ओर प्रार्थना थी दूसरी ओर नमाज। एक ओर प्रसाद था दूसरी ओर सहरी का खाना था, एक ओर माथे पर गोटे सजी चुनरी, नंगे पाँव, खुले बाल थे, दूसरी ओर छोटी जालीदार टोपी, पायजामा, कुर्ता था। एक ओर माँ दुर्गा थीं दूसरी ओर परवरदिगार अल्लाह था। मैं साइकिल पर चौराहे से निकला। बारह चौदह साल के दुबले पतले मुसलमान लड़के ने आवाज़ देकर मुझे रोका, 'चचा... बैठ जाऊँ? सुनहरी मस्जिद तक छोड़ देना' मैंने इशारा किया। वह पीछे कैरियर पर दोनों तरफ एक एक पैर लटकाकर बैठ गया। तभी एक लड़की वहाँ से हरे रंग के कपड़ों पहने गुजरी। लड़के ने उसे देखा और बोला - 'घर जाओ, नहीं तो बुकरिया चर जाएगी।'

लड़की हंसी। लड़का हंसा। मैं भी हँसा और पैडल मारता हुआ सुनहरी मस्जिद की ओर चल दिया।

'रबीन्द्रनाथ', 'मखदूम', 'मजाज़', 'राही मासूम रज़ा' और 'फिराक' की शाइरी के कुछ अंश/पद लिये गए हैं। उनका उल्लेख लेख में इसलिए नहीं है कि लेख की लय न टूटे। शीर्षक अकबर इलाहाबादी की ग़ज़ल के शेर से लिया गया है। पूरा शेर इस तरह है -

सूरज में लगे धब्बा फितरत के करिश्में हैं

बुत हमकों कहें काफ़िर अल्लाह की मर्ज़ी है।

पहल विशेष/दो

रविभूषण

कथालोचक नामवर

“मैं अपने तई मानता हूँ कि आलोचक को दो भूमिकाएं निभानी चाहिए। आलोचक वही काम करता है जो फौज में जिसे 'सैपर्स एण्ड माइनर्स' कहते हैं, इंजीनियर करता है। फौज के मार्च करने से पहले झाड़-जंगल साफ करके नदी-नाले पर जरूरी पुल बनाते हुए फौज को आगे बढ़ने के लिए रास्ता तैयार करने का जोखिम उठाए, सड़क बनाए... मैं आलोचक के लिए 'सैपर्स एण्ड माइनर्स' की भूमिका मानता हूँ क्योंकि आगे-आगे वही चलता है और पहले वही मारा जाता है। दुश्मन आ रहा है तो जोखिम उठाने के लिए सबसे पहले मार्च पर वही बढ़ता है और ज़ख्मी होने का खतरा भी वही उठाता है, यह काम आलोचक करता है और उसे करना भी चाहिए। क्योंकि हम रचनाकारों के लिए रास्ता बनाने की कोशिश करते हैं। दूसरा, रास्ता बनाने के साथ ही वह उनके साथ-साथ चलता भी है। वह रचना का सहचर भी है।”

- आवेग, 2002, 'बात बात में बात', (2006) में संकलित, पृष्ठ 19-20

“यह पुस्तक लगभग एक दशक (1956-65) की चिन्तन यात्रा की पगडंडी है, जिससे मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है... कहानी-समीक्षा को मैंने 'सहयोगी प्रयास' के रूप में शुरू किया और पाया कि ज्यादातर लेखकों ने विरोध के द्वारा ही सहयोग किया.. मेरे निकट इनका महत्व केवल कहानियों की समीक्षा तक सीमित न होकर एक व्यापक समीक्षा-पद्धति के निर्माण की दिशा में है। निष्कर्षों से असहमति हो सकती है, मूल्यांकनों से मतभेद हो सकता है... किन्तु वह पद्धति और प्रक्रिया, जिनमें मेरी दिलचस्पी सबसे अधिक रही है, व्यापक विचार-विनिमय की अपेक्षा रखती है।”

- 'कहानी: नयी कहानी' की भूमिका ('यह पुस्तक'), 1965

स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में, पचास के दशक से 'नयेपन' के प्रति प्रायः सभी क्षेत्रों में एक विशेष आग्रह था। नेहरू ने 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (1946)

में अपनी धमनियों में प्रवहमान भारत को 'एक अजनबी आलोचक की नजर' से देखने की बात कही है और यह लिखा है कि उन्हें भारत का वर्तमान पूरी तरह नापसंद था। अतीत के कई अवशेषों से 'गहरी अरुचि' थी। वे भारत को पश्चिम के नजरिये से देखने वाले राजनेता थे, जो देश के पहले प्रधानमंत्री बने। वे भारत को 'आधुनिकता का लबादा पहनाना' चाहते थे। इस समय नयी दिल्ली फैल रही थी, विकसित हो रही थी। एक 'नये भारत' का जन्म हो चुका था। आज़ाद भारत अतीत से मुंह मोड़ रहा था। 'आधुनिकता' पर अधिक बल था। 26 जनवरी 1950 को भारत 'संप्रभु, लोकतांत्रिक गणराज्य' बना। गांधी का स्वप्न खंडित हो चुका था। नेहरू भारतीय समाज को पहले से भिन्न एक नये-आधुनिक रूप से पुनर्रचित करने को तत्पर थे। भारत में जो 'सांविधिक लोकतंत्र' स्थापित हुआ, वह 'सार्विक मताधिकार' पर आधारित था। सुनील खिलनानी ने इसे 'भारतीय समाज के अंदर से निकले किसी लोकप्रिय दबाव का परिणाम' नहीं माना है। इसमें जनसाधारण की कोई भूमिका नहीं थी। "लोकतंत्र तो खास तरह के बुद्धिजीवी प्रमुख वर्ग की राजनीतिक पसंद के कारण जनता को प्राप्त हुआ था।" (भारतनामा, 2001, पृ. 53)

पचास का दशक संभावनाओं का दशक था। लोकतंत्र भारत के लिए नया था। दो लोकसभा चुनावों के साथ राज्यों के विधानसभा चुनाव इस दशक में हुये थे। भाखड़ा-नांगल को नेहरू ने 'आज के सबसे बड़े मस्जिद और गुरुद्वारे' कहा था। यह 'महान जगह' थी। इसी दशक में विश्व के प्रख्यात अर्थशास्त्री भारत आने लगे थे। महलनोबीस विदेशी अर्थशास्त्रियों के साथ मिलकर काम करने लगे थे। 'वैकासिक अर्थशास्त्र का विज्ञान' भारत के लिए नया था। योजनाएं नयी थीं, पंचवर्षीय नीतियां भी नयी थीं। एक नयी योजना के तहत एक नये शहर का निर्माण हो रहा था। इसी समय फ्रांसीसी वास्तु शिल्पी चार्ल्स एडुअर्ड ज्यांनरेटड (ल कोर्बुज़ियर) चंडीगढ़ की डिजाइन बना रहे थे। भारतीयता की विरासत से नेहरू दूर थे। चंडीगढ़ भारतीय नगरों से भिन्न था, विशिष्ट भी। इतिहास से अपने को मुक्त किया जा रहा था। "चंडीगढ़ का निर्माण कुछ इस तर्ज पर किया गया कि वह विजातीय रूप, शैली और सामग्री का वैभवगान बन गया... चंडीगढ़ अंग्रेजी भाषा की तरह था।" (वही, पृष्ठ 146) पचास के दशक में 'नयेपन' के प्रति प्रायः सभी क्षेत्रों में एक तीव्र आकर्षण था। साहित्य इससे अलग नहीं था।

प्रगतिवादी आन्दोलन के बिखरने के बाद 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' का आन्दोलन आरंभ हुआ इलाहाबाद साहित्य का केन्द्र था। इलाहाबाद में पचास के

दशक के आरंभ में अपने-अपने कस्बों से आने वालों में प्रमुख थे - कमलेश्वर (मैनपुरी), दुष्यन्त कुमार (मेरठ) और मार्कण्डेय (जौनपुर)। 1954 में 'नई कविता' (संकलन) का प्रकाशन हुआ। 1937 में प्रकाशित 'कहानी' पत्रिका कुछ समय बाद बंद हो चुकी थी। श्रीपत राय को 'कहानी का वह अधूरा सपना बार-बार उद्देलित करता रहा' था। ('कहानी की बात', 1990, का 'आत्म-निवेदन') पचास के दशक के आरंभ में कहानी में हो रहे परिवर्तनों की ओर सबसे पहला ध्यान एक कथाकार (मार्कण्डेय) का ही गया। 'कहानी' पत्रिका जनवरी 1954 में पुनर्प्रकाशित होने लगी थी। इसके पहले अंक में अनूदित कहानियां अधिक थीं। अमरकान्त की 'कम्युनिस्ट' कहानी इसी अंक में प्रकाशित हुई थी। 'कल्पना' के जनवरी-फरवरी 1954 के संयुक्तांक में निर्मल वर्मा की कहानी 'रिश्ते' प्रकाशित हुई थी। 1951 से 'कल्पना' में कई नये कहानीकारों की कहानियां प्रकाशित हो रही थीं। 'प्रतीक' और 'हंस' में भी। अक्टूबर 1951 के 'प्रतीक' में शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी मां' और मार्च 1952 में 'बरगद का पेड़' प्रकाशित हो चुकी थी। मार्च 1952 की 'कल्पना' में मार्कण्डेय की कहानी 'गुलरा के बाबा' के बाद भी कई कहानियां प्रकाशित हुईं। 1950-51 से 1956-57 तक हिन्दी के प्रायः सभी नये कहानीकारों की नई कहानियां 'प्रतीक', 'हंस', 'कल्पना', 'कहानी' के साथ अन्य कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'कल्पना' में प्रकाशित अपने स्तंभ 'साहित्यधारा' में चक्रधर (मार्कण्डेय) ने मार्च 1954 में 'पाठकों की रुचि' के साथ साहित्यिक पत्रों में प्रकाशित 'कथा-साहित्य के शिल्प और वस्तु-विधान के दिनों दिन परिमार्जन' की बात कही। ('चक्रधर' की 'साहित्यधारा', 2012, पृ. 1) ठीक एक महीने बाद अप्रैल 1954 की 'कल्पना' के अपने स्तंभ 'साहित्यधारा' में चक्रधर ने लिखा - "एक लम्बे समय के बाद छोटी कहानियां फिर से अपनी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगी हैं"। उन्होंने लेखकों की उस नयी पीढ़ी की बात कही "जिसने छोटी कहानियों की वस्तु और शैली में समृद्धि की है" और यह लिखा "इधर लेखकों की एक ऐसी पांत उठ खड़ी हुई है, जो अपनी जगह पर रुचि और सामाजिक संस्कार की विभिन्नता के साथ, पाठकों में अपने ढंग से पहुंच रही है।" जुलाई 1954 की 'कल्पना' में उन्होंने 'हिन्दी में कुछ नये प्रभावशाली कथाकारों के आविर्भाव' की बात कही। दुष्यन्त कुमार ने फरवरी 1955 की 'कल्पना' में अपने लेख 'नयी कहानी : परम्परा और प्रयोग' में 'नयी कहानी' का प्रथम उल्लेखकर सबका ध्यान दिलाया। कमलेश्वर की मानें, तो 1955 के आसपास उनका, दुष्यन्त कुमार और मार्कण्डेय का नामवर सिंह से परिचय हुआ था और मजाक में यह तय

किया गया कि 'नयी कहानी' का आलोचक पैदा किया जाय। (जो मैंने जिया, 2008) और नामवर सिंह ने 'चार-पांच पन्नों का छोटा-सा लेख' लिखा जो 1957 के 'कहानी' नव वर्षांक में प्रकाशित हुआ। आरंभ में ही उन्होंने यह प्रश्न किया - 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' नाम की भी कोई चीज है क्या?

कहानी पर पहले लेख 'आज की हिन्दी कहानी' (कहानी, नव वर्षांक 1957) के बारह वर्ष पहले नामवर ने छात्र-जीवन में एक कहानी लिखी थी 'कहानी की कहानी' ('क्षत्रिय मित्र', मार्च 1945)। इसके बाद उन्होंने कोई कहानी नहीं लिखी। कहानी पर लिखने के पहले उनकी पांच पुस्तकें 'बकलम खुद' (1951), 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' (1952), 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' (1954), 'छायावाद' (1955) और पृथ्वीराज रासो: भाषा और साहित्य (1956) प्रकाशित हो चुकी थीं। पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' (1957) में कहानी की कोई चर्चा नहीं है। 'कहानी' पत्रिका से पहले वे 'नयी कविता' से जुड़े थे। 'नयी कविता' के प्रवेशांक (1954) में उनकी, दो कविताएं, 'फागुनी शाम' और 'हरित फौवारों सरीखे धान' प्रकाशित हुई थीं। जनवरी 1957 के अपने लेख में उन्होंने 'नयी कहानी' न कह कर 'आज की कहानी' कहा, उस पर विचार किया। विजय मोहन सिंह ने यह सवाल किया है - "अपभ्रंश और पृथ्वीराज रासो की भाषा वाले नामवरसिंह का रूपान्तरण 'नयी कहानी' तथा 'नयी कविता' के प्रखरतम प्रवक्ता के रूप में कैसे हुआ?" ('नामवर के विमर्श', 1995, पृ. 71) विजय मोहन सिंह ने जो कारण बताये हैं, उनमें नामवर के गंभीर अध्ययन का जिक्र है। वे उन दिनों मार्क्स, एंगेल्स के साथ कॉडवेल, रॉल्फ फॉक्स, जार्ज लुकाच के साथ 'नयी समीक्षा' के आधार स्तम्भ डॉन क्रौरैनसम, क्लिंथ ब्रुक्स, आइवर विंटर्स, एलेन टेट आदि की पुस्तकें पढ़ रहे थे। 'मार्क्सवाद के गहन अध्ययन' के समानान्तर उन्होंने "आधुनिक समीक्षा और साहित्य की गहरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। यह एक लगभग चौतरफा तथा मुकम्मिल किस्म की तैयारी थी जिसने क्रमशः उनकी समीक्षा-दृष्टि तथा प्रतिमानों के निर्माण की आधार शिलाएं रखी थीं। (वही, पृष्ठ. 73)" वैचारिक-समीक्षात्मक पुस्तकों के साथ नामवर कथा साहित्य की पुस्तकों का कविता की तुलना में अधिक अध्ययन कर रहे थे। कहानी-समीक्षा में नामवर के आगमन का मुख्य श्रेय 'कहानी' और 'नयी कहानियाँ' के सम्पादक भैरव प्रसाद गुप्त को है, जिन्हें उन्होंने 'कृत कार्य कृती सम्पादक' के रूप में 'कहानी: नयी कहानी' पुस्तक समर्पित की है। 'नयी कविता' का आन्दोलन 'नयी कहानी' के समक्ष फीका पड़ने लगा था। सम्पादक भैरव प्रसाद गुप्त, कहानीकार मोहन राकेश

और कमलेश्वर और आलोचक नामवर सिंह ने 'नयी कहानी' को प्रतिष्ठित किया। 1955 में 'नयी कहानी' की जो चर्चा आरंभ हुई थी, दो वर्ष बाद दिसम्बर 1957 में इलाहाबाद के 'साहित्यकार सम्मेलन' में इसे लगभग स्वीकृति मिल गयी। इस सम्मेलन में नामवर सिंह की भी सक्रिय भूमिका थी। सम्मेलन का एक सत्र कहानी पर केन्द्रित था, जिसमें मोहन राकेश, शिवप्रसाद सिंह और हरिशंकर परसाई ने अपने लेख के आरंभ में ही 'नयी कहानी' का प्रयोग किया, 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' की बात की। परसाई के लेख की पहली पंक्ति थी - "आज की कहानी को 'नयी कविता' के ढंग पर 'नयी कहानी' कहने लगे हैं।" ('नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', 1973, पृष्ठ 56)

'कहानी' पत्रिका में 1955 से कहानी पर चर्चा आरंभ हो चुकी थी, 1955 में 'कहानी' के दो विशेषांक प्रकाशित हुए थे - 400 पृष्ठों का जनवरी का नव वर्षांक और 150 पृष्ठों का जुलाई विशेषांक। नवम्बर 1955 के सम्पादकीय 'कहानी की बात' में यह सूचना दी गयी थी कि अगले विशेषांक में कहानियों के अतिरिक्त "आज की हिन्दी कहानी पर श्रीपत राय का लेख तथा हिन्दी कहानी की समस्याओं पर प्रकाशचन्द्र गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा नामवर सिंह के लेख भी विशेषांक में होंगे।" 'कहानी' पत्रिका के पुनर्प्रकाशन के बाद 1955 में 'रूप और शिल्प की नवीनता' कहानी में होने वाले 'आन्तरिक परिवर्तनों', 'कथानक का हास' जीवन के लघु प्रसंग, प्रसंग-खंड, मूड, विचार, विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र के कथानक बनने, 'मार्मिक प्रसंग-खंड की संवेदनीयता', लोक-जीवन का चित्रण, 'सामाजिक संबंधों की समझ', प्रतीक और भाषा पर विचार किया। अपने इस लेख में उन्होंने पांच नये कहानीकारों-मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र और शिवप्रसाद सिंह का नामोल्लेख किया। इस लेख में किसी कहानी की चर्चा उन्होंने नहीं की।

नामवर ने 1955 से 1965 के आरंभ तक कहानी और नयी कहानी पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। कहानी को छोड़कर किसी अन्य विधा पर उनका ऐसा निरन्तर लेखन नहीं है। इस एक दशक में उन्होंने आरंभ में 'कहानी' पत्रिका में चार निबंध लिखे, जिनमें आरंभिक तीन निबंध पत्रिका के नववर्षांक 1957, 1958 और 1959 में प्रकाशित हुए। एक वर्ष में एक निबंध लिखने में उनकी तैयारी, अद्भुत थी। 1959 में उनके दो निबंध 'कहानी' में प्रकाशित हुए थे - नव वर्षांक में 'नयी कहानी : नये प्रश्न' और जुलाई में 'आज की हिन्दी कहानी : ऐतिहासिक नवीनता और उपलब्धियाँ'। 'कहानी' पत्रिका में प्रकाशित चार निबंधों में से दूसरे और तीसरे निबंध के शीर्षक में 'नयी कहानी' है - 'नयी कहानी : सफलता और

सार्थकता' और 'नयी कहानी : नये प्रश्न'। पहले और चौथे निबंध में शीर्षक 'आज की हिन्दी कहानी' और 'आज की हिन्दी कहानी : ऐतिहासिक नवीनता और उपलब्धियां' 1959 तक 'नयी कहानी' एस्टैब्लिश नहीं हुई थी। 1959 में 'कहानी' पत्रिका में जो एक लेखमाला आरंभ की गयी थी, उसका शीर्षक था 'आज की कहानी'। इस लेख माला का उद्देश्य उस समय की हिन्दी कहानियों की विभिन्न धाराओं तथा उनकी उपलब्धियों पर कहानीकारों के द्वारा प्रकाश डालना था। इस लेखमाला की शुरुआत के पीछे नामवर के निबंधों की निश्चित रूप से एक भूमिका थी। फरवरी 1959 से आरंभ इस लेखमाला का पहला लेख मार्कण्डेय का था। अपने आरंभिक चार निबंधों के बाद नामवर ने निर्मल वर्मा के कहानी-संग्रह 'परिन्दे' (1959) की समीक्षा आकाशवाणी, इलाहाबाद से की और उनका उस पर लेख 'कृति' पत्रिका के अक्टूबर 1960 के अंक में प्रकाशित हुआ क्रमशः 'नयी कहानी की पहली कृति: परिन्दे' और 'कालातीत कला-दृष्टि' शीर्षक से।

'कहानी: नयी कहानी' में संकलित 20 निबंधों में से चार 'कहानी' में, एक 'कृति' में, चौदह 'नई कहानियां' में और अन्तिम माया' में प्रकाशित हुए थे। 'नई कहानियां' का प्रकाशन मई 1960 से आरंभ हुआ था। 'आपका पृष्ठ' में 'नई कहानियां' के प्रकाशन पर शुभकामनाओं की वर्षा हुई थी। नामवर ने पत्रिका के प्रवेशांक के अवसर पर अपने पत्र में यह लिखा- "आगे जो भी कहानी - चर्चा या पुस्तक-समीक्षा चलायी जाय उसका रूप दूसरा हो। कहानी जैसे लोकप्रिय साहित्य-रूप की चर्चा में पेशेवर आलोचकों और कहानीकारों से अधिक साधारण पाठकों के विचार उपयोगी हो सकते हैं।" 'नई कहानियां' के सम्पादक भैरवप्रसाद गुप्त थे। भैरवप्रसाद गुप्त ने 31.3.1960 के सम्पादकीय ('पहला पृष्ठ') में लिखा - "इस प्रश्न का उत्तर देने की हमें कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि 'अब नई कहानियां' क्यों?" 'नयी कहानी' को एस्टैब्लिश करने में नामवर की प्रमुख भूमिका थी। 'परिन्दे' को वे 'नयी कहानी की पहली कृति' घोषित कर चुके थे। माहौल नयी कहानी के पक्ष में था। 'नई कहानियां' नयी कहानी का मंच बन गया। जनवरी 1961 से 'नई कहानियां' में नामवर का स्तंभ शुरु हुआ - 'हाशिए पर'। इसके पहले के दो स्तंभों के लेखक कहानीकार थे। 'बकलम खुद' मोहन राकेश का स्तम्भ था और 'हमारे कहानीकार' रेणु का। 'हाशिए पर' स्तम्भ की शुरुआत पर भैरव प्रसाद गुप्त ने लिखा - "इस अंक में आप एक नया स्तम्भ पाएँगे - 'हाशिए पर', जिसके लेखक हैं - नामवर सिंह। आप कोई रचना पढ़ते समय पुस्तक या पत्रिका के पृष्ठ के हाशिए पर अपने कुछ विचार लिख देते हैं - ये आपके अपने विचार होते हैं, जो

आपकी पुस्तक के अंग बनकर आपके पुस्तकालय में दबे हुए पड़े रहते हैं। नामवर जी कहानी-साहित्य के विषय में अपने कुछ ऐसे ही विचारों से आपको परिचित कराएंगे। लेकिन पाठकों से उनकी एक माँग भी है, और वह हमारे देखने में बिलकुल उचित है, कि हमारे पाठक भी अपने ऐसे विचारों को लेकर सामने आएँ। विचारों का आदान-प्रदान हो, विचारों की कड़ियाँ जुड़ें, तब तो कोई खेल शुरू हो। कोई भी खेल हो, अकेले कोई क्या खेलेगा, और अगर कोई खेले भी, तो उसमें वह 'मजा' कहाँ? विश्वास है कि हमारे पाठक नामवर जी को उदासीन न होने देंगे और 'कोई' क्या, कहानीकारों और पाठकों का एक दल ही उनके साथ यह 'खेल' खेलेगा और हम सब मिलकर कहानी - पाठ की प्रक्रिया का मरहला पार करने का प्रयत्न करेंगे। यह 'खेल' आखिर कोई मामूली 'खेल' तो है नहीं। और फिर वह समय भी अब आ गया है जब यह 'खेल' मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि अपने यहां कहानी को और गति देने के लिए भी आवश्यक हो गया है। कृपाकर अपने विचार हमें लिखें या सीधे नामवर जी को।"

इसके बाद कहानी विधा केन्द्र में आ गयी और 'हाशिए पर' के निबंधों के साथ नामवर भी कथालोचना के केन्द्र में आ गए। उस समय से अब तक हिन्दी कथालोचना पर जब भी कोई चर्चा होती है, नामवर का उल्लेख जरूरी है। कहानी पर लेख लिखने में उन्हें जितना समय लगा, उतना पुस्तक लिखने में नहीं "एक लेख लिखने में पुस्तक लिखने से ज्यादा समय लगता है, यह नहीं मालूम लोगों को।" (बात बात में बात, 2006, पृष्ठ 12) 'छायावाद' पुस्तक उन्होंने दस दिन में लिखी थी और 'कविता के नये प्रतिमान' इक्कीस दिनों में कहानी। संबंधी नामवर के सभी निबंध शीतयुद्ध के दौर के हैं। बाद में कई साक्षात्कारों में आगे भी कहानी पर आलोचना लिखने का उन्होंने अपना इरादा बताया है, पर 'इरादे बांधता हूँ, छोड़ता हूँ, तोड़ देता हूँ, कहीं ऐसा न हो जाए, कहीं वैसा न हो जाए।' 1965 के बाद पन्द्रह वर्ष तक नामवर ने कहानी पर कहीं विचार नहीं किया है। 1981 से अब तक उन्होंने जो कई इण्टरव्यू दिए हैं, उनमें से लगभग बारह में स्वतंत्र रूप से, संक्षिप्त ही सही, मन्नु भंडारी, काशीनाथ सिंह और कैलाश वनवासी की कहानियों की चर्चा की है। लगभग पचास वर्ष से कहानी पर सुचिन्तित-सुव्यवस्थित ढंग से न लिखने के बाद भी नामवर कहानी के विगत नहीं, वर्तमान आलोचक के रूप में भी 'प्रसिद्ध' हैं। पिछले कई वर्षों से दूरदर्शन के प्रातःकालीन साप्ताहिक कार्यक्रम - सुबह सवेरे और 'सबद निरन्तर' में उन्होंने जिन पुस्तकों की चर्चा की है, उनमें कई नये-पुराने कहानीकारों के कहानी-संग्रह भी हैं। यहां वे अधिक 'उदार' हैं। अब वे

ज्योति कुमारी की कहानियों के प्रशंसक हैं। कथा-समीक्षक के रूप में 'कहानी: नयी कहानी' में नामवर का महत्व है। इस पुस्तक की भूमिका के अंत में उन्होंने एक कवि का कथन उद्धृत किया है- 'मैं वे पंख हूँ, जिनके सहारे, वे उड़ते हैं।' (हेवन मी दे फ्लाई आइ एम देअर विंग्स) क्या सचमुच नामवर हिन्दी कहानीकारों की उड़ानों के पंख थे? पंख हैं?

हिन्दी कथालोचना में नामवर के आगमन तक नये कहानीकारों के कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। जिन कुछ कहानीकारों के संग्रह 1960 और उसके बाद आए, उन सबकी कई कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। रेणु की कहानियाँ 1950 के पहले से प्रकाशित हो रही थीं। 'रसप्रिया' कहानी 1955 में प्रकाशित हुई थी और 'तीसरी कसम' 1956 में। 1959 में 'तुमरी' कहानी-संग्रह आया जिसमें 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम', 'लाल पान की बेगम', 'पंचलाइट' और 'ठेस' जैसी कहानियाँ थीं। 1960 में निर्मल वर्मा का परिन्दे, कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसमें सात कहानियाँ - 'परिन्दे', 'डायरी का खेल', 'माया का मर्म', 'तीसरा गवाह', 'अंधेरे में', 'पिक्चर पोस्टकार्ड' और 'सितम्बर की एक शाम' शामिल थी। 'परिन्दे' कहानी 1957 में 'हंस' के अर्द्धवार्षिक संकलन में प्रकाशित हुई थी। मार्कण्डेय के चार कहानी संग्रह 1954 से 1958 प्रकाशित हुए थे - 'पान फूल' (1954), 'महुए का पेड़' (1955), 'हंसा जाई अकेला' (1957) और 'भूदान' (1958), शेखर जोशी ने 1953 में 'दाज्यू' कहानी लिखी थी, जिसे 'अशक' ने वार्षिक संकलन 'संकेत' (1956) में पुनर्प्रकाशित किया। 'कोसी का घटवार' संग्रह 1958 में आ चुका था। इस संकलन की दस कहानियों में 'दाज्यू', 'कविप्रिया', 'कोसी का घटवार', 'बदबू' और 'किं करोमि जनार्दन' भी है। निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' से पहले अमरकान्त का कहानी-संग्रह 'जिन्दगी और जोंक' (1958) आ चुका था। 'जिन्दगी और जोंक' तथा 'दोपहर का भोजन' कहानी 1955 में प्रकाशित हुई थी और 'डिप्टी कलक्टर' 1956 में। कमलेश्वर के दो आरंभिक कहानी संग्रह 'राजा निरबंसिया' और 'कस्बे का आदमी' का प्रकाशन वर्ष 1957 है। मोहन राकेश ने अपने पहले कहानी-संग्रह 'इन्सान के खंडहर' (1950) को महत्व नहीं दिया है। उनके दो कहानी-संग्रह 'नये बादल' (1957) और 'जानवर और जानवर' (1958) महत्वपूर्ण हैं। पचास के दशक में राजेन्द्र यादव के चार कहानी-संग्रह आ चुके थे - 'देवताओं की मूर्तियाँ' (1952), 'खेल खिलौने' (1954), 'जहां लक्ष्मी कैद है' (1957) और 'अभिमन्यु की आत्महत्या' (1959), शिवप्रसाद सिंह के दो कहानी संग्रह 'आर पार की माला' और 'कर्मनाशा की हार'

1955 और 1958 में प्रकाशित हुए थे। मनु भंडारी का कहानी-संग्रह 'मैं हार गयी' 1957 में छप चुका था। राजकुमार की 'हुस्ना बीबी और कहानियाँ' का प्रकाशन वर्ष 1958 है। यह सूची और बढ़ायी जा सकती है, पर इसे लिखने का अर्थ यह है कि नामवर जब कथालोचना पर काम कर रहे थे, प्रायः सभी नये कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं और अनेक के कहानी-संग्रह भी सामने थे। 'परिन्दे' के पहले सभी प्रमुख नये कहानीकारों के संग्रह छप चुके थे, पर नामवर ने समीक्षा और विचार के लिए 'परिन्दे' का ही चयन किया। 'पसन्द अपनी-अपनी, ख्याल अपना-अपना'।

नामवर का ध्यान कहानी में 'नयेपन' पर था। उन्होंने सर्वप्रथम कहानियों के 'रूप और शिल्प की नवीनता' की बात की। उनके अनुसार नये साहित्य रूप में नया रूप-शिल्प तुरत नहीं आता। कहानी विधा कविता की तुलना में बेहद नयी थी। उसमें वे 'किसी मौलिक परिवर्तन की न तो संभावना' देख रहे थे और 'न आवश्यकता ही'। (कहानी : नयी कहानी, 1999, पृ. 13) कहानी के रूप-विस्तार पर उनकी नज़र थी। 'इस बीच कहानी का रूप इतना विस्तृत हो गया है कि बहुत से निबंध, स्केच और रिपोर्टाज भी कहानी की सीमा में घुसे हैं' (वही, पृ. 14) क्यों एक विशेष समय में किसी पर गद्य-रूप में अन्य गद्य-रूपों का अन्तर्लयन होता है ? ये जिन सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से संभव होते हैं, नामवर ने उन पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कहानी में हो रहे 'आन्तरिक परिवर्तनों' के साथ 'कथानक' में होने वाले 'मौलिक परिवर्तन' की बात नहीं। 'कथानक' के संबंध में अपने पहले लेख में उन्होंने जो कहा, उसे बाद में अपने ढंग से विकसित पुराने कहानीकार जहां 'छोटी-सी बात' को 'अपर्याप्त' मानते थे, वहां नये कहानीकारों के लिए यह पर्याप्त थी। छोटी-सी बात के भीतर से ही नये कहानीकारों ने 'कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्तों का विकास किया है।' (वही, पृ. 14) अब नामवर के अनुसार कथानक 'छोटी सी बात' के भीतर था, अपने पहले लेख में नामवर ने नये कहानीकारों में 'बातचीत की उत्कृष्ट कला' देखी और 'भाषा की बारीकियाँ' भी। किसी एक कहानी के उदाहरण से उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया। क्या 1957 के इस लेख के पूर्व लिखी गयी नयी कहानियों की यही पहचान थी ? हिन्दी कहानी में उनके अनुसार यह 'प्रवृत्ति बहुत कम' थी। जो 'प्रवृत्ति बहुत कम' थी, उसे वे रेखांकित कर रहे थे। बड़ी प्रवृत्ति क्या थी ? कथानक-शिल्प की ओर उन्होंने नये कहानीकारों का कम झुकाव देखा और यह माना कि 'बहुत-सी श्रेष्ठ कहानियों' का कथानक 'चढ़ाव-उतारहीन एकदम सपाट' है। कहानी-संबंधी आरंभिक लेखों में नामवर ने

एक 'हिचक' दिखाई देती है। "मैं अब तक मुख्यतः काव्य का पाठक रहा हूँ कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अन्तर्निहित सत्य को समझने तथा व्यक्त करने की 'भाषा' भी अभी तक तय नहीं कर पाया हूँ"। (वही, पृ. 30)

नामवर ने अपने पहले लेख में 'जोरदार कहानी' के लिए 'वास्तविक घटना-प्रसंग' जरूरी माना। यशपाल को इसका 'प्रतिनिधि कथाकार' मानते हुए उन्होंने यह खेद प्रकट किया कि इस ओर ध्यान देने वाले 'बहुत कम' कहानीकार हैं। राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश को वे केवल 'पैनी सामाजिक दृष्टि वाले' ही नहीं 'जागरूक चिन्तक' भी कह रहे थे। उन्होंने ऐसे कथाकारों की सही पहचान की, जिसकी कहानियों में उनका अंचल या जनपद उपस्थित था। जिन छह नये कहानीकारों का उन्होंने नामोल्लेख किया, उनमें से चार-रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र और शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ लोक-जीवन से जुड़ी थीं। उनका ध्यान कहानीकारों की 'लोकजीवन के अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक संबंधों की समझ' पर था, जिसके बिना कहानी 'प्रौढ़' नहीं हो सकती थी। प्रतीकवादी कहानियों में उन्होंने अधिक संभावनाएं नहीं देखीं और कहानीकारों की भाषा की प्रशंसा की। कृश्नचन्द्र की कहानियों के हिन्दी अनुवादों से जो एक लहर फैली थी, उसके क्षीण होने को उन्होंने अच्छा कहा। इस पहले लेख में नामवर ने "हिन्दी कविता की अपेक्षा कहानी में स्वस्थ सामाजिक शक्ति अधिक" देखी और यह लिखा - "आज उपन्यास की तरह कहानी सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक शस्त्र का काम कर रही है।" (वही, पृ. 17)

नामवर का दूसरा लेख 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' (नववर्षाक, 1958, 'कहानी') पहली बार हिन्दी कथालोचना को 'एक नया स्तर' प्रदान करता है। इस लेख में पहली बार उन्होंने 'कहानीपन' की चर्चा की। पहले लेख में वे 'चढ़ाव-उतारहीन एकदम सपाट' कथानक की प्रशंसा कर रहे थे और ऐसी कहानियों को चेखव से जोड़ रहे थे। दूसरे लेख में 'कहानीपन' की बात करने के पूर्व हिन्दी आलोचना में कहानी की उपेक्षा उन्हें नागवार लगी थी। कहानी को सामान्य, गौण या लघु विधा समझने पर उन्हें आपत्ति थी। यह जायज आपत्ति थी क्योंकि हिन्दी में प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय जैसे कहानीकार थे। हिन्दी में मोपांसा, चेखव और ओ हेनरी अजनबी नहीं थे। नामवर ने 'कथालोचना' को एक नये स्तर पर उठाने की बात की इसके लिए यह जरूरी था कि पहले की कहानी-संबंधी धारणा बदली जाय। नामवर अपने इस निबंध में कहानी की आलोचना के पक्ष में डटकर खड़े हुए। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि साहित्य के सभी रूपों में एक ही बात नहीं कही जाती। रूप की भिन्नता और विशिष्टता से वक्त में भी भिन्नता और विशिष्टता

आ जाती है। उस समय हिन्दी आलोचना में यह एक नयी दृष्टि थी। साहित्य-रूपों पर पश्चिम में गंभीर विचार हुआ था और नामवर नयी से नयी किताबों के साथ थे। त्रिलोचन ने 'पुस्तक पगी आंखें' कहा भी है। इलाहाबाद का यूनिवर्सल बुक डिपो और बनारस का ग्लोब बुक डिपो उनकी अपनी जगहें थीं। वे उस समय 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट', 'एनकाउन्टर', 'लंदन मैगजीन' आदि पत्रिकाएं न केवल पढ़ते थे। अपितु इन पत्रिकाओं में प्रकाशित नयी पुस्तकों की समीक्षाएं पढ़कर उन पुस्तकों को मंगाते भी थे। 1951 में उन्होंने इलाहाबाद से लुकाच की 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म' खरीदी थी। 'कहानी' पर लिखते समय अंग्रेजी पुस्तकें खरीदने का और उन्हें पढ़ने-गुनने का यह सिलसिला लम्बे समय तक बना रहा। ग्राम्शी का पहला संकलन 'मॉर्डन प्रिंस एंड अदर राइटिंग्स' 1957 में प्रकाशित हुआ था और उसी समय नेशनल लायब्रेरी, कलकत्ता से वे यह पुस्तक लाए थे। 'कहानी: नयी कहानी' की भूमिका में उन्होंने जिस 'सहयोगी प्रायस' की बात कही है, वह उनकी उद्भावना न होकर एफ.आर. लीविस की है और 1953 के आस पास उन्होंने लीविस की यह किताब खरीदी थी - 'कॉमन परस्यूट'।

नामवर ने विभिन्न साहित्य रूपों में 'वास्तविकता के विभिन्न पहलुओं' को दिखाये जाने की बात कही। उनके अनुसार साहित्य रूप 'जीवन को समझने के भिन्न भिन्न माध्यम' हैं। कहानी के जन्म को उन्होंने 'ऐतिहासिक आवश्यकता' से जोड़ा। ऐसे समय में 'कहानी की ऐतिहासिक भूमिका की मांग' जायज थी। कहानी की सार्थकता की परीक्षा उस समय की परिस्थिति में व्यापक संदर्भ में किये जाने पर नामवर ने बल दिया। अभी तक गंभीरतापूर्वक इस पर विचार नहीं किया गया है कि पचास के दशक में यह विधा अन्य विधाओं की तुलना में अचानक कैसे महत्वपूर्ण हो गयी? क्या स्वतंत्रता के बाद समय के यथार्थ को, जीवन की वास्तविकताओं को सामने रखने के लिए यह साहित्य रूप ही प्रमुख रह गया था? इसे देखने-समझने का एक भिन्न और नयी दृष्टि का होना भी जरूरी था क्योंकि अभी तक कहानी को समझने की एक सतही और कामचलाऊ सामान्य धारणा थी, जिसमें कहानी को खंडित कर, विभक्त कर, विविध अवयवों के द्वारा देखा जाता था। नामवर ने कथानक, चरित्र, वातावरण, विषयवस्तु, उद्देश्य जैसी विभाजक दृष्टि को सही माना। इसी विभाजक दृष्टि के कारण कहानी या तो चरित्र प्रधान होती थी या घटना, वातावरण और भाव प्रधान। नामवर के लिए कहानी-संबंधी ऐसी आलोचना "वैसी ही है, जैसे किसी भाषा का परिचय उसकी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण आदि परिभाषाओं में दिया जाये।" (वही, पृ. 20) वे कहानी की इस

‘विभक्त धारणा’ के खिलाफ थे। वे कहानी को ‘अनुभूति की एक इकाई के रूप में’ देखने की बात कर रहे थे। इस रूप में न देखने के कारण ही कहानी का सत्य नहीं समझा जाता है और न कहानी का ‘कहानीपन’। उन्होंने कहानी में वस्तु-सत्य के स्थान पर भाव-सत्य को महत्व दिया, जिससे कहानी का रूप बदलता है। अब वे ‘कहानीपन’ पर बल दे रहे थे। “कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छंद मुक्त हो जाये, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्य रचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है।” (वही, पृ. 23) कहानी कहने को मनुष्य की प्राचीन कलावृत्ति मानने के साथ ही इसकी रक्षा को भी उन्होंने ‘एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य’ माना। ‘इतिहास और आलोचना’ लेखक में कुछ समय पहले आलोचना की अराजकता को दूर करने के लिए ही सही, वे आलोचना-कर्म को ‘एक प्रकार प्रकृत्या सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य’ कहने के साथ ‘व्यापक रूप से सामूहिक तथा सहयोगी चिन्तन’ (‘इतिहास और आलोचना’, 1962, पृ. 204) की अपेक्षा उससे कर रहे थे।

नामवर कहानी की आलोचना में कहानीपन, ‘एकान्विति’, सार्थकता, सोद्देश्यता, संकेत, लघुता, जीवन-खंड, मार्मिक प्रसंग, वृहद और खंडगत अन्तर्विरोध, विडम्बना, अर्थगर्भत्व को महत्व दे रहे थे। एडगर एलने पो ने कहानी में जिसे ‘एकान्विति’ कहा था, उसमें उन्होंने ‘अनेक अर्थों की संभावनाएं’ देखीं और कहानी की ‘आन्तरिक एकता’ को मात्र ‘रूप-गठन’ तक सीमित न मानकर कथा-वस्तु से जोड़ा। “जिस प्रकार कविता में अर्थ-व्यंजना अथवा वस्तु-व्यंजना से भिन्न लय की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कहानी में भी वस्तु-व्यंजना से भिन्न कहानीपन की कल्पना करना खतरनाक है।” (वही, पृ. 24) कहानी की अर्थवत्ता या सार्थकता से उन्होंने कहानी की सफलता को जोड़ा। वे कहानी विधा को नये सिरे से विवेचित-विश्लेषित कर रहे थे। उनके पहले कथालोचना में ऐसा कार्य नहीं हुआ था। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की पुस्तक ‘कहानी का रचना-विधान’ का प्रकाशन नामवर के लेखों से पूर्व 1956 में हुआ था, वह कहानी पर ‘व्यवस्थित और उल्लेखनीय किताब’ थी, पर वहां उस दृष्टि का अभाव था, जो नामवर के लेखों में दिखाई पड़ती है। ‘लघु मानव’ की बात साही ने कही थी, नामवर ने कहानी में लघुता को केन्द्र में रखा। कहानी में ‘सार्थकता’ से उनका अभिप्राय छोटी-से-छोटी घटना में भी कहानी का अर्थ खोजना या उसे अर्थ प्रदान करना था। नयी कविता में ‘व्यक्ति’ और ‘क्षण’ का महत्व था। महत्वपूर्ण नदी नहीं थी, ‘नदी के द्वीप’ था।

स्वतंत्र भारत जिस पूंजीवाद के मार्ग पर चल पड़ा था, जो विदेशी प्रभाव पड़ रहा था, उसमें बड़ी बात की जगह छोटी बात भी महत्वपूर्ण हो उठी थी। नामवर ने कहानी में जीवन के एक टुकड़े को महत्व देने की बात कही और यह लिखा कि जीवन के एक टुकड़े में भी बड़ी बात कही जा सकती है। पचास और साठ के दशक में समाजवादी पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस यों ही नहीं टूटी। नामवर कहानी में संकेत, लघुता और जीवन के एक टुकड़े को महत्व दे रहे थे। वे कहानी को नये सिरे से परिभाषित कर उसका एक शास्त्र (कथा शास्त्र) निर्मित करने का प्रयत्न भी कर रहे थे - “कहानी जीवन के टुकड़े में निहित ‘अन्तर्विरोध’, ‘द्वन्द्व’, ‘संक्रान्ति’ अथवा ‘क्राइसिस’ को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध की वृहद अन्तर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे जाता है।” (वही, पृ. 25) किसी भी जागरूक कहानीकार के लिए उन्होंने यह आवश्यक माना कि यह ‘जीवन के प्रत्येक प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध’ को पकड़े। ‘खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़’ से ही अच्छी कहानियों के कथानक में नाटकीय मोड़ आता है। यह पकड़ ‘चरित्र को वस्तु-स्थिति के साथ संगर्ष करते दिखलाती है और कभी स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा दर्शाती है या फिर उसके चिंतन और कार्य के बीच विडम्बना को चित्रित करती है।’ (वही) उदाहरण के रूप में ‘चीफ की दावत’ कहानी थी। इस कहानी में उन्होंने ‘अर्थवत्ता के मध्ययुगीन रूप का भी उल्लेख करते हैं ‘कहानी’ जैसी आधुनिक विधा पर विचार करते हुए कहानी की अनेकार्थता और उसके ‘अर्थगर्भत्व’ को व मध्ययुगीन रूपों से ही नहीं, काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा ‘मुख्यार्थ के भीतर से अर्थ की व्यंजना’ के जरिए भी स्पष्ट करते हैं। नामवर ने अपने इस दूसरे लेख में प्रत्येक घटना में अन्तर्विरोध को महत्व न देकर ‘युग के मुख्य अन्तर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करने’ को महत्व दिया। इस समय तक उनके लिए सामाजिक अन्तर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करने को महत्व दिया। इस समय तक उनके लिए सामाजिक अन्तर्विरोध महत्वपूर्ण था। वे सार्थक घटना को ‘युग के मुख्य अन्तर्विरोध के प्रवाह में’ देख रहे थे। यह बड़ी बात थी क्योंकि उनके लिए इस समय तक ‘युग’ महत्वपूर्ण था। सुरेन्द्र चौधरी ने इसे ‘समकालीन इतिहास की लाक्षणिकता के प्रति एक जागरूक आलोचक का कन्सर्न’ कहा है। (हिन्दी कहानी: रचना और परिस्थिति, 2009, पृ. 129) उस समय यह अन्तर्विरोध ‘सामान्य’ और ‘तीखा’ नहीं था। बाद में सुरेन्द्र चौधरी ने ‘गतिरोध और अग्रगामी अन्तर्विरोध’ की बात कही। नामवर ने बाद में भी सामाजिक अन्तर्विरोध

के बदलते रूपों पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया। इस दूसरे लेख की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने 'नव-जीवन के प्रतीक गांवों की ओर' दृष्टि दौड़ाने वाले कहानीकारों की चर्चा की। कहानी की ग्रामोन्मुखता के संबंध में उन्होंने लिखा- "संभवतः शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में जीवन और सौन्दर्य को न पाकर ही महत्वाकांक्षी कहानीकारों ने गांवों की राह ली।" (कहानी: नयी कहानी, वही, पृ. 29) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कहानियों से गांव लगभग गायब हो चुके थे। कहानी में मध्यवर्ग की सशक्त उपस्थिति हो चुकी थी। नामवर ने मध्यवर्गीय जीवन की कहानियों में 'जीवन के स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की उर्जस्वल शक्ति का अभाव' (वही) देखा। उस समय 1958 में वे रांगेय राघव की गदल, मार्कण्डेय के गुलरा के बाबा और हंसा जाई अकेला के हंसा, शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'कर्मनाशा की हार' ने भैरों पांडे को मात्र चरित्र न मानकर 'आज की ऐतिहासिक शक्ति' के प्रतीक कह रहे थे। ऐतिहासिक शक्ति के इन प्रतीकों को थोड़ी ही दिनों बाद भुला दिया गया। मित्र त्रयी (कमलेश्वर राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश) की कहानियों का दूर-दूर तक गांवों से संबंध नहीं था। नामवर ने भी उन कहानीकारों पर, जिन्हें 'ग्राम कथाकार' कहा गया था, बाद में ध्यान नहीं दिया। 1958 तक वे नयी कहानी को केवल कहानी-कला की विशेषताओं से नहीं देख रहे थे। 'सम्पूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के संदर्भ में देखने की आवश्यकता' पर बल दे रहे थे। यह कहानी-समीक्षा की एक व्यापक और सुसंगत दृष्टि थी। कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी कहानी व्यापक जीवन से जुड़ी रही है। लुकाच ने 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म' में 'कलात्मक सौन्दर्य का प्रतिमान' जीवन को माना है। आलोचक का यह दायित्व है कि वह उन रचनाओं को केन्द्र में रखकर, जिनमें व्यापक जीवन है, सीमित जीवन की कहानियों से अलग कर अपनी आलोचना में भी जीवन को गरिमा प्रदान करे। नामवर की कथालोचना क्या सदैव व्यापक जीवन वाली कहानियों के साथ चल सकी? क्या उन्होंने 'कहानी समीक्षा के संतुलित प्रतिमान' तैयार किए?

उनकी कथालोचना पर क्रमवार (वर्षवार) विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि 'परिन्दे' को लेकर उन्होंने जो लिखा, वह किंचित रूप में ही सही, उनके पूर्व के निबंधों में दिखाई पड़ता है। अपने आरंभिक दो निबंधों में निर्मल वर्मा की 'कहानियों पर उनका ध्यान नहीं था। अपने तीसरे निबंध 'नयी कहानी : नये प्रश्न' ('कहानी' नववर्षांक, 1959) में उन्होंने नये कहानीकारों में निर्मल की कहानियों पर अधिक विचार किया। अपने इस लेख में वे 'नयी कविता के लिए बदनाम शब्दों' (अन्वेषण, प्रयोग नयी संवेदना, सांकेतिका, सम्प्रेषणीयता, जटिलता, दुरुहता, बिम्ब,

प्रतीक आदि) 'को कहानी में भी प्रयुक्त होते देखते हैं और यह प्रश्न करते हैं "क्या कहानी पर भी नयी कविता हावी हो रही है?"' (वही, पृ. 31) आलोचना पर जब नयी आलोचना (न्यू क्रिटिसिज्म) हावी हो रही हो, तो कहानी पर नयी कविता कैसे हावी नहीं होती? प्रश्न साहित्य रूपों का नहीं, उस समय की पहचान का है जो 'साहित्य की पहचान' के लिए ही नहीं, आलोचना की पहचान के लिए भी जरूरी है। नामवर ने कहानी के तीन दौरों की बात की है पहले दौर में वह कही - सुनी जाती थी, दूसरे दौर में लिखी-पढ़ी जाने लगी और तीसरा दौर समझने-समझाने का है। कहानी में 'सम्प्रेषणीयता' का प्रश्न पहले नहीं उठा था। सम्प्रेषणीयता की कठिनाई को 'गहरे सांस्कृतिक संकट के लक्षण' के रूप में देखना कथालोचना का एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करना था। जहां तक कहानी में 'आधारभूत विचार' का प्रश्न है, अगर वह पाठकों की पकड़ में नहीं आता, तो इसका एक मुख्य कारण कहानी में संकेत और प्रतीक की प्रमुखता है। सांकेतिकता को 'दूरादृष्ट' और 'हठाकृष्ट' मानने के बाद भी नामवर इसे नयी चीज नहीं मानते। पहले के कहानीकार भी इसे महत्व देते थे, पर नये कहानीकार इसका 'अक्सर सहारा' लेते हैं। कहानी में वे इसे किसी एक स्थल पर न देखकर अनेक स्थलों पर देखते हैं - एक दूसरे से जुड़े 'देह में जैसे रक्त अथवा प्राण' नयी कहानी के समूचे रूप-गठन (स्ट्रक्चर) और शब्द-गठन (टेक्सचर) को उन्होंने सांकेतिक मानना और नयी कहानी को 'प्रभाव की सम्पूर्ण अन्विति को सांकेतिक बनाने' का श्रेय दिया। नये कहानीकारों की दृष्टि 'कथानक' और 'चरित्र' पर न रहकर 'वातावरण' पर थी, जो उनकी कहानियों का 'अलंकरण नहीं, बल्कि अन्तःकरण' है। वे नये कहानीकारों में कथानक और चरित्र की तुलना में वातावरण, पर अधिक ध्यान देने के कारणों का खुलासा नहीं करते और 'बिम्बों द्वारा निर्मित वातावरण' पर विचार करते हैं। नयी कविता में जिस प्रकार बिम्बों का महत्व है, उसी प्रकार नये कहानीकार बिम्बों की ओर क्यों आकर्षित हुए? 'कहानी में बिम्ब-विधान और वातावरण का सार्थक' प्रयोगकर्ता उन्होंने निर्मल को माना, राकेश, यादव, शेखर जोशी और शिवप्रसाद सिंह की कहानियां भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत की। नयी कहानी और नयी कविता में बिम्बों की इस प्रधानता के कारणों पर उनका ध्यान नहीं गया। क्या इसका स्वतंत्र भारत के बिम्ब-निर्माण से कोई संबंध था? पचास के दशक में जिस भारत का बिम्ब-निर्माण हो रहा था, वह पहले के भारत से भिन्न था। स्वातंत्र्य-पूर्व हिन्दी कविता और हिन्दी कहानी में ('छायावाद' को छोड़कर) नये बिम्बों का निर्माण कम था। कहानीकारों के नये बिम्बों को नामवर 'कहानीकारों के विकसित ऐन्द्रिय

बोध' और 'सजीव मार्मिक वातावरण' को कहानीकार की संवेदनाशीलता से जोड़ रहे थे। यह कहानीकार की आवश्यक शर्तें नहीं हो सकती। कवियों के लिए ऐन्द्रियबोध और संवेदन पक्ष का होना जरूरी है। कहानियों के लिए विचार-पक्ष का। स्वाभाविक था इन दृष्टियों से निर्मल वर्मा नामवर को कहानीकारों में 'सबसे अधिक प्रभावशाली' लगे 'परिन्दे' और 'दहलीज' कहानी उन्होंने उदाहरण स्वरूप रखी। 'परिन्दे' को 'नयी कहानी की पहली कृति' घोषित करने के पूर्व अपने तीसरे निबंध में उन्होंने नये कहानीकारों में इन दो गुणों-वातावरण और बिम्ब-निर्माण के कारण निर्मल की प्रशंसा की - "ऐसे ही सजीव बिम्बों द्वारा ही निर्मल की कहानियां मनु में वे संवेदनाएं जगा जाती हैं, जिन तक दूसरे कथाकारों के चरित्र और कथानक भी कभी-कभी नहीं पहुंच पाते।" (वही, पृ. 34) शब्द, शब्द-गठन, शब्द-विन्यास कविता में प्रमुख होते हैं। 'छायावाद' में नामवर ने 'रूप विन्यास' और 'पद-विन्यास' पर स्वतंत्र रूप से विचार किया था। 'रूप-विन्यास' को उन्होंने 'आन्तरिक सौन्दर्य-भावना का परिणाम' ('छायावाद'; 1979, पृ. 93) कहा था और 'शब्द-समूह' को 'रूप-विन्यास का मूल धन' (वही, पृ. 109) अब वे अपने तीसरे निबंध में कहानी के रूप-गठन और शब्द गठन पर विचार कर रहे थे। कविता की आलोचना में जो 'विन्यास' था, वह कहानी की आलोचना में 'गठन' हो गया। मात्र शब्द-भेद! अब वे 'टेक्स्चर' के कारण निर्मल की कहानियों की प्रशंसा कर रहे थे - "कहानी में वाक्यों की श्रृंखला इतनी लयबद्ध चलती है कि सम्पूर्ण विन्यास अनजाने ही मन की संगीत को लहरों पर आरोह-अवरोह के साथ बहाता चलता है।" (कहानी: नयी कहानी, पृ. 34) अब कहानी में रस-बोध प्रमुख हो गया। सम्प्रेषणीयता 'रस-बोध के विविध स्तरों की प्रेषणीयता' हो गयी। रामचन्द्र शुक्ल 'रसात्मक बोध के विविध रूप' पर विचार कर चुके थे। कहानी के पहले महत्वपूर्ण आलोचक कहानी में 'रस बोध के विविध स्तरों' पर ध्यान दे रहे थे। दूसरी ओर उनका ध्यान उन कहानीकारों पर भी था जो "कहानी को कविता के तंग दायरे की ओर घसीट डालना चाहता है।" (वही पृ. 38) उन्होंने यह कहा था- "इतनी विशाल और समृद्ध जिन्दगी का जंगल सामने लहरा रहा है और आप हैं कि जाने किन सूक्ष्म मान्यताओं और रूढ़ प्रतीकों के 'ऐब्स ट्रैक्शन्स'" में झक मार रहे हैं। इन बातों के लिये दर्शन या एक हद तक कविताएं कुछ कम हैं? फिर इस जिन्दगी की मांसलता और छोटी-छोटी बातों के ब्यौरों में बिखरी हुई ठोस वास्तविकता का चित्रण कौन करेगा?... जिन्दगी की इस सम्पूर्णता को गद्य वाणी नहीं देगा तो कौन देगा? (वही) यह सच है कि अपने इस तीसरे निबंध में नामवर 'प्रतीक और संकेत

के फिसलन भरे रास्ते' की बात करते हैं, बारीक संकेत से 'कहानी के सर्वथा विचार शून्य हो जाने का भारी खतरा' देखने के साथ 'अनुभूति', 'सौन्दर्य' और 'कला' से अधिक दृष्टिकोण पर बल देते हैं, 'सादगी' और 'सच्चाई' के लिहाज से अमरकान्त को 'आदर्श' मानते हैं, जिनकी भाषा में 'प्रेमचन्द की परम्परा का अद्यतन विकास' है, पर कहानी को बेदी की 'लाजवन्ती' की तरह 'बेहद नाजुक कला' भी कहते हैं जो "अत्यन्त संवेदनशील हाथों की अपेक्षा रखती है। ज्यादा कलाबाजी से भी कुम्हला सकती और रुखे हाथों के स्पर्श से भी।" (वही, पृ. 40) सवाल यह है कि आलोचक कहानी को कैसे देखे? अगर कहानी 'नाजुक कला' है, तो आलोचक को भी 'संवेदनशील' होना चाहिए। फिर बच जाता है पाठक, जिसका 'विचारवान' होना जरूरी है। पाठक को विचारवान बनाने में आलोचक की क्या भूमिका बनती है। आलोचक अगर कहानी को 'नाजुक कला' नहीं, बेहद नाजुक कला मानता है, तो इस दृष्टि से जो कहानी-समीक्षा होगी, क्या वह 'व्यापक समीक्षा पद्धति के निर्माण की दिशा' भी तय करेगी?

'परिन्दे' पर लिखने के पूर्व ही नामवर कहानी को संगीत कला और चित्रकला से समझने-समझाने की कोशिश कर रहे थे। 1959 की 'कहानी' में प्रकाशित दो लेखकों - 'नयी कहानी-नये प्रश्न' (नववर्षांक) और 'आज की हिन्दी कहानी: ऐतिहासिक नवीनता और उपलब्धियां' (जुलाई) में उन्होंने यह कार्य किया। अपने चौथे लेख में उन्होंने 'विविध गद्य रूपों तथा कविता के बीच, आपसी विनिमय' की बात कही। 'साहित्य की सभी विधाओं को आपस में आदान-प्रदान' करते हुए देखा, 'ऐतिहासिक नवीनता' के कारण कहानी की सार्थकता की बात की और यह माना कि "समीक्षा-विचार में इस ऐतिहासिक नवीनता को पकड़ना पहली आवश्यकता है।" (वही, पृ. 43) क्या थी यह ऐतिहासिक नवीनता? आजादी एक बड़ी घटना थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मार्क्सवाद और प्रगतिशील शक्तियों के विरुद्ध मुख्यतः पचास के दशक में विश्व की साम्राज्यवादी-पूंजीवादी शक्तियों ने वैचारिक और साहित्यिक, क्षेत्रों में पूंजीवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार आरंभ किया। 'यथार्थवाद' के स्थान पर 'अनुभववाद' और 'कलावाद' को महत्व दिया जाने लगा। 1955 में 'कांग्रेस और कल्चरल फ्रीडम' से जुड़े लेखकों ने 'स्वतंत्रता के भविष्य' पर विचार विमर्श किया था। 'एनकाउंटर' इस संगठन का मुख पत्र था, जिसमें विचारधारा के अंत की बात कही गयी थी। नामवर इस पत्रिका के नियमित पाठक थे। आजादी के बाद भारत में एक साथ कई दिशाएं खुल चुकी थीं। 1957 के बाद औद्योगीकरण पर अधिक बल दिया गया। नामवर 'यथार्थ' पर नहीं वास्तविकता पर ध्यान दे रहे थे।

कहानी का संबंध 'यथार्थ' से है पर नामवर अपनी कथा-समीक्षा में 'यथार्थ' और 'यथार्थवाद' जैसे शब्दों के प्रयोग से बचते हैं। वे जिस ऐतिहासिक नवीनता की बात करते हैं, वह बदला हुआ यथार्थ था। इस बदले हुए यथार्थ के कारण ही नयी कहानियों का कोई एक स्वर नहीं था। मोहन राकेश 'नये बादल' (1957) की भूमिका में अपेक्षाकृत ठहरे हुए यथार्थ के बजाय 'कुलबुलाते यथार्थ' का सवाल उठा चुके थे और राजेन्द्र यादव ने 'जहां लक्ष्मी कैद है' (1957) की भूमिका में 'उफनाते बलबलाते जीवन' के संदर्भ में 'जिन्दगी और जोंक' के रजुआ की जिजीविषा की दाद दी थी। भारतीय यथार्थ की बहुस्तरीयता और बहुत संरचनात्मकता पहले की तुलना में कहीं अधिक सुस्पष्ट रूप से पचास के दशक के साहित्य में दिखाई पड़ती है। 'यथार्थवाद' को नामवर ने अरुण प्रकाश से हुई बातचीत ('बात बात में बात', 2008) में 'पराई शब्दावली' कहा है। "जान-बूझकर मैंने 'वास्तविकता' शब्द का इस्तेमाल किया, कि इसमें गुंजाइश है कि हम यथार्थवाद वाले दुश्चक्र से निकलकर अपने कथा-साहित्य पर बात कर सकें।" (वही, पृ. 207) 'ऐतिहासिक नवीनता' को बदले यथार्थ से समझा जा सकता है या "वास्तविकता" से? यथार्थ ठहरा हुआ नहीं होता और 'यथार्थवाद' का भी कोई एक रूप नहीं होता। जिस प्रकार उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के 'यथार्थ' में अंतर है, उसी प्रकार इन दोनों सदियों के यथार्थवाद में भी अरुण प्रकाश को बातचीत में वे डिकेन्स, दोस्तोवस्की, तोलस्तोय के यथार्थवाद का अंतर बताते हैं और चौबीस घंटे का यथार्थ लिखने वाले जेम्स ज्वायस के यहां एक भिन्न प्रकार का यथार्थवाद देखते हैं। "मैंने 'वास्तविकता' को अपेक्षाकृत सुरक्षित समझकर अपनाया" (वही प. 206) शायद ही कोई ऐसा प्रमुख कथा-समीक्षक हो, जिसने अपनी कथा-समीक्षा में 'यथार्थ' और 'यथार्थवाद' की अनदेखी कर 'वास्तविकता' पर ध्यान केन्द्रित किया हो। नामवर ऐसे अकेले कथा-समीक्षक हैं। उनके लिये 'विचार' से अधिक 'संवेदना' महत्वपूर्ण है। "वास्तविकता के विकसित रूप को विकसित संवेदना के द्वारा ग्रहण" की बात उन्होंने कही। वे 'समकालीन यथार्थ' की न के बराबर चर्चा करते हैं। यह कार्य सुरेन्द्र चौधरी ने किया। नामवर ने अपने पहले निबंध में 'यथार्थवाद की विजय का पहला उद्घोष' चेखव में देखा था। उसके बाद के निबंधों में उन्होंने 'यथार्थवाद' से परहेज किया। जिस निर्मल वर्मा की उन्होंने प्रशंसा की, उस निर्मल वर्मा ने चेखव की कहानी से कहानी का अंत घोषित किया। "चेखव की कहानी 'कहानी' का अंत है, ... उसके बाद 'कहानी' वह नहीं रह सकेगी, जिसे आज हम 'कहानी' की संज्ञा देते आये हैं : प्रश्न चेखव की परम्परा को बढ़ाने का नहीं, उससे मुक्ति पाने का है।" (नयी

कहानी : लेखक के बही खाते से, धर्मयुग, जनवरी 1962, 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', 1966 में संकलित)

'कहानी' में लिखे गए नामवर के चार लेख उस समय के हैं, जब वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में थे। 1959 में चकिया-चंदौली लोकसभा उपचुनाव में वे कम्युनिस्ट पार्टी के प्रत्याशी थे। चुनाव हार गए। जुलाई 1959 में वे सागर विश्वविद्यालय में गए। मई 1960 में यह नौकरी छूटी। जून 1960 में बनारस आए। 'परिन्दे' कहानी-संग्रह के प्रकाशन के तुरंत बाद इसकी समीक्षा 1960 में आकाशवाणी, इलाहाबाद से प्रसारित हुई। 'नवलेखन हिन्दी मासिक पत्र 'कृति' का प्रकाशन 1958 से आरंभ हो चुका था। प्रवेशांक से ही नामवर 'कृति' से जुड़े हुए थे। अक्टूबर 1960 की 'कृति' में 'परिन्दे' पर उन्होंने 'कालातीत कला-दृष्टि' शीर्षक से विचार किया, आकाशवाणी वाली समीक्षा की आरंभिक पंक्ति है - "फ़क्रत सात कहानियों का संग्रह 'परिन्दे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है, बल्कि जिसे हम 'नयी कहानी' कहना चाहते हैं, उसकी भी पहली कृति है।" (कहानी: नयी कहानी, वही प. 52) अपने पहले के चार निबंधों में वे जिस 'नयी कहानी' और 'आज की कहानी' की चर्चा कर रहे थे, उससे सर्वथा भिन्न यह स्थापना थी। अपने चौथे लेख में उन्होंने प्रायः सभी नये कहानीकारों की एक साथ पहली बार चर्चा की थी - मार्कण्डेय, भीष्मसाहनी, मोहन राकेश, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी आदि की, उनमें से अब केवल निर्मल वर्मा अलग किये जा रहे थे - नये कहानीकार के रूप में। वजह क्या थी? "परिन्दे" से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिन्दी कथा-साहित्य अभी पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही 'मार्क टाइम' कर रहा है। समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं, जिन्होंने इस दायरे को तोड़ा है - बल्कि छोड़ा है; और आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को उठाया है। (वही) नामवर के लिए 'सामाजिक संघर्ष' गौण था। 'मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या' प्रमुख थी। यह नयी कहानी की असंगत आलोचना थी। 'परिन्दे' संग्रह में 'तीसरा गवाह' कहानी भी है। इस कहानी को लेकर केदारनाथ सिंह ने नामवर के 'गद्गद् रहने' की बात लिखी है - 'लगभग बच्चे की तरह पुलकित' (नामवर के विमर्श, 1995, पृ. 80) निर्मल में ऐसी कौन सी खूबी थी, जो अन्य किसी नये कहानीकार में नहीं थी? वह थी 'मनुष्य की गहन आन्तरिक समस्या'। अपने पहले लेख में नामवर ने कहानी को 'सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक शस्त्र' का काम करते हुए देखा था। अब उनके लिए सामाजिक परिवर्तन और संघर्ष 'हाशिए पर' भी नहीं था। यह तब, जब केरल में

कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार खत्म की जा चुकी थी। नामवर ने निर्मल की कहानियों की जानी-पहचानी स्थितियों को 'इतिहास की विराट नियति' बनकर खड़ी देखा और कहानी का तक मामूली सा वाक्य भी एक युग व्यापी प्रश्न बन जाता है।" (कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ 52) 'परिन्दे' कहानी में पक्षियों के झुंड को देखकर लतिका का यह प्रश्न था, 'क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? लेकिन कहां के लिए, हम कहां जाएंगे।' नामवर को यह 'व्यक्तिगत प्रश्न' नहीं लगा था। इस प्रश्न को कहानी के अन्य पात्रों - डाक्टर मुखर्जी, मि. हयूबर्ट से ही नहीं, सबसे वे जोड़ते हैं - "देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव-नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और एक छोटा-सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अर्थवृत्तों से वलयित कर देता है। (वही) सब कुछ बुद्धि पर निर्भर करता है।" द्विवेदी जी का कथन है - "बुद्धि हो तो मनुष्य क्या नहीं कर सकता।" आलोचकीय बुद्धि वैसे भी सामान्य बुद्धि से भिन्न, विशिष्ट, नयी और मौलिक होती है। नामवर की लतिका के प्रश्न से चेखव की कहानियों में गूँजनेवाले प्रश्न की याद आती है - "वह प्रश्न जिसकी गूँज उन्नीसवीं सदी के सारे रूसी कथा-साहित्य और सामाजिक चिन्तन में बार-बार सुनाई पड़ती है। जैसे सारा जमाना एक साथ पूछ रहा हो कि क्या करें?" (वही, पृष्ठ 53) क्या लतिका का प्रश्न स्वतंत्र भारत का प्रश्न था ? 'प्रतीक्षा' 'सितम्बर की एक शाम' के युवक की 'सारी दुनिया' कर रही थी कि वह 'उसे अर्थ दे'। नामवर ने निर्मल की इस कहानी में 'बेकारी से बड़ा अर्थ ध्वनित' देखा। ध्वन्याचार्य ने कविता में 'ध्वनि' को महत्व दिया था। नामवर ने उसे कहानी में घटित किया। एक वाक्य में उन्होंने 'संभावना और व्यर्थता का अन्तर्विरोध' दिखाई दिया। नामवर की खूबी अर्थ-निरूपण में है। वे निर्मल की कहानी में समकालीन भारत का मुख्य प्रश्न 'पीड़ा भरी प्रतीक्षा' देखते हैं, लतिका की समस्या को 'स्वतंत्रता या मुक्ति की समस्या' कहते हैं। यह कैसी मुक्ति है ? "अतीत से मुक्ति, स्मृति से मुक्ति", उस चीज से मुक्ति 'जो हमें चलाए चलती है और अपने रेले में हमें घसीट ले जाती है।' (वही) निर्मल की कहानियों को उन्होंने, 'मुक्ति की पीड़ा की अभिव्यंजना' कहा। इतिहास से अपने को मुक्त करने को 'इतिहास और आलेचना' का लेखक महत्व दे रहा था। कुछ कहानियों की कुछ, पंक्तियों से उन्होंने यह साबित किया "ये कहानियां जवन की विभिन्न स्थितियों के संदर्भ में आज के सबसे बड़े मानव-मूल्य-मानव-मुक्ति को परिभाषित करती हैं।" निर्मल-संबंधी नामवर के उस समय के 'बहुमूल्य' विचार पर विस्तारपूर्वक आज भी विचार करने की ज़रूरत इसलिए है कि इसने प्रत्यक्ष, परोक्ष रूप में हिन्दी कहानी, कथालोचना को समझने की एक

‘नामवरीय’ दृष्टि प्रदान की। बाद में नामवर से जिन वार्ताकारों ने ‘परिन्दे’ को लेकर जो सवाल किए हैं, उनमें सुरेश पाण्डेय के सवाल बड़े ठोस और महत्वपूर्ण हैं जिन पर बाद में विचार किया जाएगा। नामवर ने ‘परिन्दे’ वाले लेख में ‘दुर्लभ अनुभूति-चित्र’, ‘संवेदनशील नया गद्य’ ‘प्रभाव उत्पन्न करने की कला’, ‘चरित्र, वातावरण, कथानक आदि का कलात्मक रचाव’, ‘मानव-चरित्र का प्रकृति का अंग’ होना, ‘अनमोल तत्वों को एक ‘रूप’ में रचना’, ‘संगीत का-सा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ आदि गुणों-वैशिष्ट्यों की बात की।’ निर्मल की कहानियों में संगीत वातावरण-चित्रण के साथ संगत के राग धर्म और अनुभवों को अर्थ प्रदान करता है। पहली और अंतिमबार (हिन्दी) कहानी के इस संगीतधर्मी पक्ष पर विचार कर नामवर ने संगीत कला और कहानीकला को एक साथ जोड़ा। उन्होंने निर्मल की सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया को संगीत धर्मी कहा। रेणु का ‘ठुमरी’ कहानी-संग्रह ‘परिन्दे’ कहानी-संग्रह के पहले प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका ‘स्वर लिपि’ में रेणु ने अपने को ‘ठुमरी का कथा गायक’ कहा था। रेणु हिन्दी के अकेले कथाकार हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों को स्वर-संगीत से जोड़ा। नामवर अकेले कथालोचक हैं, जिन्होंने निर्मल की कहानियों के संगीत पक्ष पर विचार किया। निर्मल और रेणु की कहानियों के संगीत पक्ष पर अभी विचार नहीं किया गया है। निर्मल आलोचना पर अलग से विचार की जरूर है। कई कहानियों में बेकार नवयुवकों के जरिए ‘विशद प्रतीक्षा’ की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया गया। निर्मल की ‘पैनी दृष्टि’ पर नामवर की ‘पैनी दृष्टि’ पड़ी। ‘परिन्दे’ का डॉक्टर मुखर्जी लतिका से कहता है कि किसी चीज को जान-बूझकर न भूल पाना, उससे हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना गलत है। नामवर चीज से जोंक की तरह चिपटे रहने को देख रहे थे, पर जोंक की तरह जिन्दगी से चिपटे रहने वाले रजुआ को नहीं देख रहे थे। ‘परिन्दे’ पर विचार करते समय अमरकान्त को याद करना जरूरी नहीं था। यह कार्य बाद में किया और अपने पक्ष में, ‘पीड़ा भरी प्रतीक्षा’ के पक्ष में ‘डिप्टी कलकटरी’ कहानी को भी याद किया।

निर्मल की कहानियों के प्रभाव-पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार कर नामवर ने उसके पीछे ‘जीवन की गहरी समझ और कला का कठोर अनुशासन’ देखा। और अन्त में उनका यह कथन “निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है। उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है, उन्होंने प्रचलित कहानी-कला के दायरे से भी बाहर निकलने की कोशिश की है, यहां तक कि शब्द की अभेद दीवार को लांघकर शब्द के पहले के ‘मौन जगत’ में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है और वहां जाकर प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध के द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को

पकड़ने का साहस दिखलाया है। इसीलिए उनकी कहानी-कला में नवीनता है, भाषा में नव जातक की-सी सहजता और ताजगी है, वस्तुओं के चित्रों में पहले-पहल देखे जाने का अपरिचित टटकापन है।” (वही, पृ. 64-65) कहानी-आलोचना में अब यथार्थ के लिए ही नहीं, ‘वास्तविकता’ के लिए भी कोई जगह नहीं थी। सारे नये कहानीकार एक ओर और निर्मल वर्मा एक ओर। अकेले नये कहानीकार निर्मल और ‘परिन्दे’ नयी कहानी की पहली कृति। निर्मल की कहानियों पर नामवर जितना मुग्ध हुए, उतना कोई आलोचक या कथाकार मुग्ध नहीं हुआ। जिस वर्ष उन्होंने ‘परिन्दे’ की समीक्षा की, उसी वर्ष (1960) मोहन राकेश ने ‘नई कहानियां’ के अपने स्तंभ ‘बकलम खुद’ में ‘परिन्दे’ की समीक्षा ‘उदास धड़कनें’ शीर्षक से की थीं। निर्मल की विशेषता उनके बिम्ब विधान में देखते हुए राकेश ने निर्मल को ‘एक विशेष मूड का कहानीकार’ कहा था और यह सवाल किया था “लेखक की सब कहानियों में वही एक-सा मूड ही क्यों है और क्यों वह जिन्दगी के अलग-अलग मूड को अंकित करने में अपने को नहीं रमा पाया।” (बकलम खुद, 1974, पृ. 40) मोहन राकेश के लिए अपने चरित्रों के साथ कहानीकार की संलग्नता ठीक नहीं है और उनकी कहानियों में व्यक्ति और यथार्थ के स्थान पर भावनाएं और संवेदनही प्रमुख हैं। नामवर ने निर्मल में ‘कालातीत दृष्टि’ देखी थी और मोहन राकेश ने ‘कालातीत क्षण’। नामवर की विशेषता यह है कि वे काल से होड़ लेते शमशेर के भी प्रशंसक हैं और ‘कालातीत दृष्टि वाले निर्मल के भी। उनकी आलोचना समय से जुड़ी हैं और समय से परे भी है। उनकी स्थापनाएं आकर्षित करती हैं और विवाद भी उत्पन्न करती हैं। निर्मल की कहानियों को लेकर उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं में से एक को सुरेन्द्र चौधरी ने उनके मंतव्य के विरोध में देखा है। वह यह कथन है, “निर्मल के मानव चरित्र प्राकृतिक वातावरण में किसी पौधे, फूल या बादल की तरह अंकित होते हैं, गोया वे प्रकृति के ही अंग हैं” (कहानी : नयी कहानी, वही, पृष्ठ 56) सुरेन्द्र चौधरी ने ‘मानवीय अस्तित्व की प्रकृति से इस अनुरूपता’ को ‘एलियनेशन की उस आधुनिक संवेदना’ से अलग माना है जिसके लिए निर्मल की प्रशंसा की जाती है। (हिन्दी कहानी : रचना और परिस्थिति, 2009, पृष्ठ 112) उन्होंने निर्मल की कहानियों के संसार को ‘अनुभवों का पुतलीघर’ कहा। उनकी कहानियों के जिस ‘एकान्वित प्रभाव की प्रशंसा नामवर ने की, वह अनुभवों के गढ़ने से जुड़ी है, सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है “अनुभव गढ़ने की कला कोई प्रूस्त से सीखे।” (वही) निर्मल वर्मा नयी कहानी में ‘आउट साइडर’ की तरह हैं। नामवर ने उन्हें केन्द्र में रख दिया। उन्होंने निर्मल की कहानियों में बिम्ब, टेक्स्चर, सिम्फनी

की तारीफ की। बिम्ब, ध्वनियां, रंगादि ऐन्द्रिय बोध से जुड़े हैं और यथार्थ का इससे गहरा संबंध नहीं है। नामवर ने कविता के, विशेषतः छायावादी कविता के विश्लेषण में इसका उपयोग किया था और निर्मल के यहां भी लगभग ऐसी ही खूबियां उन्होंने देखी - तलाशी; उनका मार्क्सवाद निर्मल की कहानियों के विवेचन में आँधे मुंह जा गिरा था। जिस कहानीकार ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की, नामवर उसके साथ हुए सुरेन्द्र चौधरी ने अपना विरोध 'आन्तरिकता' से नहीं, 'आन्तरिक रूप से रिक्त विचारधारा' से माना है। शब्दों के अर्थ-संबंध को लांघ कर शब्दों के मूल (!) को पकड़ने की बात करना आलोचकीय साहस था। मार्क्सवादी दर्शन के सामने ही नहीं, किसी भी 'सुसंगत चिन्तन' में ऐसी पंक्तियां खारज हो जायेंगी "चाहे वह भाववादी चिन्तन ही क्यों न हो।" (वही, पृष्ठ 128)

कहानी की आलोचना चित्रकला और संगीतकला के साथ, उससे जोड़कर नहीं की जा सकती। कविता का अन्य ललित कलाओं से संबंध है, पर कहानी का नहीं। कहानी का सीधा संबंध यथार्थ से है। गोगोल रूस के महान यथार्थवादी कथाकार थे और तुर्गेनेव ने यह कहा था कि हम सभी गोगोल के 'ओवरकोट' से निकले हैं। प्रेमचंद की कहानियों का महत्व यथार्थ के कारण है। नामवर जिस निर्मल वर्मा के प्रशंसक हैं, उस निर्मल वर्मा को, 'हमेशा दुविधा' होती थी, जब कोई कहानी में 'यथार्थ' की चर्चा करता है। जनवरी 1962 के धर्मयुग के अपने लेख में (नयी कहानी : लेखक के बही खाते से) निर्मल ने 'यथार्थ' को एक पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा माना था - 'उसे वहां से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहां छिपा है... तब अगर झाड़ी पर ज्यादा दबाव डालोगे तो वह मर जाएगा, या उड़ जाएगा।' ('नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', वही, पृ. 180) कथा-साहित्य का जन्म जिस यथार्थवाद से हुआ था, उसे केवल निर्मल ही नहीं, नामवर भी कहानी में मुख्य नहीं मान रहे थे। 'कहानी और फैंटेसी' लेख में नामवर ने व्यंग्य के लहजे में कहा था - 'यथार्थवाद जिन्दाबाद!' कहानी में वर्तमान का महत्व था। पचास के दशक पर बात करते हुए नामवर उस समय के यथार्थ पर, एक नये भारत पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, पर यथार्थ के नाम पर नितान्त वर्तमान से चिपकना उनकी दृष्टि में एक प्रकार का 'कछुआ धर्म' है। मार्क्सवादी आलोचकों ने किसी यथार्थवाद, से पल्ला नहीं झाड़ा था। लुकाच ने यूरोपीय यथार्थवाद को हमारे सामने रखा। नामवर भारतीय यथार्थवाद पर विचार नहीं कर सके। प्रेमचन्द की कहानियों का महत्व उनके यथार्थवाद के कारण है। उनके यहां घटना, चरित्र और समय-समाज के प्रश्न प्रमुख

हैं। नामवर ने भी अभी तक ऐसा प्रेमचन्द पर नया मूल्यांकन नहीं किया है कि उसे शिल्प, संवेदना भाषा और बिम्ब से देखा जाये। कहानी की चर्चा में उन्होंने जान बूझकर यथार्थवाद शब्द छोड़ा। “यथार्थ के गज से कहानी समझाने की कोशिश की जाएगी तो न जाने कितने व्यक्तिगत यथार्थ हैं? दलित यथार्थ है? यथार्थवाद एक सिद्धान्त है। सिद्धान्तों से कहानी नहीं बनती, संवेदना से बनती है। उस संवेदना की कोई जाति नहीं होती। कोई धर्म नहीं होता। कोई मजहब नहीं होता। मानवीय संवेदना कहां किस रूप में दिखाई पड़ती है, उससे जांच होती है कहानी की।” (हिन्दी कहानी की एक सदी, साहित्य की पहचान; 2012, पृ. 185)

पचास के दशक में, जब नामवर कथालोचना में सक्रिय थे, ‘विचारधारा के अंत’ के जरिए यथार्थवाद का विरोध किया जा रहा था। साहित्य में यथार्थवाद की अपनी भूमिका और परम्परा थी। आलोचनात्मक और सामाजिक यथार्थवाद ही नहीं, क्रान्तिकारी यथार्थवाद भी था। कला साहित्य के क्षेत्र में इससे पूंजीवादी शक्तियों का खतरा था। यथार्थवादी विचारधारा से लेखकों को अलग करने के लिए, कथा साहित्य को अलग करने के लिए यथार्थवाद के विरुद्ध कला-सिद्धान्त लाये गए, लेखक की यथार्थ दृष्टि और सामाजिक दृष्टि के बदले कला-दृष्टि की बात और वह भी कथा-साहित्य में, न संयोग था, न आकस्मिक थी। स्वतंत्र भारत पूंजीवाद के मार्ग पर चल पड़ा था। नेहरू की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में एक साथ निजी और सार्वजनिक उपक्रम थे। नयी कहानी की समीक्षा में नामवर की प्रगतिशीलता नहीं दिखाई पड़ती है। ‘कविता के नये प्रतिमान’ (1968) के एक दशक पहले, ‘इतिहास और आलोचना’ (1957) के बाद नामवर में ‘रूपवाद’ का तीव्र आकर्षण दिखाई पड़ता है। पश्चिम में कहानी और उपन्यास दोनों को यथार्थवाद से नहीं जोड़ा गया। वहां कहानी की ‘नितान्त आत्मपरक, लिरिकल’ माना गया था। भारत में यह स्थिति नहीं थी। जहां तक मार्क्सवादी विचारधारा का सवाल है उसमें विचारधारा को रूप-तत्व में समृद्ध-विकसित करने वाले भी रहे हैं। सुरेन्द्र चौधरी ने नामवर की इस कमजोरी - ‘रूप-तत्व से मार्क्सवाद को विस्तृत करने’ को पहचाना है। वे 1930 के उन दस्तावेजों का जिक्र करते हैं “जो आना जेगर्स और लुकाच के बीच बहस के मुद्दे बने थे... आना जेगर्स का विचार था कि पश्चिमी रूप तत्व से मार्क्सवाद की विचारधारा को विस्तृत किया जा सकता है। लुकाच ने इसका विरोध किया था। उसके अनुसार पश्चिमी रूपतत्व एक पतनशील व्यवस्था की उपज था और उसकी भूमिका लगभग नगण्य थी।” (हिन्दी कहानी : रचना और परिस्थिति, 2009, पृ. 223)

‘पाठ-प्रक्रिया’ शब्द नामवर का दिया हुआ है। उनकी नवीन, मौलिक दृष्टि अनेक बार पाठकों को चकित करती है। हिन्दी में पहली बार उन्होंने कहानी पढ़ने की प्रक्रिया पर विचार किया। अंग्रेजी में डा. जानसन ने साधारण पाठक का महत्व पहचाना था। नामवर वर्जीनिया वुल्फ के ‘द कॉमन रीडर’ से प्रभावित थे। वर्जीनिया वुल्फ ने भी साधारण पाठक पर ध्यान दिया था। नामवर यह जानते थे कि ‘क्राफ्ट आफ फिक्शन’ का पर्सी ल्युबक ने पाठक के हाथ में सौंपा है। उन्हें इन सबसे दृष्टि मिली और ‘हाशिए पर’ के पहले लेख ‘साधारण पाठक: सहज दृष्टि: कहानी-पाठ की प्रक्रिया’ में ‘ठोस पाठक’ अर्थात् ‘वास्तविक पाठकों का साहित्यिक समाज’ तैयार करने की उन्होंने बात कही। स्वतंत्र भारत में मतदाता महत्वपूर्ण हो गया था। कहानी में पाठक का महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक था। नामवर की यह चिन्ता थी कि जिस प्रकार तोल्सतोय, चेखव और तुर्गनेव के कथा-चरित्र पाठकों के जीवन के अंग बन गए, उस प्रकार हमारे यहां के कथा चरित्र पाठकों के जीवन-अंग क्यों नहीं बने? जनवरी 1961 की ‘नई कहानियां’ में इस लेख का शीर्षक था ‘साधारण पाठक: सहज दृष्टि’, ‘कहानी: नयी कहानी’ में इसमें ‘कहानी पाठक की प्रक्रिया’ जोड़ा गया। कथा-समीक्षा की अगर कोई शास्त्रीय प्रणाली बनी होती, उसकी सैद्धान्तिकी निर्मित हुई होती तो पाठकों का विशेष महत्व नहीं रह जाता। वे एफ.आर. लीविस से प्रभावित थे और लीविस ने ‘लिटरेरी क्रिटिसिज्म एण्ड फिलासफी’ में आलोचक का कार्य मूल्यांकन के प्रतिमानों का निश्चित या सूत्रबद्ध करना नहीं माना था। उन्होंने आलोचक को दार्शनिक से और आलोचना-प्रक्रिया को दर्शन से भिन्न माना था। कहानी-पाठ की प्रक्रिया को सामने रखते हुए उन्होंने पुरानी-नयी, देशी-विदेशी कहानियों पर विचार किया। ‘हाशिए पर’ में उन्होंने जिन अठारह कहानियों पर विचार किया है, वे प्रेमचन्द की ‘मुक्तिमार्ग, सुजान भगत’, जयशंकर प्रसाद की ‘स्वर्ग के खंडहर में’ व जैनेन्द्र की ‘नीलम देश की राजकन्या’, अज्ञेय की ‘पठार का धीरज’, विष्णु प्रभाकर की ‘धरती अब भी घूम रही है’, द्विजेन्द्र लाल मिश्र ‘निर्गुण’ की ‘एक शिल्पहीन कहानी’, मार्कण्डेय की ‘सतह की बातें’, राजेन्द्र यादव की ‘अभिमन्यु की आत्महत्या’, ‘छोटे छोटे ताजमहल’, निर्मल वर्मा की ‘तीसरा गवाह’, रघुवीर सहाय की ‘कहानी की कला’ ‘सेव’, उषा प्रियंवदा की ‘वापसी’, जिन्दगी और गुलाब के फूल, काफ़्का की ‘मेटामॉर्फोसिस’, चेखव की ‘अन्ना आन दि नेक’ और हेमिंग्वे की ‘किलर्स’ हैं। नये कहानीकारों में उन्होंने केवल चार राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा और उषा प्रियंवदा की कहानियों का चयन किया। इन सभी कहानियों के अलग-अलग विश्लेषण से उन्होंने कहानी-

पाठ की एक 'पद्धति' अपने ढंग से विकसित की। कहानी को कई कोणों से देखा। इस लेखमाला का विशेष महत्व है। नामवर कहानी और नयी कहानी दोनों के प्रमुख और महत्वपूर्ण आलोचक के रूप में सामने आए।

'हाशिए पर' के निबंध लिखते समय वे पूरी तरह कहानी में डूबे हुए थे। केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि वे रोजना शाम को कहानी के संबंध में चर्चाएं करते थे और विजय मोहन सिंह के अनुसार 'हाशिए पर' वाले निबंध लिखते समय वे 'बुक वार्म' की तरह पुस्तकालय में पुस्तकें ढूंढ़ते थे। ('नामवर के विमर्श' वही, पृ. 80, 74) 'हाशिए पर' के निबंधों में वे एक साथ सार्त्र, वर्जीनिया वुल्फ, पर्सी ल्युषक, विटगेन्स्टाइन, मार्क्स, काफ़्का, आर्नल्ड केटिन, अरस्तू, ई.एम. फोर्स्टर, मार्क शोरर, ओ'हेनरी, मोपासाँ, हेमिंग्वे, जेम्स ज्वायस, आइज़क बैबेल, बेकन, बर्टोल्ट ब्रेख्त, एलेनटेट, विक्टर श्वलोव्सकी, तोलस्तोय, एडविन बेरी बर्गम, फिलिप रैव, टी एस इलियट, प्रोफेसर लेविस, रिल्के, उमथ चौधरी, जार्ज लुकाच, शेरवुड एंडरसन, डी.एच.लारेंस, रॉब ग्रिए, प्रेमचन्द को उद्धृत करते हैं। केवल मोरिस बोर्दी का कहीं कोई जिक्र नहीं है, जिनकी पुस्तक 'कंटेम्पोरेरी शॉर्ट स्टोरीज' से उन्होंने सुरेन्द्र चौधरी के अनुसार 'हाशिए पर' के लगभग सभी सूत्र लिए हैं। ('कहानी: प्रक्रिया और पाठ', पृ. 129) नामवर ने 'पाठक' को इतना अधिक महत्व दिया कि 'कथानक' को एक प्रकार से बहिष्कृत किया और कथानक उनकी दृष्टि में 'पाठक द्वारा सहूलियत के लिए किया गया संक्षेपण' था। ई.एम. फोर्स्टर ने 'आस्पेक्ट्स आफ नावेल' में 'स्टोरी' और 'प्लॉट में अंतर किया था। फोर्स्टर की उपन्यास-संबंधी स्थापना को मार्क शोरर ने 'दि स्टोरी: ए क्रिटिकल एन्थोलॉजी' में कहानी पर लागू किया था यह पुस्तक 1961 में प्रकाशित हुई थी। नामवर ने यह किताब उसी समय पढ़ी थी और वे इससे प्रभावित थे। शिवदान सिंह चौहान ने उपन्यास संबंधी फोर्स्टर की स्थापना को कहानी पर लागू करना 'गलत और बेतुका' बताया था, जिसका नामवर ने खंडन किया था और मार्क शोरर को अपने पक्ष में खड़ा किया था। नामवर ने कहानी-संबंधी उस पूर्व धारणा, जिसमें 'कथानक' का अपना महत्व था, प्रहार किया और 'कथानक' से 'रहस्य की ध्वनि' निकलने की बात कही। 'रचनाधर्मी कहानी की संश्लिष्टता' लेख में उन्होंने लिखा - "कथानक की उद्भावना को साहित्य में काफी छोटा कार्य माना गया है और सृष्टि के उच्चतम स्तर पर वह अवान्तर रहा है" (कहानी: नयी कहानी, वही, पृष्ठ 109) 'कहानी' में लिखे अपने पूर्व लोगों ने भी कथानक-संबंधी उनकी धारणा थी, वही बाद में और प्रबल रूप में दिखाई पड़ी। नामवर ने 'कथानक' को कहानी का 'कारण-तत्त्व' नहीं माना।

वे जब कहानी में विचार तत्व की प्रमुखता नहीं देखते तो यह विचार उन्हें कहानी को सर्वथा एक भिन्न दृष्टि से देखने की ओर ले जाता है। कहानी में 'कथानक' और 'विचार' को गौण मानने के बाद ही निर्मल की कहानियों की प्रशंसा की जा सकती थी। उन्होंने यह माना कि कहानी-संबंधी प्रचलित धारणा के कारण पाठकों की कहानीकारों की दृष्टि धुंधली हुई। नामवर ने अपने लेखों में इस धुंधली दृष्टि को ठीक किया या कहानी के संबंध में एक अलग धुंधली दृष्टि विकसित की? उनके लिए 'कहानी' में केवल प्रभाव महत्वपूर्ण है। 'प्रभावान्विति' वाला तर्क उनके सामने था। "कथानक चरित्र, वातावरण आदि संबंधी जाने कितनी ही विशेषताएं हैं, जो जिनका उपयोग उस प्रभाव को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जो प्रभाव कोई कहानी हमारे मन पर छोड़ती है।" (वही, पृ. 108) कहानी-कला संगीत-कला बन गई।

नामवर ने कथानक का धरातल केवल घटनाओं का धरातल माना, जबकि कथानक का संबंध चरित्र-व्यापारों से भी हैं। मोरिस बोंदी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में 'कथानक' को केवल घटनाओं से ही नहीं, चरित्र से भी जोड़ा था। नामवर ने 'हर कहानी को किसी विचार के रूप में निचोड़कर रख लेना हमेशा मुमकिन नहीं' माना है। (कहानी: नयी कहानी, वही, पृष्ठ 113) सुरेन्द्र चौधरी ने यह लिखा है कि नामवर का यह कथन ठीक है, पर 'भावना का क्षेत्र', 'विचारों से नितान्त स्वतंत्र' नहीं है। लियोनार्ड ट्रिलिंग की 'लिबरल इमैजिनेशन' की भूमिका में उद्धृत गेटे और वडर्स वर्थ का हवाला देते हुए यह कहते हैं कि 'कहानी में विचार' मानवीय भावात्मक संबंधों के क्षेत्र से भी आ सकते हैं और क्रियात्मक संबंधों के क्षेत्र में भी। "नामवर के लिए कहानी स्वयं एक प्रक्रिया है, जिससे लेखक लिखते समय गुजरता है और पाठक पढ़ते समय। वे कहानी लिखने की तरह कहानी पढ़ने की भी प्रक्रिया मानते हैं, उनके लिए 'पढ़ना' एक बड़ी जिम्मेदारी है। वह 'रचनात्मक कार्य' है और 'अनुवाद' भी।" "कहानीकार यदि कला-सिद्ध है तो पाठक के लिए चुनौती है कि उस कला की सिद्धि की प्राप्ति में स्वयं कहानीकार से आगे निकल जाये।" (वही, पृ. 75) नामवर कहानी के विश्लेषण से पाठक के 'सहज बोध' को उद्बुद्ध और प्रबुद्ध करते हैं। उनकी कहानी-आलोचना को पद्धति विश्लेषणात्मक है। यह विश्लेषणात्मक पद्धति छोटी कविताओं के विश्लेषण में अपनाई गई थी। अगर कथा-समीक्षा की पद्धति काव्य-समीक्षा की पद्धति ही है, तो वह भिन्न कैसे हुई? 'कहानी: नयी कहानी' की भूमिका में नामवर ने जनवरी 1962 के 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' में 'पत्रिका' के सम्पादक और अंग्रेजी के जागरूक समालोचक एफ.

डब्ल्यू. वेटसन एवं बी. शाहेविच द्वारा प्रस्तुत कैथरीन मैन्सफील्ड की कहानी 'मक्खी' का विश्लेषण देखकर संतुष्ट होने की बात कही है। 'कहानी-समीक्षा में काव्य-समीक्षा की पद्धति का बलात् उपयोग करने की उनकी जो आलोचना की गयी थी, उसका उत्तर उन्होंने वेटसन और शाहेविच की समीक्षा पद्धति से दिया है। अपने पक्ष और समर्थन में अन्य आलोचकों को ढाल की तरह इस्तेमाल करना अपनी कमजोरी का प्रमाण है। दो भिन्न विधाओं की समीक्षा-पद्धति एक कैसे हो सकती है? नामवर ने यह अनोखा कार्य कहानी से कथानक, घटना, चरित्र, यथार्थ को किनारे कर संभव किया। छोटी कविताओं के लिए कथानक अनिवार्य नहीं होता। वह कहानी के लिए अनिवार्य है। इस अनिवार्यता को हटाकर उन्होंने कविता के साथ कहानी को खड़ा कर दिया। कविता की खूबी, उसकी अनेकार्थता है। नामवर ने कहानी में संकेत और अनेकार्थता को महत्वपूर्ण माना। कहानी का विधागत वैशिष्ट्य है। उसका यथार्थ से अविच्छिन्न संबंध है, जिसे विच्छिन्न किया गया। नामवर की खूबी यह है कि उन्होंने एक साथ 'पश्चिम के फिक्शन क्रिटिसिज्म' और 'न्यू क्रिटिसिज्म' दोनों से सहायता ली। हिन्दी कथालोचना-संबंधी उनकी दृष्टि उन्हीं तक सीमित रह गयी। यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि उन्होंने कहानी-संबंधी जो एक नयी दृष्टि दी और जिस तरह से कहानी-पाठ को महत्व दिया, उसका निश्चित रूप से महत्व है। वे कहानी के विश्लेषण में नये और मौलिक रहे, पर उस विश्लेषण से स्वतंत्र भारत की कथा-यात्रा का कोई चित्र नहीं उभरता। यह समकालीन यथार्थ को तिलांजलि देकर संभव भी नहीं था। कहानी का 'झूठ' से रिश्ता तब था, जब वह सुनी-सुनाई जाती थी। जासूसी, ऐय्यारी, भूतप्रेत, देव-दानव, परियों-फरिश्तों की कहानियां अवास्तविक थीं। लिखे जाने के बाद कहानी यथार्थ से जुड़ गयी। नामवर ऐन्द्रजालिक कहानियों को 'समय के सिमटते दायरे' को तोड़ते देखते हैं। कहानी उनके लिए समय की कला है। "समय के साथ कहानी अनेक प्रकार की कलाएं दिखाती है। कभी वर्षों को समेटकर एक क्षण में बांध देती है; कभी क्षण को खोलकर पात्रों में फैला देती है; कभी समय के दायरे को तोड़ती है तो कभी टुकड़ों को जोड़कर एक दायरा बनाती है।" (वही, पृ. 80) ये कहानी कला की दृष्टि से अधिक विचार करते हैं। रघुवीर सहाय ने लिखा है, जहां अधिक कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा। नामवर की कहानी-समीक्षा इस परिवर्तन के विरुद्ध है। कहानी पर अपने पहले लेख के अंत में वे कहानी को 'सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक शस्त्र' के रूप में देख रहे थे। नामवर की कथा-समीक्षा ही नहीं, पूरी समीक्षा ही परिवर्तन के विरुद्ध है। सामाजिक-सांस्कृतिक

महत्व से अधिक उसका साहित्यिक महत्व है। अपनी कथालोचना के आरंभ में जहां वे कॉडवेल के साथ हैं, वहां बाद में लीविस और 'न्यू क्रिटिसिज़्म' के साथ। यह मार्क्सवादी आलोचक का रूपवादी विकास है। अपने एक इंटरव्यू में उन्होंने कहानी की दुनिया में 'विचार-धाराओं के अंत' को 'बहुत अच्छी बात' कहा है। मार्क्सवाद और मार्क्सवादी विरोध दोनों को विचारधाराएं, मानकर उन्होंने यह 'अफसोस' प्रकट किया है कि "हमारी पहली पीढ़ी के लोगों में से कई लोग इन दोनों में किसी न किसी से आज भी ग्रस्त हैं।" ('बात बात में बात', 2006, पृ. 257)

'फैंटेसी' उनके लिए 'ऐतिहासिक तथ्य' न होकर 'जीवित सत्य' है। जैनेन्द्र की कहानी 'नीलम देश की राजकन्या' उनके अनुसार वास्तविक फैंटेसी नहीं है। इस कहानी में जैनेन्द्र की दृष्टि आत्मवादी है। कहानी में राजकुमार एक 'वहम' है और 'वहम से पैदा होने वाली फैंटेसी' कला नहीं, बल्कि कला का वहम पैदा करती है।' (कहानी: नयी कहानी, वही, पृ. 85) प्रसाद ने कल्पना शक्ति से स्वर्ग का निर्माण किया और पैनी यथार्थ दृष्टि से उसे नष्ट भी किया अर्थात् कहानीकार में कल्पना दृष्टि के साथ 'यथार्थ दृष्टि' का भी होना आवश्यक है। नामवर की कथा-समीक्षा में कई अन्तर्विरोध हैं। अर्थान्वेषण में वे अकेले और अप्रतिम हैं, जिससे आलोचक की मौलिकता का पता चलता है। वे मुख्यतः व्यावहारिक समीक्षक हैं। जहां तक किसी कृति को पसंद और नापसंद का सवाल है, उसमें तार्किकता नहीं है। रचना के भीतर से वे अपनी पसंद के स्थलों का चयन करते हैं, उसे विस्तारित कर बाद में औचित्य प्रदान करते हैं। उनकी आलोचना प्रभाव उत्पन्न करती है, जिसमें एक कौंध और चमक है, वस्तुनिष्ठता नहीं। साधारण जीवन पर उनका ध्यान नहीं है। वे इसके बीच से उद्घाटित होने वाले जीवन-सत्य को रेखांकित करते हैं। 'हाशिए पर' लिखे गये लेखों में उन्होंने उन कहानियों पर विचार किया है, जिनकी ओर पाठकों का ध्यान नहीं गया था। जो 'क्लासिक्स' थे, उन पर उनकी नज़र थी और कहानियों के विश्लेषण से उन्होंने यह दिखाया कि कहानी-समीक्षा की एक पद्धति यह है! बेशक, यह एक नयी पद्धति थी, पर कविता में पहले से यह लागू की जा चुकी थी। छायावादी कविता के विवेचन-विश्लेषण में उन्होंने जो पद्धति लागू की, उसका एक बड़ा हिस्सा कहानी के विश्लेषण में भी अपनाया। कहानी उनके लिए एक 'सार्थक घटना' है और कहानी का पहला कार्य इस घटना का अर्थ उद्घाटित करना है। उनके सामने हेमिंग्वे, ज्वाइस, काफ़्का, चेखव, आइज़क बैबेल की कहानियां थीं - 'ईसप' के 'फेबुल' से मिलती-जुलती, महत्व कहानी के छोटे

होने का नहीं था। 'छोटी है मगर कहानी तो है।' कहानी के 'पिंड' में 'ब्रह्माण्ड' का दर्शन वे कर रहे थे। इस दृष्टि-निर्माण में पश्चिम के कथालोचकों की भी भूमिका थी। अमरीकी समीक्षक एडविन बेरी वर्गम ने चेखव की एक अल्प परिचित कहानी 'अन्ना आन दि नेक' की जो व्याख्या की थी, वह नामवर को पसंद आई थी। वर्गम में इस कहानी के केन्द्र बिंदु में अन्ना को न रखकर उसके उन दो छोटे भाइयों को रखा था, जो कहानी में केवल दो बार आते हैं और केवल दो-दो शब्द बोलते हैं। कहानी का ऐसा अर्थोद्घाटन मुख्यतः चेखव की कहानियों से आरंभ हुआ था। पश्चिम में आधुनिक कहानी का आरंभ हॉथार्न और एडगर एलेन पो से माना गया है। उन्नीसवीं सदी से इस विधा का आरंभ हुआ था। रुस और फ्रांस के कहानीकारों ने 'कहानी' का आधुनिक रूप स्थिर किया था। पो के यहां कहानी का आदि, मध्य और अंत था, पर चेखव के यहां नहीं, चेखव ने ही पहली बार कहानियों में 'मूड' को महत्व दिया। ओ'हेनरी प्लॉट के मास्टर थे, पर चेखव के यहां कहानी के प्लॉट का कोई महत्व नहीं था। निर्मल ने चेखव की कहानियों का 'अन्त' देखा। 'कहानी की मृत्यु' की चर्चा निर्मल ने 1962 में की थी। निर्मल ने चेखव की परम्परा से मुक्ति पाने की बात कही- "प्रश्न चेखव की परम्परा को बढ़ाने का नहीं, उससे मुक्ति पाने का है।" 'प्रेमचन्द की परम्परा' भी उनके लिए 'सिर्फ एक छाया' थी - 'अप्रासंगिक'। पचास के दशक में कहानी से गोर्की बाहर हो चुके थे और चेखव आ गये थे। चेखव की कहानी 'अन्ना आन दि नेक' की बर्गमीय व्याख्या से प्रभावित होकर नामवर ने लिखा - "क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कहानी में जिन चरित्रों का महत्व नगण्य हो और जो कहानी के घटना-विन्यास में कोई भूमिका अदा न करते हों, उन्हीं में कहानी का वक्तव्य निहित हो।" (कहानी: नयी कहानी, वही, पृ. 115) इसके लिए यह आवश्यक था कि कहानी बार-बार पढ़ी जाए। अब कहानी सामान्य पाठक से दूर विशिष्ट पाठक तक जा पहुंची थी। नामवर का कहानी के मूल पाठ पर बल और उसमें 'गहन अर्थ-संभावना' और 'संकेतिकता की तलाश' मुख्य थी। आलोचक का काम हुआ 'कहानी में स्थूल-सूक्ष्म संवेदनाओं की ओर संकेत दिखाना यह सबके वश की बात नहीं थी, न है। कहानी का अभिप्रेत, मूल आशय को समझने-समझाने में आलोचक की बड़ी भूमिका नहीं थी।' कहानी ही बताएगी कि उसका मूल अभिप्रेत कहां है? नामवर ने लिखा - 'न ये समझने की बातें हैं, न समझाने की।' (वही)

ई.एम. फोर्स्टर ने कहानी-संबंधी कुतूहल को 'हेम' कहा था। नामवर कहानी में 'कुतूहल का तेज' भी देख रहे थे। उसने कहा था कहानी को उन्होंने केवल

कहानी न कहकर 'कहानी की एक परिभाषा भी' कहा। जिस 'कुतूहल' से कहानी का जन्म हुआ था, वह 'कहानी-संबंधी बोध का सबसे निचला स्तर' क्यों माना गया? नामवर कहानी में कुतूहल को परिवर्तन में दिलचस्पी और नए की संभावना में विश्वास के रूप में देख रहे थे। कहानी के जितने पक्ष हो सकते हैं, सब पर उनकी नजर थी। उनके सामने अलिफ लैला की शहरजाद थी और निर्मल की लतिका भी। किसी एक दृष्टि से दोनों को ही नहीं, कहानी के इस लम्बे इतिहास को भी देखना असंभव था। 'पठार का धीरज' कहानी को जिस तरह देखा जा सकता था, उस तरह 'किलर्ज' को नहीं। प्रश्न एक साथ कई थे, कहानी का, नयी कहानी का, अच्छी कहानी का। क्या यह 'सहयोगी प्रयास' से संभव था? बड़ी बात थी 'कहानी की अचूक पहचान'। "एक अचूक पहचान के आगे समीक्षा के सैकड़ों सिद्धान्त फीके हैं।" (वही, पृ. 133) सिद्धान्त को लीविस ने महत्व नहीं दिया था। नामवर कैसे देते? "सिद्धान्त तो एक पहचान को केवल 'सर्व सामान्य' रूप देने का कार्य करते हैं, ...सिद्धान्त के द्वारा उस पहचान को अधिक से अधिक एक ठोस, वस्तुगत एवं युक्तिसंगत आधार मिलता है।" (वही) नामवर के पास कभी कोई मानदण्ड नहीं रहा। "यदि है तो एक प्रयोग की चुनौती।" (वही, पृ. 134) उनके सामने यह समस्या थी (शायद अब भी हो!) कि अच्छी कहानी का निर्णय कैसे किया जाये? विषय वस्तु, कला-कौशल, सम्पूर्ण प्रभाव ('पड़ा' और 'ग्रहण किया हुआ') में से किसी एक को नहीं लिया जा सकता था। भाषा-शैली की प्रशंसा 'आलोचनात्मक असामर्थ्य' का सूचक है। हेमिंग्वे की कहानी 'किलर्स' की भाषा की प्रशंसा की गयी थी। उन्होंने इस भाषा को एक विशेष प्रयोजन से जोड़ा। "यह आदिम भाषा मनुष्य को नितान्त आदिम स्थितियों में चित्रित करने के लिए है।" (वही, 121) विषयानुसार कहानियों की चर्चा उनके लिए बेमानी थी। वर्गीकृत कहानियों वर्गीकृत विज्ञापनों की याद दिलाती हैं। कहानियों के वर्ग बनने से पाठकों के भी वर्ग बनते हैं, जिससे कहानीकार 'टाइप' कहानियां लिखने को मजबूर होता है। उस पर पाठक की मांग का असर पड़ता है, जो कहानीकार के लिए घातक है। तब "कहानी एक भोंड़े यथार्थवाद या यथातथ्यवाद के स्तर पर उतरने के लिए लाचार है।" (वही, 123)

नामवर ने 'हाशिए पर' के सभी निबंधों में कहानियों पर बड़ी गहराई से विचार किया है। उनके इस विचार से कथालोचना के जो सूत्र बनते हैं, उसे उन्होंने सूत्र बद्ध नहीं किया। इस सूत्रबद्धता के वे खिलाफ रहे हैं। कहानी उनके लिए मुख्यतः एक 'कलाकृति' है, जिसे कई कोणों से देखा जाना चाहिए। ये कोण,

दृष्टिकोण पूर्ण निर्धारित नहीं हैं। कहानी को लेकर वे कई प्रश्नों से जूझते रहे हैं। कहानी के कई स्तर हैं और सभी स्तर 'परस्पर समानान्तर सहजीवी और संयुक्त' हैं (वही, पृ. 112) अंग्रेजी के प्लाट 'शब्द के 'षडयन्त्र', 'कुचक्र' आदि रहस्यपरक अर्थों की न केवल उन्होंने बात की, बल्कि गंभीर कथाकारों द्वारा 'प्लॉट' के प्रति प्रकट की गयी वितृष्णा का भी उल्लेख किया। यह दूसरी बात है कि ऐसे 'गंभीर कथाकारों' के उन्होंने नाम नहीं बताए। विचार से आरंभ होने वाली कहानियों ने उनके अनुसार गलती की (वही, पृ. 127) और दूसरी ओर 'एक छोटे से विचार-कण में' उन्होंने वह 'शक्ति' देखी, "जैसे एक विशाल खनिज-राशि में से निकाला हुआ परमाणु।" (वही, पृष्ठ 124) यह 'विचार' और 'विचार-कण' के बीच का अंतर है। कला और साहित्य के क्षेत्र में 'नवअन्वेषण की वृत्ति' ही नामवर के अनुसार सृजनशीलता है। प्रश्न जीवन और समाज-संबंधी भावबोध भी नवीनता और प्राचीनता का है। 'वापसी' कहानी का भावबोध नया है और 'एक शिल्पहीन कहानी' का पुराना। कहानी में जटिलता जरूरी है। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' में सब कुछ साफ है। नामवर भावुक एवं भाव-प्रवण कहानियों में भेद करते हैं, कहानियों में 'संयोग-घटित घटनाओं' की सही आलोचना करते हैं, भावुकता को 'एक निश्चित जीवन-दृष्टि का परिणाम' मानते हैं, कहानी के विभिन्न अवयवों के 'आन्तरिक समवाय' को आवश्यक समझते हैं, छोटी-सी घटना में भी 'निरपेक्ष मानवीय सत्य' को उद्घाटित करते हैं, पुरानी जीवन-दृष्टि की तुलना में नयी जीवन-दृष्टि को महत्व देते हैं। वे कहानी का जिस कौशल और खूबी से 'अन्तरंग विश्लेषण' करते हैं, वह अनोखा और अनूठा है। इस अन्तरंग विश्लेषण के लिए कहानी पढ़ने की पद्धति को "परिष्कृत बनाने की आवश्यकता है। मुख्य प्रश्न पद्धति का है प्रतिमान का नहीं... साहित्य-समीक्षा में भी बने-बनाए प्रतिमानों की अपेक्षा पाठ-प्रक्रिया पर जोर देने की ज़रूरत है... एक अरसे से यथाशक्ति मैं वही कार्य कर रहा हूँ और अपने ख्याल से सैद्धान्तिक ढंग से सामान्य बातें न कहते हुए भी सिद्धान्तों के निर्माण में योग दे रहा हूँ।" (वही, पृ. 163) यह सच है कि नामवर ने कहानी-संबंधी पूर्ववर्ती धारणा बदली और कहानी को नये कोणों से देखने की एक नयी दृष्टि दी। यह नयी दृष्टि-कथा-दृष्टि उनकी काव्य-दृष्टि से क्या सचमुच भिन्न है? उन्होंने अपने ढंग से कहानियों को रेखांकित-विश्लेषित किया, पर 'नयी कहानी : नये संदर्भ' (माया, नववर्षाक 1965) लेख जो कहानी-संबंधी उनका अंतिम लेख है 'कहानी: नयी कहानी' का 'प्रतिपत्ति' खंड के आरंभ में आयरिश लेखक फेंक ओ'कोनार को उद्धृत किया है, जिन्होंने कहानी को

‘समाज की सरदों पर लड़ी जाने वाली गुरिल्ला लड़ाई’ माना है। हिन्दी में कहानी पर विपुल चर्चा और ‘दूसरे देशों में इस विषय पर एकदम सन्नाटा’ क्यों था ? हिन्दी कहानी पर विपुल चर्चा का मुख्य कारण स्वतंत्र भारत की बदली स्थितियों से था। आजाद भारत में कई परिवर्तन हो रहे थे। इस विविधता को कविता से अधिक कहानी समेट सकती थी। कहानी के इस नये उत्थान का यह एक प्रमुख कारण था। इस अंतिम लेख में नामवर ने ‘इतिहास के पूरे परिदृश्य में वस्तु स्थिति को स्पष्ट’ किया है। दो वर्ष बाद नामवर कहानी पर यह लेख लिख रहे थे। दिसम्बर 1962 के ‘हाशि ए पर’ अपने स्तंभ के बाद। इसके पहले 1964 में धर्मयुग में प्रतिनिधि नयी कहानियों की एक श्रृंखला प्रकाशित हो चुकी थी। जिसमें पिछले एक दशक के महत्वपूर्ण छब्बीस कथाकारों की कहानियां थी। 1960 से 1964 के बीच नयी कहानी पर कई लेख लिखे जा चुके थे। कई गोष्ठियां हो चुकी थी। बाद में 24, 25, 26 दिसम्बर 1965 को कलकत्ता में भारतीय संस्कृति संसद ने कहानी पर एक बड़ा आयोजन किया था।

नामवर के अंतिम लेख में कहानी-दशक की विस्तृत चर्चा है। कहानी में उन्होंने नयी कहानी वाली पीढ़ी के गतिरोध तोड़कर आने की बात कही है। ‘पीड़ा भरी प्रतीक्षा’ को उन्होंने इस काल की कहानियों का मुख्य स्वर माना और अमरकान्त की ‘डिप्टी कलक्टरी’ को भी शामिल किया। यह लेख एक प्रकार से नयी कहानी का लेखा जोखा है। इस समय भी वे ‘जीवन और यथार्थ’ को ‘चिर परिचित गोल-मोल शब्द’ कह रहे थे। उन्होंने ‘नवलेखन के मूल में एक-सी बुनियादी संवेदनाओं’ को ‘ऐतिहासिक आवश्यकता’ माना। कहानी में ‘एक रचनात्मक खोज की शुरुआत’ हुई थी और आलोचना में भी। नयी कहानी के भावबोध को नामवर ‘आजादी के प्रथम आवेग की मनोदशा के पूरे मेले में’ देखते हैं। नामवर के इस लेख में दूर-दूर तक शीतयुद्ध की कोई चर्चा नहीं है। नये कहानीकारों में ‘विचारधारा मात्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया’ उन्हें दिखाई पड़ी, पर इस ओर ध्यान नहीं गया कि इस दशक में पूंजीवादी विचारधारा ने किस प्रकार कथा और साहित्य में अपनी पैठ बनाई। नये कहानीकारों द्वारा ‘प्रत्यक्ष अनुभव पर अधिक बल’ वे देखते हैं और ‘राजनीतिक आजादी’ से नये कथाकारों की ‘मानसिक मुक्ति’ को जोड़ते हैं। लेखक के निजी अनुभव की कहानियों में प्रमुखता क्या उसके सामाजिक अनुभव की कमी के कारण नहीं थी ? ‘नयी कहानी’ की पांच त्रयियों की बात की जानी चाहिए। एक मित्र त्रयी कमलेश्वर, राकेश और यादव की थी, जिसने ‘जेन्युइन त्रयी-अमरकान्त, शेखर जोशी और भीष्म सहानी को किनारे किया। एक तीसरी त्रयी मार्कण्डेय, रेणु और

शिवप्रसाद सिंह की थी, जिन्हें आरंभ में ग्राम-कथाकार कहा गया था। चौथी त्रयी निर्मल, रामकुमार और कृष्ण बालदेव वैद की है और पांचवीं त्रयी मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती और उषा प्रियम्बदा की। कुछ त्रयियां और भी बनाई जा सकती हैं, जो विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। संभव है, इन पांच त्रयियों की बात नयी कहानी के कुछ आलोचकों को अनुचित लगे, पर देखने की बात यह है कि नामवर निर्मल और मित्र-त्रयी से जुड़े रहे। उन्होंने अन्य कहानीकारों की चर्चा की, उनकी कहानियों की खूबियां बतायीं, जिसे उन्होंने 'नयी कहानी का झंडा बरदार' कहा है। 'हकदार' नहीं, वे मित्र त्रयी ही थे। इनमें नामवर ने 'समझौतावाद' और व्यवसायवाद देखा। कमलेश्वर 'नई कहानियां' के सम्पादक बन चुके थे। नामवर ने इन 'झंडावरदारों' में 'नये सृजन की संभावना समाप्त' देखी। नामवर की परिन्दे-आलोचना ने बाद में इस मित्र-त्रयी को इकट्ठा किया, फिर 'हाशिए पर' के स्तंभ में भी। नामवर ने कहानी को एक नये कोण से देखा था। वे शिल्प, संवेदना, बिम्ब वातावरण, भाषा को अलग-अलग न देखकर 'कथ्य की समग्र सम्मिलित इकाई' के रूप में देख रहे थे। उनमें नयी चमक और कौंध थी। स्थिरता का अभाव था। कहानीकारों, पाठकों और सम्पादकों का चमत्कृत होना स्वाभाविक था। "कथा के क्षेत्र में काव्य-समीक्षा जैसा समृद्ध कोई आलोचना-पद्धति नहीं थी, इसलिए नामवर ने आते ही हम सबको चमत्कृत, मुग्ध कर लिया। उनके शब्द मोहक थे, बातें महीन थीं, दृष्टि तेज थी और अन्दाज नया था, इसलिए सहसा सभी को विश्वास हो गया कि बहुत दिनों बाद या शायद पहली बार कथा-समीक्षा को एक सशक्त कलम मिली है। उन्होंने देखते-देखते हम सबका विश्वास और अन्धश्रद्धा अर्जित कर ली। राजेन्द्र यादव, 'कहानी: स्वरूप और संवेदना; 1968, पृष्ठ 150) नामवर ने नये कहानीकारों में, विशेषतः मित्र त्रयी की कहानियों में 'नयी प्रगतिशीलता' के नाम पर 'फार्मूलाबद्ध और व्यावसायिक लेखन' देखा। उन्होंने इन कहानीकारों को 'अवसरवादी' घोषित किया। "आज राकेश, कमलेश्वर और यहां तक कि यादव भी वही करने लगे हैं, जो पन्द्रह-सोलह साल पहले किशनचन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास वगैरह ने शुरू कर दिया था। लक्ष्य वही है, रास्ता चाहे अभी दूसरा हो।" (कहानी: नयी कहानी, वही, पृष्ठ 90-91) अब वे मुक्तिबोध को याद करने लगे, जिन्होंने अवसरवादी दृष्टि को खत्म करना 'आज की सबसे बड़ी आवश्यकता' कहा था। अब नामवर इन कहानीकारों के 'अनुभववाद' की आलोचना करने लगे, जिसमें 'ज्यादा आगे ले जाने की क्षमता' नहीं है। कहानी से विचार को वे पहले ही अलग कर चुके थे। फिर बच क्या जाता है। क्या नामवर की आलोचना में वह माहौल तैयार नहीं किया, जिससे कहानीकार

दिग्भ्रमित हों? “बहुत शीघ्र ही नामवर के संस्कार और बौद्धिक अपेक्षाओं के अन्तर्विरोध साफ आने नज़र लगे और लगने लगा कि सारी साहित्य-चेतना को फिर एक गलत दिशा दे दी जा रही है... और इस घपले में पूरी की पूरी एक पीढ़ी दिग्भ्रान्त हो उठी।” (राजेन्द्र यादव, वही) नामवर कहानीकारों में एक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि नहीं देख रहे थे। क्या यह जीवन-दृष्टि, आलोचना दृष्टि उनकी कथालोचना में दिखाई देती है? वह कहां है? कैसी है? उन्हें इन नये कहानीकारों की ‘आस्था’, ‘कमिटमेंट’ आदि की बात ‘व्यावसायिक’ लगी थी। निर्मल वर्मा का जादू अभी बरकरार था। “कौन जाने हिन्दी में जिस निर्मल वर्मा और इधर पलायनवादी कहा जा रहा है, वे अन्ततः इन तथाकथित ‘सामाजिक कहानीकारों’ से ज्यादा सामाजिक और बुनियादी रूप में अपने युग के सच्चे प्रवक्ता प्रमाणित हों, जैसे अंग्रेजी में आल्डस हक्सले को जेम्स ज्वाइस से अलग किया जाता है, लगभग उसी तरह?” (कहानी: नयी कहानी, वही, पृ. 193) नामवर के यहां ‘सामाजिक दृष्टि’ से अधिक महत्वपूर्ण ‘सर्जनात्मक दृष्टि’ है। यह ‘क्रिएटिव विज़न’ नये कहानीकारों में से केवल निर्मल वर्मा में था। मित्र त्रयी ने सामाजिकता का प्रश्न नामवर के ‘परिन्दे’ वाले लेख के बाद सामने रखा। इन कहानीकारों पर अपने इस अंतिम लेख में नामवर ने जमकर प्रहार किया और इनके सामने ‘लन्दन की एक रात’ कहानी रखी, जिसे पढ़कर “यह महसूस होता है कि आज का विश्व क्या है, कहां जा रहा है और इस विश्व में हम कहां हैं, हमारी स्थिति क्या है।” (वही, पृ. 194)

साठ के बाद की कथा-पीढ़ी को नामवर ने निर्मल वर्मा की ‘एक शुरुआत’ से जोड़ा। इस कथापीढ़ी में उन्होंने छह कथाकारों- रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, प्रबोध कुमार, विजय चौहान और काशीनाथ सिंह की एक-एक कहानी का उल्लेख कर इनके द्वारा आज की सामाजिक सतह के नीचे के ‘मानव नियति’ और मानव स्थिति संबंधी बुनियादी प्रश्नों को उठाने की बात की। अब वे इन नये कहानीकारों के पक्ष में फ्रांसीसी कथाकार ‘रॉब ग्रिए’ का कथन पेश कर रहे थे। श्रीकान्त वर्मा को भी इन नये कहानीकारों के साथ रखा क्योंकि उनका कहानी-लेखन 59-60 से आरंभ हुआ था। न्याय के लिए इन कहानीकारों पर ‘स्वतंत्र विचार अपेक्षित’ था, जो उस समय वे न कर सके और न बाद में। उनके अनुसार “यह भी एक शुरुआत है - संभानना पूर्ण शुरुआत।” (वही, पृष्ठ 196) ‘माया’ में इस लेख के प्रकाशन के तुरंत बाद जनवरी 1965 में चंडीगढ़ में एक गोष्ठी हुई थी। कमलेश्वर ने लिखा है “गोष्ठी के समय उन्होंने चंडीगढ़ कॉफी हाउस के बाहर अंधेरे में यह

कहा था। भाई, वह माया वाला लेख तो 'पालिमिक्स' था। सच बात तो यह है कि मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव तो चुक गये हैं... उनमें वैचारिक स्पष्टता भी नहीं है, इस दृष्टि से भाई कमलेश्वर तुम ही सबसे ज्यादा सुलझे हुए और हमारे नजदीक हो। इन्द्रनाथ मदान ने सुनकर यह कहा "नामवर जी, आप यही बात आज ही मोहन राकेश से कह चुके हैं।" ('नयी कहानी की भूमिका', 1966, पृष्ठ 107) नामवर की 'एक और शुरुआत' की घोषणा को कमलेश्वर ने 'दलबन्दी का क्रम' कहा, जिसका नुकसान नयी कहानी ने उठाया है।" (वही, पृ. 141) नामवर के मित्र राजेन्द्र यादव नामवर की दिलचस्पी मुद्दों में कम देखते हैं, उन्हें 'चमत्कारी आलोचक' कहते हैं, पैंतीस वर्ष तक यह नहीं जानने की बात कहते हैं कि वे "हिन्दी कहानी से आखिर क्या चाहते हैं? कहानी को लेकर उनकी जो धारणाएं तब थीं, वही आज भी हैं।" वे राजस्थानी कहावत का जिक्र भी करते हैं। "जन-जन का मन रखती, बेसिया रह गई बांझ।" (कहानी, नामवर सिंह और मुख्य धारा, नामवर के विमर्श, 1995)

क्या सचमुच नामवर ने 'सैपर्स एण्ड माइन्स' की भूमिका निबाही? क्यों उन्होंने - 'झाड़-जंगल' साफ किया? 'जरूरी पुल' बनाया? क्या उन्होंने कोई 'जोखिम' उठाया? निरन्तर उनकी आलोचना हुई, पर वे केंद्र में बने रहे। क्या वे सचमुच रचनाकारों के 'सहचर' बने? क्या सचमुच उन्होंने कथा-समीक्षा की? कोई पद्धति विकसित की? उनका 'सहयोगी प्रयास' कब तक बना रहा? कथा-पद्धति निकालने की उनकी कोशिश क्यों मान्य नहीं हुई? उनकी कथा-समीक्षा में तेज, चमक, कौंध है, पर इससे विचार दृष्टि, आलोचना-दृष्टि क्या सचमुच बनी? एक दशक (1956-65) की उनकी चिन्तन-यात्रा अन्तर्विरोधों से भरी है। क्या उन्होंने अपनी कथालोचना से पाठकों, कथाकारों और कथालोचकों को कोई दिशा-दृष्टि दी। वे कथालोचकों में विजयमोहन सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी को याद करते हैं, पर उन्हें सुरेन्द्र चौधरी याद नहीं आते, जिन्होंने उनकी तुलना में कथाकारों-कथालोचकों और पाठकों को सही मार्ग दिखाया। 'कहानी: नयी कहानी' के बाद लगभग डेढ़ दशक तक उन्होंने कहानी पर न के बराबर बात की। यह सिलसिला अस्सी के दशक से उनके इण्टरव्यू और व्याख्यानों से आरंभ होता है। इसे भी देखने-समझने की जरूरत है।

दो हिस्सों में नामवर सिंह की कथा आलोचना के बाद रविभूषण, देवीशंकर अवस्थी, विश्वनाथ त्रिपाठी, विजय मोहन सिंह की कथा आलोचना पर भी लिखेंगे। यह जारी रहेगा। सूचनार्थ, विद्वान आलोचक की पहली किताब शीघ्र राजकमल से प्रकाशित होगी

पहल विशेष/मूल्यांकन/तीन

जीतेन्द्र गुप्ता

देवीप्रसाद मिश्र के प्रयोग

कविता की मुक्ति को समर्पित

कार्ल मार्क्स और फेड्रिक एंगेल्स ने 1848 में कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो में पूंजीवाद के आगमन के साथ तत्कालीन समाज में विद्यमान सामुदायिक संबंधों में होने वाले बदलाव को रेखांकित करते हुए लिखा था, 'पूँजीपति वर्ग ने, जहां पर भी उसका पड़ला भारी हुआ, वहां सभी सामंती, पितृसत्तात्मक एवं काव्यात्मक संबंधों का अंत कर दिया'। राजनीतिक व सामाजिक स्तर पर इस वाक्य का जितना महत्व है, साहित्य के स्तर पर भी उतना ही महत्व है। साहित्य के स्तर पर इस वाक्य का जितना महत्व 'विचार' के स्तर पर है, उतना ही रूप या संरचना के स्तर पर भी है। मध्यकाल की सर्वोच्च साहित्यिक उपलब्धि के रूप में महाकाव्यों का संबंध सामंती समाज से है और महाकाव्यीय चेतना कहने से आशय उसी संदर्भित समाज के विश्वबोध से है। सीधे और सरल शब्दों में जिसका तात्पर्य चेतना की अंतर्मुखी स्थिति और समय की चक्रीयता से है। इस चेतना का संबंध इस विश्वास के साथ है कि न्याय सर्वोच्च है और उसे घटित होना है। इसी को भगवत् गीता में इस तरह कहा गया है, 'यदा यदाहि धर्मस्य... संभवामि युगे युगे' और तुलसीदास ने इसी विचार को इस तरह व्यक्त किया था, 'जब जब होई धर्म की हानि, बाढ़हि अधम असुर अभिमानी/तब तब धरि प्रभु विविध शरीरा, हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा'।

पूँजीवाद ने सामंती समाज के महाकाव्यात्मक संबंधों को तो नष्ट किया ही, साथ ही रूप और शैलीगत स्तर पर भी महाकाव्यों का मर्सिया पढ़ दिया तात्पर्य यह कि पूंजीवाद ने उन सारे सांस्कृतिक, सामाजिक आधारों को ही नष्ट कर दिया, जो महाकाव्यों को जन्म देते थे। अब शाप-वरदान की जटिल प्रक्रिया से इतर कैसे-

कौड़ी के लेन-देन ने अपनी अर्थवत्ता कायम कर ली। यही कारण है कि पूंजीवाद के आगमन के साथ साहित्य में उपन्यास (गद्य) जैसी विधा के जन्म को देख पाते हैं, कविता में पद्यात्मकता का झुकाव गद्यात्मकता की ओर देख पाते हैं (मुक्त छंद, फ्री वर्स या ब्लैंक वर्स आदि रूपों में)।

इस पूरे विवरण का तात्पर्य कुल इतना है कि इस बात को रेखांकित किया जा सके कि समाज में आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक आधारों के बदलाव के साथ साहित्य में विधा के स्तर पर भी बड़े परिवर्तन होते हैं। इन्हीं संदर्भों के साथ देवीप्रसाद मिश्र का नाम कविता के संदर्भ में इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि उन्होंने हमारे सामाजिक परिवर्तन को न केवल विचार के स्तर पर, बल्कि संरचना के स्तर पर भी अपनी कविता में विन्यस्त किया है। 'हर इबारात में रहा बाकी' और 'यह एक और आखिरी वाक्य है' केवल हिन्दी नहीं बल्कि वैश्विक कविता-साहित्य के स्तर पर एक ऐसा अप्रतिम प्रयोग है, जो विस्तारित स्तर पर अपने समय की हर एक हलचल को स्वयं में आत्मसात किए है। और इस लेख में मूल रूप से इन दोनों कविताओं पर ही विचार करने का प्रयास किया गया है।

'हर इबारात में रहा बाकी' और 'यह एक और आखिरी वाक्य है' को देवी ने तीन समानांतर कॉलमों में लिखा है, जहां ये कॉलम स्वतंत्र रूप से पढ़े जा सकते हैं, तो दूसरी ओर ये सभी कॉलम परस्पर संवादी हैं। इस संरचना के बारे में कवि की अपनी राय कुछ इस तरह से है, 'हम प्रमुख और उप, सहमति और द्रोह, सत्ता और बेदखल, युक्ति और विफलता के सजग या पैसिव श्रोता हैं। तो अगर बाक्रायदा हमारा विकल कर देने वाला अगल और बगल है तो पाठों की अनेकता के विमर्श युग में हाशिए की खुसर-पुसर भी सुनी जानी चाहिए। ये मुख्य मार्ग के आस-पास की पगडंडियां हैं।'।

लेखक की राय से नाइल्फाकी का यहां कोई सवाल ही नहीं उठता है क्योंकि 'सृजन-मूल्य' के स्तर पर उससे अधिक प्रमाणिक कोई हो नहीं सकता है। लेकिन यहां मैं इस प्रश्न पर विचार करने का प्रस्ताव कर रहा हूं कि हमें इस 'खुसर-पुसर' को सुनने की जरूरत क्यों है?

देवी के इस प्रयोग से पूर्व की समस्त कविताएं देखें तो संरचना के स्तर पर सभी में एक महान समानता मौजूद है कि यह सभी 'एक-पाठीय' (एक कॉलम भी कह सकते हैं) हैं। इसी के समानांतर इस बात पर विचार करें कि सामंतवाद पर अंतिम चोट करने के बाद पूंजीवाद ने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का निर्विवाद प्रसार किया है। सीधे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि इस विद्यमान

व्यवस्था में विचार से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक में व्यक्ति किसी भी चीज़ का अनुसरण करे या न करे, विश्वास करे या निषेध करे, परन्तु 'राष्ट्रवाद' के विचार का 'व्यवहारिक' रूप से न तो निषेध कर सकता है, न ही निषेध के लिए कोई संभावना है।

असल में इस निषेध की संभावना इसलिए नहीं है क्योंकि हमारे समय की विचारधारा 'राष्ट्रवाद' है। कई बार यह समझने में भूल हो जाती है कि पूंजीवाद का मूल वैचारिक आधार क्या है। इसके लिए पूंजीपतियों द्वारा किए गए आर्थिक नवाचारों को रेखांकित किया जाता है, लाभ और शोषण की यांत्रिकी को चिह्नित किया जाता है, लेकिन वास्तविकता इससे बिल्कुल भिन्न है। असल में पूंजीवाद के वैचारिक आधार का मूल स्रोत 'राष्ट्रवाद' है। और इसी विचार के जरिए लाभ के लिए राष्ट्रीय सीमाओं के तर्क के आधार पर समाज के हर एक वर्ग को नियंत्रित रखा जाता है। विचारधारा के इस आधार की तुलना मध्ययुग में 'धर्म' जैसे विचार के साथ कर सकते हैं। राष्ट्रवाद आज के समय में उतना ही पवित्र शब्द है, जितना मध्ययुग में धर्म था। वर्तमान में मुक्ति के लिए जितने भी विचार (चाहें तो अस्मिताएं पढ़ लीजिए) हैं, वे तक स्वयं को 'राष्ट्रवाद' के आच्छादक विचार से मुक्त नहीं कर पाए हैं। इस विचार की ताकत का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इसके साथ नैतिकता तक का समावेश है यानि इसका विरोध करना 'पाप' के समान है! इस तरह हम यहां रेखांकित कर सकते हैं कि हमारे समाज का मुख्य 'नैरेटिव' राष्ट्रवाद है। और यह साहित्य में एक धारा-एक कॉलम- एक संवाद के जरिए सामने आता है।

इस तरह देवी की कविता (और उसकी विषय वस्तु) अपनी पूरी संभावनाओं में इस एकल संवाद के विरोध में है और कविता की संरचना के स्तर पर इसे अप्रतिम प्रयोग कहा जा सकता है। हालांकि विचार के स्तर पर साहित्य में राष्ट्रवाद जैसे विचार का रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 20 सदी के आरंभ में ही विरोध किया था, लेकिन संरचना के स्तर पर भी इस विरोध के लिए हमें एक सदी का इंतजार करना पड़ा है। जिस तरह मार्क्स ने 1848 में लिखा था, 'मजदूरों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उसके पास है ही नहीं उसे उनसे छीना नहीं जा सकता है।' उसी तरह साहित्य के स्तर पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसकी घोषणा 1907 में यह कहते हुए की थी कि 'स्वयं को प्रांतवाद की संकीर्णता से मुक्त करके और विश्व साहित्य की सार्वभौम ईकाई के तौर पर देखना, और इसी समग्रता में हर एक लेखक की रचना को समझना और व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति के हर एक प्रयास में मौजूद अंतर्संबद्धता को देख

पाना ही वह उद्देश्य है, जिसके प्रति हमें प्रतिबद्ध रहने की जरूरत है।'

लेकिन यहां यह दोहराना बहुत जरूरी है कि तीन कॉलमों में 'कुछ भी' लिख देने का तात्पर्य 'राष्ट्रवाद' का विरोध करना नहीं होता है। इसके लिए विषय-वस्तु यानि विचार के स्तर पर भी प्रमाण की जरूरत होती है। इस लेख के आगे के हिस्से में इस तथ्य के विश्लेषण का प्रयास किया जाएगा।

राष्ट्र, जो कि एक अर्थ में अमूर्त अवधारणा है, के विचार को रूपायित करने वाली हर एक सामाजिक परिघटना को देवी संज्ञान में रखते हैं। इस तरह वे नारेबाजी के अर्थों में नहीं, बल्कि राष्ट्र जैसे विचार का समाज के जितने भी संस्तरों पर प्रसार है, उसे चिह्नित करते हैं और सामाजिक अंतर्विरोधों को रेखांकित करने के स्तर पर इस विचार की आलोचना करते हैं। देवी अपने नवीनतम् प्रयोग की कविताओं में हमारे समाज की हर एक हलचल को बांधते हैं। उनके लिए महत्वपूर्ण सवाल है कि

	यथार्थ दबंग है तो	
न्याय मुझको चाहिए हर रोज	कहना भी जंग है	
चाय जैसे रोज	कितने ही मोर्चे हैं	
दो कप कम से कम	कितने ही संस्तर	कैसे बहुत ठीक भाषा में
	कलह और झड़पों की	कहा जाए यह सदेहास्पद
	कितनी ही ज़बानें	
	और कितनी ही लड़ाइयां	
	कितने ही डर	
	और कितने ही समर	

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

शिल्प के स्तर पर ही देखें तो 'राष्ट्रवाद' के विचार ने एक खास तरह के मानकीकरण को प्रस्तावित किया है। महाकाव्य तो संरचना और शैली के स्तर पर मध्यकालीन बोध को आत्मसात किए हुए हैं। परंतु छंद आदि काव्य शिल्प के जो भी रूप रहे हैं, वे 'आधुनिकता' या 'राष्ट्रवाद' के प्रभाव में त्याज्य ही रहे हैं। लेकिन देवी ने बड़े गौरव के साथ समानांतर आवाजों के रूप में इन काव्य रूपों को जगह दी है:

राजनीति इतनी कर डाली
नदी हो गई कितनी काली
जहां बहुत भाई होते थे वहां

बहुत बहनों को गाली

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

विशुद्ध भारतीय- उत्तर क्षेत्र के अनुभव को सामने रखें, तो भाषा के स्तर पर 'राष्ट्रवाद' के विचार की अभिव्यक्ति खड़ी बोली हिन्दी के रूप में देख सकते हैं। 'राष्ट्रवाद' का विचार ही भाषा के मानकीकरण का मुख्य आधार था।

अवधी में कहते तो कहते
बोली बहुत खड़ी कर डाली
काहे इतनी बार मर्दवा
परिवर्तन की तिथियां टाली

(यह एक आखिरी वाक्य है, पहल-82)

हमारे समय की बर्बरता, हिंसा, लंपटता को वह जिस तरह से चिह्नित करते हैं, उससे भी अधिक आवेग के साथ वह परिवर्तन की मांग और नवजीवन के स्वप्न को सामने रखते हैं। काव्य विचार के स्तर पर कवि की वैधता का यह स्रोत इसलिए भी हो जाता है कि वह अन्याय, हिंसा और शोषण की किसी भी आहट को विस्मृत नहीं करता है। पूर्वोक्त पंक्तियां हमारे समाज के सबसे जटिल प्रश्न की कीमियागिरी या संरचना को रेखांकित करती हैं जो मनुष्य की नैसर्गिकता में है, जिसे भूख की तरह स्थगित नहीं किया जा सकता है। कविता की यह नवीन संरचना ही इस संभावना को जन्म देती है कि एक ओर कवि 'चाय दिन में दो कप कम से कम' के स्तर पर 'न्याय' के लिए अपनी जिद कायम रख पाए और दूसरी तरफ यह संभव भी कर पाए कि क्या कहीं कोई आवाज छूट तो नहीं गई।

देवी के पास इस तरह के सवाल और तनावों का होना इस बात को संकेतित करता है कि वह हमारा समकालीनता को किसी फार्मूले के जरिए नहीं समझना चाहते हैं; बल्कि वह इस समकालीनता को समकालीन जटिलता के आधार पर समझने और संप्रेषित करने के यथार्थ से दो-चार हैं। वर्ग, जाति, धर्म, समुदाय, लिंग पर आधारित चिंतन यह सुविधा देता है कि यथार्थ के लिए सीमाएं नियोजित की जा सकें। इस चिंतन पद्धति का प्रतिरोध वास्तव में हमारी समकालीनता से प्रतिरोधी विचारों के साथ विन्यस्त पूंजीवादी विचारों का प्रतिरोध हैं। लिंग, जाति, धर्म, समुदाय, लिंग के एक आधार पर जन्में 'प्रतिरोधी' विचार अपनी वास्तविकता में उन्हीं रूपाकारों को जन्म देते हैं, जो मॉल, पितृजा संस्कृति देती है। पूंजीवाद ने अपने उदय के साथ ही हर स्तर पर एकरूपीकरण को ही प्रस्तावित किया है, विविधता को उसने कभी प्रश्रय नहीं दिया है। और इसका कारण भी स्पष्ट है कि यदि वह

विविधता को प्रश्रय देगा तो वैश्विक स्तर पर उत्पादन और एकाधिकार के लिए संभावनाएं ही समाप्त हो जाएगी, जो पूंजीवादी व्यवस्था का आधारबिंदु है।

वर्तमान में 'समकालीनता' का विचार सबसे भयावह स्तर पर मौजूद है। साहित्य आलोचना के नजरिए से इसे ही 'कुत्सित समाजशास्त्र' की संज्ञा दी जाती है। समकालीन कविता में विद्यमान इस स्थिति को आसानी से लक्षित किया जा सकता है। मोटे तौर पर इसका अर्थ इतिहास से रहित 'समकालीन विमर्श' से है। 'वैश्वीकरण' के विचार के इर्द-गिर्द ही वर्तमान कविता ने अपना जो प्रसार किया है, वह केवल चमकीले वाक्य लिखने तक में सीमित हो गया है। दूसरी ओर समकालीनता (यहां पुनः जोर देकर इतिहासबोधहीनता को रेखांकित करना चाहता हूं) फासीवादी प्रवृत्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित करती है। उदाहरणस्वरूप वैश्वीकरण के विरोध या समर्थन के बावजूद 'विकास' शब्द (या 'समकालीनता' की अवधारणा) सभी व्यक्तियों को प्रभावित किए हुए हैं। जबकि विकास एक ऐसा सापेक्षिक शब्द है, जिसका अर्थ प्रत्येक विचारधारा के साथ तब्दील होता है। लेकिन इस जटिलता को समझे बिना केवल 'विकास' का मंत्रजाप उसी स्थिति को जन्म देता है, जिसका जर्मनी से हिटलर ने फायदा उठाया था। हिटलर ने भी जर्मन समाज से रोजगार व समृद्धता लाने का वायदा किया था, परिणाम...। समकालीन भारत या पूरी तीसरी दुनिया की स्थिति ऐसी ही है। भारत की वर्तमान राजनीतिक स्थिति को देखकर इसका किंचित अंदाजा लगाया जा सकता है। हिटलर की तरह किसी उद्धारकर्ता की प्रस्तुति उंबर्तो इको के इस डर को ही यथार्थ में तब्दील करती है कि 'उर फासिस्म (Ur-Fascism) (एक पदबंध जिसका अर्थ 'आंतरिक फासीवाद' होता है) लगातार हमारे आस-पास है, कई बार तो बिल्कुल ही सादे कपड़ों में। यह हमारे लिए बहुत ही सामान्य बात होगी कि कोई व्यक्ति इस परिदृश्य में हमारे सामने आए और कहे, 'मैं आस्ट्रोविच को फिर से खोलना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि इटली के चौराहों पर काली कमीज वाले लोग परेड करें'। जीवन सरल नहीं रहा है। फासीवाद की बीमारी बहुत ही मासूम तरीके से हमारे सामने आ सकती है। हमारा दायित्व यह है कि हम इसे बेनकाब करें और दैनंदिन की घटनाओं से लेकर दुनिया के किसी भी कोने में होने वाली उस हर एक घटना की ओर इशारा करें, जो इसकी वापसी का संकेत देती है।'

चिंतन या विचार की दरिद्रता का ही परिणाम होता है कि दलित-सर्वण, स्त्री-पुरुष जैसे युगों का निर्माण किया जाता है, और इससे भी बड़ी बात कि 'तात्कालिक दुश्मन' की परिकल्पना इसके साथ संबद्ध होती है। वैचारिक विस्तार

न होने के कारण यह चिंतन पद्धति यथास्थितिवाद का शिकार हो जाती है। असल में व्यवस्था के मूल प्रश्न को संबोधित करना वैचारिक स्तर पर सर्वाधिक कठिन कार्य होता है। स्त्री, दलित, आदिवासी आदि जो भी श्रेणियां हैं, उनके साथ जुड़े हुए अन्याय को नज़रअंदाज़ किए बिना संपूर्ण मनुष्यता को निरंतर सोचनीय स्थिति के बारे में देवी प्रश्न करते हैं। इसमें कहीं से शोषण के विभिन्न रूपों को नज़रअंदाज़ करना नहीं शामिल है, लेकिन शोषण के मूलाधार को जानने और रेखांकित करने की रचनात्मक बेचैनी ज़रूर मौजूद है।

मर्द काफी शेर थे सहलाते थे जहां नीली नदी नाले में बदलती थी
स्त्रियों को अपनी अयाल से पतन यश में सत्ता पाप में पुरुष
आततायी में समूह आत्मरत आप में

यहां कुछ बदलता था तो नागरिक
दलित में मनुष्य मुसलमान में फोन पर षडयंत्र सारे
विवेक पूंजी में लीक से हटकर कहीं पर लोकतंत्र
(हर इबारत में रहा बाक्री, आलोचना-20)

अस्मितावादी चिंतन की तर्क पद्धति का परिणाम है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक या प्राकृतिक अस्मिताओं के प्रति निरंतर संशयग्रस्त होता चला जाता है और सामाजिक अस्मिताओं के प्रति निरंतर कृत्रिम सचेतता उत्पन्न की जाती है। लेकिन यहां इस मूल प्रश्न पर विचार करने की ज़रूरत है कि परिवर्तन का स्रोत क्या होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य पर प्राकृतिक रूप से जो सीमाएं आरोपित हैं क्या उनमें परिवर्तन की मांग की जाए या कि जो कि समाज निर्मित और अतार्किक है उसमें परिवर्तन की मांग की जाए। सरल शब्दों में कहें तो प्रश्न यह है कि परिवर्तन के लिए क्या यह मांग की जाए कि मनुष्य के दो हाथ न होकर एक हाथ ही हो? लेकिन यह मांग ज़रूर की जा सकती है कि जाति जैसी प्रथा को खत्म कर दिया जाए। इस तरह के विचारद्रोह बुर्जुआ विचारधारा की उपज हैं, जिसके बारे में मार्क्स ने 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में बहुत कठोर होकर टिप्पणी की थी कि 'यह समान अधिकार अभी भी चिरस्थायी तौर पर बुर्जुआ सीमाओं से दबा रहता है। उत्पादकों का अधिकार उनके द्वारा किए गए श्रम के अनुपात के हिसाब से होता है। समानता इस बात में होती है कि श्रम के रूप में नापने का अब एक ही समान मापदंड होता है। लेकिन कोई व्यक्ति दूसरे की तुलना में शारीरिक या मानसिक रूप से श्रेष्ठतर हो

सकता है और समान समय में अधिक श्रम कर सकता है...'। इसी बुर्जुआ विचार से मुक्ति पाने के लिए मार्क्स ने भविष्य के समाज के लिए लक्ष्य निर्धारित किया था कि 'हर एक को उसकी क्षमता के अनुसार और हर एक को उसकी जरूरत के अनुसार'। मार्क्स के इस लक्ष्य को तो छोड़िए, स्थितियां और अधिक विद्रूप होती जा रही है। वर्तमान अस्मितावादी विचारों ने मनुष्य की प्राकृतिक सीमाओं या वरीयताओं के प्रति संशय और शर्मिंदगी का भाव उत्पन्न कर दिया है। ऐसे में यह जरूर मानना चाहिए कि हमारे समय में कहीं कोई मनुष्यविरोधी विचार सक्रिय है, जो सभ्यता को नष्ट करने की ताकत रखता है। इस स्थिति को पहचानने में देवी कोई चूक नहीं करते हैं:

उस समय बारिश नहीं थी
लेकिन मैं भीगा था अपने ही जल से
पुरुष होने का एक सुख था और
उसी से बिछी हुई शर्म भी मतलब कि
वो पश्चाताप जो मनुष्य होने के वितर्क से
हो जाया करता है - एक अन्यमनस्क
परानुभूति का वैचारिक अवसाद

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

जाहिर सी बात है कि यहां कवि उस तथ्य को रेखांकित कर रहा है, जिसके बारे में सिमोन बोबुआर ने कहा था कि 'स्त्रियों का जन्म नहीं होता, बल्कि वे बनाई जाती हैं'। तात्पर्य यह कि स्त्री-पुरुष की कोटियां से कोई आपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि यह सभ्यता के विकास का स्रोत है। लेकिन परिवर्तन उस स्त्री और पुरुष में होना है, जिसे समाज-व्यवस्था अपने अनुकूलन द्वारा निर्मित करती है। इन संदर्भित दोनों ही कविताओं में देख पाएंगे कि समाज में दरिद्रता, दमन, शोषण और अमानवीयता के जो अकल्पनीय स्तर विद्यमान हैं, उसका कारण समाज में विद्यमान श्रेणीक्रम है। लेकिन इस श्रेणीक्रम को लक्षित करने के बजाए व्यवस्था ने कई सारे ऐसे विभ्रमों को निर्मित कर रखा है कि मनुष्य अपनी त्रासदी के मूल कारण को चिह्नित कर पाने में सक्षम नहीं रह गया है। वर्तमान समय में यह मात्र संयोग नहीं है कि जब एक ओर राष्ट्र-राज्य अपनी अर्थवत्ता खो रहे हैं, उसी समय में अस्मितावादी विमर्श अपनी सर्वाधिक चरम स्थिति को व्यक्त कर रहा है। सामिर अमीन ने इस तथ्य की ओर कुछ भिन्न ढंग से इशारा किया है, 'आज दुनिया में अधिकतर लोग राष्ट्रवाद में अपनी आस्था खो चुके हैं। भारत ? एक भारतीय बच्चे के लिए इस शब्द का क्या मतलब है ? कुछ नहीं। दूसरी अस्मिताएं जैसे हिन्दुत्व, प्रादेशिकता आदि ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई हैं। यह एक सबूत है कि सकारात्मक राष्ट्रवाद,

जिसने कभी ब्रितानियों के विरुद्ध भारत के लोगों को एकबद्ध करने में सकारात्मक भूमिका निभाई थी, अपनी भूमिका खो चुका है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि यह राष्ट्रवाद मजदूरों के अंतर्राष्ट्रीयतावाद द्वारा विस्थापित नहीं हुआ है; इसके विपरीत छद्म राष्ट्रवादियों द्वारा भ्रम फैलाया गया है, हम इसे नव-राष्ट्रवाद कह सकते हैं, यह प्रवृत्ति बहुत ही खतरनाक है।'

लेकिन देवी की कविताएं मात्र इतने तक सीमित नहीं हैं। जैसा पहले कहा गया कि देवी की कविता मूलगामिता को कभी नजरअंदाज नहीं करती है। इस मूलगामिता में वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के सर्वाधिक 'सदाचारी' विचार को काव्य चेतना का हिस्सा बनाया गया है। सोवियत पतन के बाद 'परिवर्तन' शब्द प्रारूपिक ढंग से हमारी चिंतन सरणी से बाहर हो गया है। हमारे समय में परिवर्तन की अर्थछवि सत्ता व समाज में वरीय स्थिति प्राप्त करने तक में सीमित हो गई है। लोकतंत्र जिसकी आदर्श परिकल्पना आधुनिक मनुष्य की प्रेरणाओं का स्रोत थी, वह भी सबसे भयावह ध्वंसात्मक स्थिति में है। समानांतर आवाज के तौर पर कवि का यह प्रश्न 'गणतंत्र है/षडयंत्र है' न केवल हमारे समाज की पतनशील राजनीति व्यवस्था को रेखांकित करता है, बल्कि अन्य समानांतर आवाजों को सम्मिलित करते हुए इन पंक्तियों का अर्थ विस्तारित होकर यह अर्थ ज्ञापित करने में सक्षम हो जाता है कि वर्तमान राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था में वे अंतर्विरोध उत्पन्न हो चुके हैं जो यथास्थिति की प्रेरणा के साथ कतई हल नहीं हो सकते हैं।

भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया की अधिकतर राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं को विद्यमान रखने के लिए उन्हीं तौर-तरीकों का अनुसरण कर रही हैं, जिसे ईसापूर्व एक सदी पहले रोमन साम्राज्य और रोमन राजनीतिज्ञों ने अपनाया था। और यह तरीका था जनता के बीच अनंत अतार्किक श्रेणीक्रम का निर्माण। हावर्ड फास्ट ने इस व्यवस्था के बारे में लिखा है, 'हम लोगों को यह बात समझा देते हैं कि जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता अमीरों के लिए मरने में है। हम अमीरों को समझा देते हैं कि उन्हें अपनी दौलत का कुछ हिस्सा छोड़ देना चाहिए ताकि बाकी को वे अपने पास रख सकें। हम जादूगर हैं। हम भ्रम की चादर फैला देते हैं और वह ऐसा भ्रम होता है जिससे कोई बच नहीं सकता है। हम लोगों से कहते हैं - जनता से कहते हैं - तुम्ही शक्ति हो। तुम्हारा वोट ही रोम की शक्ति और कीर्ति का स्रोत है। सारे संसार में केवल तुम्ही स्वतंत्र हो। तुम्हारी स्वतंत्रता से बढ़कर मूल्यवान कोई भी चीज नहीं है, तुम्हारी सभ्यता से अधिक प्रशंसनीय कुछ भी नहीं है। तुम्ही उसका नियंत्रण करते हो; तुम्ही शक्ति हो, तुम्ही सत्ता हो। और

तब वे हमारे उम्मीदवार को वोट दे देते हैं'। इसी अनंत सामाजिक श्रेणीक्रम की पहचान विशुद्ध भारतीय संदर्भ में देवी कुछ इस तरह से करते हैं:

समाज की जगह जाति बनाई

कितना मसरूफ रहे पुरखे हमारे

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

वर्तमान में राजनीतिक स्तर पर इसी तरह के अनंत श्रेणीक्रम का निर्माण जाति, धर्म, समुदाय, लिंग आदि के आधार पर किया गया है। निश्चित तौर पर समकालीन समाज में बाह्य स्तर पर यानि किसी भी राजनीतिक विचार, संगठन या दर्शन की ओर से ऐसी प्रस्तावना तक नहीं है जो समष्टि के लिए प्रेरित हो। जिन दर्शनों और राजनीतिक दलों की प्रारंभिक प्रतिश्रुति समष्टि के विचार की ओर अग्रसर होने की थी, वे भी निरंतर समकालीनता के दबाव में अपनी प्रतिश्रुति से च्युत होते जा रहे हैं। ऐसे विपरीत समय में देवी समष्टि के स्तर पर अपनी कविता में प्रश्न उठाते हैं, लेकिन साथ-साथ बहिर्गत स्तर पर एकक आवाजों को भी अनसुना नहीं छोड़ते, बल्कि अपनी कविता की संरचना का हिस्सा बना लेते हैं। वहीं दूसरी ओर एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में देवी उससे संतुष्ट नहीं होते हैं, जिस पर पवित्रता का आरोपण कर दिया गया है। यहां तात्पर्य 'गणतंत्र' या 'लोकतंत्र' से है। यह यथार्थवादी होने के नजरिए से देवी कभी भी शब्दों या अवधारणाओं के आरोपित अर्थों से संतुष्ट नहीं होते हैं, इसके बजाए वह सतह पर विद्यमान वास्तविक अर्थों के आधार पर अपने चिंतन को धार देते हैं। 'गणतंत्र' शब्द का उत्स खोजें तो यूनान की सभ्यता से शुरूआत करनी पड़ेगी। पवित्रता के आरोपण के बावजूद यूनान से लेकर भारत तक कहीं भी इस शब्द का वास्तविक अर्थ कभी भी रूपायित नहीं हो पाया है, इसके बजाए इस शब्द के लिए वह सबसे बड़ी सच्चाई है जिसे हावर्ड फास्ट ने रेखांकित किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण 1972 में भारतीय संविधान में शामिल किया गया 'समाजवादी' शब्द है। रजनी पाम दत्त ने अपने भविष्यधर्मी चिंतन में इन स्थितियों की किंचित आशंसा को 1940 के दशक में ही व्यक्त किया था, 'दूसरी शक्तिशाली प्रवृत्ति औद्योगिक बुर्जुआ की प्रवृत्ति है। औद्योगिक बुर्जुआ पश्चिम के नमूने पर आधुनिक पूंजीवादी भारत के निर्माण की कोशिश करता है... वह सामान्य तौर पर 'बिना वर्ग संघर्ष के समाजवाद' या 'भारतीय समाजवाद' का नारा देता है, जो बहुत अस्पष्ट मानवतावाद और वर्ग समझौतावाद को अभिव्यक्त करता है।' (इंडिया टुडे) इन्हीं अर्थों में देवी की कविता ज्ञानमीमांसा के स्तर पर भी एक बड़े दृष्टिकोण को सामने रखती है और कम से कम आधुनिक भारत के हर एक

अंतर्विरोध को अपने काव्य संसार में समाहित कर पाती है।

देवी की संदर्भित दोनों की कविताओं को घटनाक्रम या कथानक के स्तर पर देखें तो यह बहुत ही 'मामूली' सी, रोजमर्रा की घटनाओं के आधार पर है, लेकिन अपने विस्तार में यह हमारे समय के समस्त भीषण प्रश्नों को सामने रख देती हैं। इन अर्थों में कहें तो इन कविताओं में एक औपन्यासिक आख्यानपरकता है, जहां संरचना के स्तर पर कवि ने विस्तार के लिए अवकाश सृजित किया है। संदर्भित कविताओं में पहली कविता में बेटा पिता से कहता है कि वह फूल लेने जा रहा है। केवल यह एक वाक्य मनुष्य जाति की त्रासदी को बयान करने का माध्यम तो बनता ही है, साथ ही साथ नए समाज की प्रतिश्रुतियों के न्योन्मेष का आधार भी बनता है।

मैं एक ऐसा पिता था जो हिन्दी फिल्मों के अन्त
और हिन्दू मनुष्य की शुरूआत से डरा था
मैंने अपने बाद की पीढ़ी से कहा जाओ
फूल के लिए एक लम्बा रास्ता था लेकिन
परिवर्तन से मेरा भी वास्ता था

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

साहित्यिक स्तर पर देवी ने जिस तरह शिल्प के स्तर पर नए परिवर्तनों का आगाज किया है, उसी तरह कथ्य और विचार के स्तर पर भी वह हमेशा अग्रगामी रहे हैं। पिता और पुत्र का संबंध रचनात्मक स्तर पर सबसे जटिल प्रश्न है क्योंकि इस संबंध का विचार के सतहीपन में पीढ़ियों के द्वंद में खो जाने की असीमित संभावना रहती है। लेकिन देवी ने इस संबंध को हमेशा कॉमरेडशिप के अनूठे आयाम के साथ परिभाषित किया है (उनकी कहानियों में इस स्थिति को और अधिक गंभीर रूप से देखा जा सकता है)। पूर्वोक्त पंक्तियां भी इसी तथ्य का उदाहरण है। बेहतर कल के स्वप्न के संघर्ष में पिता की पराजय हताशा में नहीं तब्दील होती है, बल्कि यह वह पराजय है जो मनुष्य की शारीरिक शक्ति के क्षय से उत्पन्न होती है। लेकिन इसके साथ पिता अपने पुत्र को संघर्ष की उस विरासत को स्थानांतरित करता है, जिसका वह कभी हिस्सा था, लेकिन पुत्र-यानि आगामी पीढ़ियों को नवोन्मेष का अवकाश देते हुए। लेकिन इसके साथ कवि का समष्टिबोध इसे विस्मृत नहीं करता है कि दुनिया के बाकी या अधिकांश परिवारों और पिता-पुत्र संबंधों की सच्चाई क्या है। हाशिए की आवाज के तौर पर दर्ज है:

हर घर में एक भूमिपति
इस तरह पिताओं का वितरण

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

जैसा पहले कहा गया कि देवी की कविता की सबसे बड़ी ताकत यह है कि

वह रोजमर्रा के मामूली से लगने वाले प्रश्नों को व्यवस्था के कठोर प्रश्नों में तब्दील कर देते हैं।

रोना आने वाला था तो
फूटा दुख का गाना
जाल फटा या भूख लगी थी
मैला पानी छाना

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

विश्व की महान कलाकृतियों को याद करें तो रचनात्मक स्तर पर इस तरह से व्यवस्था का सभ्यतागत प्रश्नों को चुनौती देने की कठिनाई का अहसास हो पाएगा। 'मां' उपन्यास जिस महान क्रांति की अनुगूँजों को स्वयं में समाहित किए हुए हैं, वह उपन्यास इस छोटी सी घटना को केंद्र बनाकर लिखा गया है कि सोमोराव के एक कारखाने में मजदूरों ने प्रति रूबल दो कोपेक की कटौती का विरोध किया था।

देवी के काव्यकर्म की एक अन्य विशेषता को यहां रेखांकित करना बहुत जरूरी है कि वह विचार के स्तर पर भी किसी भी तरह की गफलत का शिकार नहीं होते हैं और यह वह उसी शर्त पर कर पाते हैं कि यथार्थ को वह अपनी आंखों से ओझल नहीं होने देते हैं। सैद्धांतिक स्तर पर स्त्री व दलित उत्पीड़न व वचन को अमूमन सामाजिक विकास के श्रेणीक्रम या सीधे कहें तो सामंती सामाजिक संरचनाओं से जोड़ा जाता है (जाहिर सी बात है कि इस तरह लोकतंत्र या पूंजीवादी लोकतंत्र को इस उत्पीड़न या शोषण संरचना के कलंक से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है)। यानि अपने 'सद्प्रयासों' में 'आधुनिकता' के पूरे चिंतन को निर्दोष दिखलाने की कोशिश! लेकिन देवी इस तरह के विभ्रमों का शिकार होने के बजाए इस उच्चावच्च सामाजिक श्रेणीक्रम और वंचन की पारस्परिक निर्भरता को जान-समझकर स्थितियों को दर्ज करते हैं:

रात भर की नींद परंपरा
आधुनिकता पूरे दिन लोकतंत्र

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

या

आधुनिक होने की
मंशा
जाति में होने का
शौक

नक्सली होने की मुश्किल
जौक क्यों न बन जाए
तौक

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

इस तरह से आसानी से चिंहीत कर सकते हैं कि कवि किन स्तरों तक जाकर हमारे समाज के अंतर्विरोधों को समझने और देखने की कोशिशों में मुब्तला है।

देवी के यहां नवोंमेष की शर्त नवोंमेष नहीं, बल्कि यथार्थ की जटिलता और बाध्यता है। इस बाध्यता को इस तरह से समझा जा सकता है कि एक ओर कवि का मानस रिनेसां के चिंतन (हालांकि इसकी यूरो केंद्रियता प्रमाणित हो चुकी है और यहां तुलना करते वक्त यूरो केंद्रियता की प्रवृत्ति को दोष मानते हुए शामिल नहीं किया गया है) के अनुरूप है, जहां सार्वभौमिकता सर्वोच्च मूल्य है। वहीं दूसरी ओर कवि अपने चिंतन और तार्किक प्रक्रियाओं में इस नव-उदारवादी युग में मौजूद है, जहां विद्यमान शोषण के स्तरीकरण को रेखांकित करने वह सफल हो पाया है। जातीय, नस्लीय, आर्थिक, लैंगिक और सांस्कृतिक स्तर सहित जितने भी शोषण के संस्तर हैं, कवि उसे नजरअंदाज नहीं करता है, इसके बजाए इन शोषणों के बीच मौजूद पारस्परिक की उन गरिमाविहीन कड़ियों की जांच करता है, जो व्यवस्था या समग्रता के स्तर पर एक हो जाती है और समाज में शोषक व शोषित के क्रूर व अमानवीय संबंध को जन्म देती है।

अंग्रेज भारतीयों को भूरा कहते थे जिसके पास ताकत होती
है वो जिसके पास ताकत नहीं होती उससे कुछ भी कह
देता है
हो सकता है कि कोने में बैठी स्त्री का पति उसे मारते हुए
भूरी कहता हो और उसके ऊपर आते हुए भी

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

यह वैचारिक स्थिति समकालीन 'विमर्शात्मक' चिंतन का प्रतिपक्ष है क्योंकि 'विमर्शात्मक' चिंतन अपनी समस्त वरीयताओं के बावजूद विपरीतिता के युगों को जन्म देता है। दलित-स्वर्ण, स्त्री-पुरुष, शहरी-आदिवासी आदि युग निर्माण शोषण की एकतरिखकता की ही पहचान करने में सक्षम हैं, लेकिन व्यापक स्तर पर यह एकतरिखकता अपनी विशिष्ट 'प्रतिरोधी' शक्ति नहीं प्रमाणित कर पाती है। प्रतिरोधी शक्ति को चिंहीत करने के लिए 'अपने' इतिहासबोध को आत्मसात करने के बाद

कवि की टिप्पणी कुछ इस तरह की है:

आधीनता-स्वाधीनता का	राजनीति जाली है-यह इतिहास से	
अजूबा कोलाज	निकलकर आती आवाज है या कि	
बीता कहां बीता नहीं	एक संथाली स्त्री का आखिरी वाक्य	
बर्तानिया राज	और ये लोग कौन है जो एक	
	जगह को छोड़कर दूसरी जगह जा	
	रहे हैं: बेघर और बदहवास	
	कदम वे उठाते हैं	नेशनल बिल्डिंग राजनीति की
	और बुदबुदाते हैं:	राजनीति क्या है
		अगर नब्बे प्रतिशत पर
		दस की दया है

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

‘पहल’ में प्रकाशित अपने एक साक्षात्कार में देवी ने कविता में ‘रोजमर्रा’ के औसतपन की कड़ी आलोचना की है, जिसका प्रभाव उसकी कविताओं में भी आसानी से दिखाई देता है। लेकिन समकालीन समय में ‘औसतपन’ के विरोध का यह विचार उन सतही विचार प्रक्रियाओं के जरिए नहीं पनपा है, जिसके हम अतीत में साक्षी रहे हैं। जे. कृष्णामूर्ति जैसे विचारक ने ‘हम बासी लोग हैं’ (वी आर सेकेंडहैंड पीपुल) कहते हुए इसकी जटिलता को नजरअंदाज ही किया था क्योंकि उन्होंने भी इस औसतपन (बासीपन) का स्रोत व्यक्तिगत ‘स्व’ के विलोप और नवाचारों का अभाव कोई आंतरिक या मानसिक कार्य-व्यापार नहीं है, इसके बजाए इसका स्रोत समाज और समुदाय है, जहां मनुष्य अपनी अर्थवत्ता अर्जित करता है। यही कारण है कि कवि बार-बार समाज के व्यवस्थागत प्रबंधन के मूल अंतर्विरोध को पाठकों के समक्ष बार-बार रखता है।

और फिर कवि ने फुसफुसाकर कहना चाहा कि
बार बार मनुष्य के चेहरे का वर्णन
मौलिकता का पुनराविष्कार है बार-बार
* * *

खोई हुई कविता की जगह की खोज
और खोये गणतंत्र की खोजने का
नैतिक उपद्रव बार-बार

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

यहां कुछ अधिक कहने की ज़रूरत नहीं क्योंकि एजरा पाउंड के ‘नए के

निर्माण' के लिए देवी एलियट की तरह किसी 'बंजर जमीन' को खोजने का एकदम रूहानी कार्य नहीं करते हैं। इसके बजाए 'मनुष्यता' ही उसके लिए सबसे बड़ी नवीनता है। यही कारण है कि सामाजिक असमानता-विरूपता-शोषण के अभेद्य दुर्गों को चिह्नित करने के बाद भी कवि परिवर्तन की अपनी आकांक्षा को तिरोहित नहीं करता है, बल्कि उसकी आस्था 'नए मनुष्य' (आगामी पीढ़ी, जिसका प्रतीक बच्चे हैं) पर केंद्रित होती है। यहां इसका यह आशय कतई नहीं है कि वह सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष को दूसरी पीढ़ी/आगामी पीढ़ी को स्थानांतरित करके स्वयं को नैतिक संताप से मुक्त करने का कार्य कर रहा है। इसके बजाए वह अपनी थकान और स्वयं में कम होती नवाचार की स्थितियों के कारण ऐसा कर रहा है।

जी उठने के बाद पिता परिवर्तन के
रोजगार के लिए भटकेंगे भी या बेआस
दास बन जाएंगे नए जन्म में भी

(हर इब्रारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

वर्तमान समय में ज्ञान और सामाजिक विश्लेषण पिछले समय की तुलना में बहुत अधिक विस्तारित और उच्चता प्राप्त किए हुए है। ऐसे में हमेशा की तरह यह प्रश्न सामने आता है कि आखिर इस ज्ञान मीमांसा में कौन सी कमी है, जिस कारण यह सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरणा नहीं उत्पन्न कर पा रहा है। देवी की कविता रचनात्मक स्तर पर इसका उत्तर उपलब्ध कराती है। और यह उत्तर है - सार्वभौमिकता। संस्कृति के मैकडोनाल्डीकरण से लेकर सांप्रदायिक हिन्दू राष्ट्रवादियों का उदय, राजनीति के लंपटीकरण से लेकर आर्थिक एकाधिकारवाद और कार्पोरेटीकरण-वर्तमान समय में इन सभी प्रवृत्तियों को एकक स्तर पर समझने की कोशिशें ही ज्ञान मीमांसा के स्तर पर हो रही हैं। लेकिन इन सभी प्रवृत्तियों के अंतर्संबंध को नजरअंदाज करने के कारण न तो व्यापक समाज की किसी यथार्थता से परिचय हो पाता है, न ही प्रतिरोधी स्वरों की 'समग्र' शक्ति का आकलन। देवी की कविताओं में मनुष्य और मनुष्य समाज की समग्रता या सार्वभौमिकता का प्रश्न जितने विश्वसनीय तरीके से प्रत्यक्ष होता है, वह अपनी मानवीयता और प्रगतिशील रचनात्मक सरोकारों के स्तर पर 'आधुनिक महाकाव्यीय' सृजन के प्रतिरूप में तब्दील हो जाता है। इलियड-ओडेसी में विडंबना को दैवीयता के स्तरपर चिह्नित करके होमर मनुष्य समाज की समग्रता और उसके अंतर्विरोधों को रेखांकित करने में सक्षम हो पाए थे। लेकिन इस मध्यकालीन साहित्यिक संरचना के विपरीत वर्तमान के समस्त आयामों को समाहित करते हुए इन संदर्भित दोनों कविताओं में

हमारे आधुनिक समय में शोषण-अभाव-वचन को विडंबना के स्रोत के रूप में चिह्नित करके देवी एक त्रासद समाज का चित्र प्रस्तुत कर पाते हैं।

यहां यह कहने की जरूरत बाकी रह जाती है कि कवि सार्वभौमिकता के 'आधुनिक' आयामों के अनुरूप वंचित वर्ग-जाति-लिंग-धर्म के सह-आस्तित्विक अंतर्विरोधों को नज़रअंदाज नहीं करता है, न ही किसी स्तर पर त्याज्य समझने की सैद्धांतिक भूल ही करता है। इन्हीं अर्थों में देवी की कविताएं मुक्तिबोध की कविताओं के बाद सबसे साहसिक काव्य उद्यम है और शायद मुक्तिबोध के 'असमाप्त' उद्यम को पूरा करने की दिशा में देवी का यह उद्यम 'दीर्घ छलांग' (लांग लीप) की तरह है।

यहां मुक्तिबोध के उद्यम को 'असमाप्त उद्यम' कहना के आशय इन दो केंद्रीय सरोकारों के कारण है। पहला ('अंधेरे में' को संदर्भित करते हुए) काव्य नायक (या पात्र) की असाधारणता और दूसरा काव्य पात्र की ज्ञान मीमांसक उच्चता। मुक्तिबोध के संदर्भ में इन दोनों ही बिन्दुओं को किसी नकारात्मकता की वजह से नहीं रेखांकित किया गया है। इसके बजाए ये दोनों ही बिन्दु इस तथ्य को रेखांकित करने में मदद करते हैं कि बौद्धिक स्तर पर प्रतिरोध की तीव्रता के बावजूद जनसाधारण के स्तर पर परिवर्तन के लिए कोई प्रयास उनके दौर में क्यों नहीं मौजूद थे या राजनीतिक व्यवस्था- लोकतंत्र ने अपने विस्तारित तंत्र से जनसाधारण की आकांक्षाओं को किस तरह से शून्यीकरण करने में सफलता पाई। यह प्रक्रिया क्या थी, इसका उत्तर प्रो. रणधीरसिंह ने भारतीय स्वतंत्रता और उसके बाद भारतीय राजनीति के अपने विश्लेषण में इस तरह से दिया है-

1960 के दशक के मध्यान में भारत में उत्तर-औपनिवेशिक उद्यम लड़खड़ाते लगा और तेजी से विकृतता का शिकार होने लगा। इसका आर्थिक संकट राजनीतिक व्यवस्था यानि 'लोकतांत्रिक राजनीति' के साथ बाकी सारी चीजों को संकटग्रस्त करने में एक कदम आगे ही बढ़ गया। यदि भारत की 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' ने कई सारे विस्फोटक क्षमता वाले मुद्दों को उत्पन्न किया तो यहां की 'राष्ट्रीय राजनीति' इन मुद्दों को लगातार समस्याओं में तब्दील करती गई.. 1980 के दशक के अंत तक राष्ट्रीय उद्यम गुणात्मक रूप से समाप्त हो गया। पूर्व में स्वीकार की गई नीतियों की वजह से मृत्यु द्वार तक पहुंच चुके आर्थिक संकट या वित्तीय दिवालियापन की स्थिति शीत युद्ध में सोवियत संघ की पराजय और इसके विघटन के साथ उत्पन्न हुई। (सोशलिज्म, मार्क्सिज्म

एण्ड इंडियन पालिटिक्स)

1972 में संविधान में शामिल किया गया 'समाजवाद' शब्द इसी राष्ट्रीय संकट से निपटने की कृत्रिमता मात्र को ही प्रतीकित करता है। मुक्तिबोध का उद्यम इसीलिए असमाप्त कहा गया कि बौद्धिक स्तर पर वह जिस यथार्थ को देख पाने में सक्षम थे, उसे जनसाधारण या सीधे शब्दों में शोषित उसे देखने-समझने में सक्षम नहीं थे।

इस संदर्भ में देवी रचनात्मक स्तर पर एक भिन्न प्रक्रिया अपनाते हैं। वह छोटी सी घटना या संवेद को इस तरह समग्रता में समझने का प्रयत्न करते हैं कि वह सार्वभौमिकता में यथार्थ के समस्त पक्षों को निरूपित करने लगती है। उदाहरण के लिए 'हर इबारत रहा बाकी' में पिता बेटे को फूल लेने भेजता है और यह साधारण सी घटना अतीत और वर्तमान को आच्छादित करते हुए भविष्य तक अपना प्रसरण करती है और इसी प्रसरण में यथार्थ की हर एक बारीक से बारीक विवरणता दर्ज होते हुए समग्रता या विश्वबोध निर्मित करने की जद्दोजहद में शामिल हो जाती है।

इसे पूरे निबंध में समग्रता या विश्वबोध को 'मूल्य' की तरह से इस्तेमाल किया गया है और कम से कम प्रगतिशील नजरिए से इस मानक को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांत द्वारा टाइपड चरित्रों से लेकर टाइपड परिस्थितियों की वकालत के पीछे तर्क 'समग्रता' का ही रहा है। 19 वीं सदी की तुलना में वर्तमान में सामाजिक संरचना और अधिक जटिल होती चली गई है और स्तरीकरण के कारण पाठीय एकरैखिकता इस समय प्रगतिशील लक्ष्यों का पूरा करने में 'शायद' सक्षम नहीं है। कवि या लेखक के पास अब 'दृष्टा' होने की सुविधा नहीं है। विक्टर ह्यूगो से लेकर प्रेमचंद तक का लेखन 'लेखकीय दृष्टा' होने की गवाही देता है। इस तथ्य से यह अंदाजा लगाना आसान होगा कि वर्तमान में पाठीय बहुरैखिकता के सामाजिक समग्रता को चित्रित करना कितना कठिन है। देवी ने संरचना के स्तर पर तो बहुरैखिकता के लिए 'स्पेस' बनाया ही है, साथ ही साथ पाठ के स्तर पर भी इसे संभव किया है।

चलो यहां से कहीं और
उम्र भर के लिए क्यों

फूल लेकर आती बेटि
नहीं आ रही है
लेकिन उसके होने की आहट है
जैसे हवा है और उसका
हिलना है
अर्थों के होने पर

भाषा के हिलने जैसा यह तो अरे
पृथ्वी और उस पर टिके बदलने की कविता में
ढाँचों का हिलना है यह कविता के बदलते अर्थ में

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

‘हर इबारत रहा बाकी’ के संदर्भ में ये लगभग आखिरी की पंक्तियाँ पहली नज़र में व्याकरणिक दोष समझने का कारण बन सकती हैं! बेटा बेटी में रूपांतरित हो गया! लेकिन इसकी वास्तविकता से समानांतर पंक्तियाँ ही परिचित कराती हैं। स्वयं लेखक ने इसे ‘वर्गापसरण-जात्यापसरण-लिंगापसरण’ कहा है। लेकिन यह ‘लिंगापसरण’ अतीत के साहित्यिक उदाहरणों से भिन्न है। कबीर की एक पंक्ति है -

बालम आयो हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे,
सब कोई तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे

यहां भी लिंगापसरण है, लेकिन यह लेखक का ‘लिंगापसरण’ है और यह उच्चावच क्रम का अनुशीलन मात्र है (यानी जो शक्ति में बड़ा है वह ‘पुरुष’ है!)। आधुनिक समय में ‘लिंगापसरण’ का ब्रेख्तियन सिद्धांतों से प्रेरित थियेटर प्रयोगिकताओं में भी प्रयोग किया गया है। उन्हीं सैद्धांतिक अन्वितियों को देवी के यहां देखा जा सकता है। देवी के यहां पात्रों तक का भी लिंगापसरण है, जो एक ओर लैंगिक-जातीय-वर्गीय वचन की तीव्रता को उजागर करता है, वहीं दूसरी ओर ‘मनुष्य’ की समग्रता को भी चिह्नित करता है (यानी स्त्री-पुरुष के सामाजिक अनुकूलन का निषेध करता है)।

देवी के इस प्रयोग की तुलना कई मायनों में पाल्लो पिकासो की 1937 की कलाकृति ‘गुएर्निका’ से की जा सकती है। बैल-घोड़ा-मनुष्य आदि जितनी भी चीजों का चित्रण कलाकृति में है, वे अपने प्राथमिक अर्थों से च्युत न होते हुए भी समग्रता में प्रतीकात्मकता में तब्दील हो जाते हैं। अर्थ की यह समग्रता ही वर्तमान और भविष्य के लिए अर्थ संभावनाएं खोजती है। किसी कलाकृति में ‘प्रसरण’ क्या भूमिका निभा सकता है, इस तथ्य का अंदाजा इससे हो पाएगा कि जब कॉलिन पॉवेल ने संयुक्त राष्ट्र संघ में इराक पर हमले की घोषणा की थी, उस वक्त लॉबी में लगे पिकासो के इस चित्र को ढक दिया गया था।

गहराई से देखें तो ‘हर इबारत रहा बाकी’ और ‘यह एक और आखिरी वाक्य है’ अपनी संरचनात्मक वृत्ति में जिस विचार को रूपायित करती हैं, वह ‘उत्तर-आधुनिकता’ के सैद्धांतिक मायाजाल का विरोध है, कविता या साहित्य से जुड़े

संकीर्ण विचारों की आलोचना है और इसके साथ ये मनुष्य की मुक्ति का आख्यान भी हैं— जो कविता की भी मुक्ति का आख्यान हैं। ये 'समकालीनता' के साथ संबद्ध सपाटता के विरोध में हैं, उस 'समकालीनता' के, जिसके खतरों को इंगित करते हुए नेहरूदा की महान पंक्तियाँ हैं —

जो इतनी समृद्ध है कि जीवन में कि उसका उत्कर्ष नष्ट हो जाने वाला है और यह उदासी से भरी है

देवी इस समकालीनता का विरोध करते हैं। लेकिन यहाँ यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि 'समकालीनता' के विरोध का तात्पर्य वर्तमान का विरोध है, इसके बजाए यह इतिहासबोध से च्युत वर्तमान का विरोध है

कच्चे फल के रंग के लिए या
घुटनों के दर्द और समाज के
इलाज के लिए या कबीर के धागों
और तात्या टोपे की टोपी और
मंगल पांडे के उत्पाप के लिए या कि
लक्ष्मी बाई के शाप के लिए
अम्बेडकर के चश्मे और स्याह के लिए
अवध की स्त्री की आह के लिए

(हर इबारत में रहा बाकी, आलोचना-20)

भारतीय समाज में उत्पीड़न के जो भी संस्तर हैं, देवी इस तरह उन्हें बखूबी रेखांकित करते हैं; लेकिन 'समष्टिबोध' को विस्मृत किए बिना। इस संदर्भ में सर्वाधिक अफ़सोसनाक स्थिति प्रगतिशील विचारधारा वाले दलों की रही है। भारतीय समाज के इन अंतर्विरोधों को कभी व्यापक सामाजिक स्तर पर चिह्नित करने का प्रयास ही नहीं हुआ है; समाज के मूल अंतर्विरोधों और पूंजीवाद के मूलाधारों की आलोचना बहुत दूर की बात है। सैद्धांतिक स्तर पर प्रगतिशील राजनीतिक दलों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए उद्यम तो नहीं ही किए, साथ ही राजनीतिक स्तर पर हमेशा 'समकालीनता' या 'तात्कालिकता' की दुहाई देते हुए कीन्सवादी 'ट्रैप' का शिकार होते रहे हैं। और इसी स्थिति के दोहराव को अभी भी देख सकते हैं। वर्तमान में वैश्वीकरण की जो भी आलोचना सामने आ रही है, वह कीन्सवादी नज़रिए से ही की गई है! यहाँ दुख कल्याणकारी राज्य की समाप्ति का है और संघर्ष कल्याणकारी राज्यात्मकता को वापस लाने का है, जो सीधे तौर पर राष्ट्रीय पूंजीवाद की अवधारणा का समर्थन करने के लिए अभिशप्त होती है! जबकि वास्तविकता में (1947 के बाद से ही) मूल सवाल बुर्जुआ लोकतंत्र की सीमाओं को सामने रखने और

राष्ट्रवादी नज़रिए की बुर्जुआ केंद्रियता के वास्तविक चरित्र को उजागर करने का है। कविता के स्तर पर देवी कभी भी कीन्सवादी ट्रैप का शिकार नहीं होते हैं। उनके लिए वैश्वीकरण कोई नई परिघटना नहीं, बल्कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग के रणनीतिक लक्ष्य की स्वाभाविक परिणति है। यानि मूल सवाल कल्याणकारी राज्य के विघटन आदि का नहीं है, बल्कि यह है :

दिखाई दे रहे थे हार के नतीजे
और अकेले पड़ जाने के
पहाड़ और जमींदार के संशय और
आदिवासी की असहमति और
खनिज की आहटें और
लिपियों के निर्माण की अंतर्योजनाएं
और मुट्ठी से निकला एक मंतव्य

(यह एक और आखिरी वाक्य है, पहल-82)

कई बार यह प्रश्न 'आभासी' (?) प्रतीत हो सकता है, लेकिन हमारे समय की समस्त सच्चाईयों को अभिव्यक्त करने के साथ यह प्रश्न 'कल्याणकारिता' की सदाशयता के वास्तविक रूप को चिह्नित करने में पूरी तरह से सक्षम है।

देवी प्रसाद मिश्र का यह अप्रतिम प्रयोग कविता की मुक्ति का आख्यान है। यह एक ऐसा आख्यान है, जो मनुष्य की मुक्ति को समर्पित है। देवी की ये संदर्भित कविताएं प्रमाणित करती हैं कि यह सच्ची क्रांति किसी भी सच्चाई (यथार्थ) को त्यागती नहीं है, बल्कि स्वयं में आत्मसात कर लेती है। देवी हमारे समय में कविता और गद्य क्षेत्र के बहुत बड़े खलीफा है। इनकी खिलाफत का विस्तार दुनिया की हर एक कत्रिम सहरदों के पार जाता है और हर एक विद्रूपता के बावजूद मनुष्य की मौलिकता को चिह्नित करता है और उसी से हमारी मनुष्य दुनिया के सबसे कीमती शब्द 'उम्मीद' को खोज कर लाता है।

कवि कथाकार और फिल्म निर्माता देवीप्रसाद मिश्र (देवी) को एकांत और स्वतंत्रता प्रिय है। वे समकालीन प्रकोपों से अलग एक ऐसे पूरा वक्ती रचनाकार हैं कि हिन्दी के नये साहित्य में एक दुर्लभ उदाहरण बन गये हैं। कफी हद तक उन्हें दरकिनार भी किया गया लेकिन वैसा हो नहीं सका। उनको यूं भी हिन्दी के चालू सांस्कृतिक, स्तंभकारों और रिव्यूवर्स की जरूरत नहीं है। देवी के प्रयोग गहरे और कठिन हैं। पहल ने उनकी अनेक यादगार और विचारणीय रचनाएं प्रकाशित की हैं। हमें संतोष है कि देवी की कविता की गणवेशणा यहां हो सकी है। कभी उनके कथा साहित्य पर भी पहल होगी।

इक्कीसवीं सदी की लड़ाइयां

जितेन्द्र भाटिया

पार्थिव और बौद्धिक कचरा उगलने वाला ज्वालामुखी

इस बार की शुरुआत एक सवाल-जवाब से। क्या आपने कभी रेल में एक शहर से दूसरे शहर का सफर खिड़की के पास बैठकर तय किया है? आप कहेंगे कि यह भी भला कोई पूछने की बात है? तब यात्रा के दौरान निश्चित ही आपका सामना सुरेंद्र तिवारी की कविता 'गांव सिर्फ रेल की खिड़की से देखने की चीज है...' की पंक्तियों के अलावा भी एक और बदसूरत नज़ारे से हुआ होगा। बदसूरती का जिक्र आते ही दस में से नौ लोग सोच रहे होंगे कि मैं सुबह के समय रेल की खिड़की के बाहर कतार में उकटूं बैठे लोगों के नंगे पिछवाड़ों के वीभत्स नज़ारे का जिक्र कर रहा हूं। बेशक यह अजूबा भी हमारे देश की ही खासियत है और सार्वजनिक स्थलों पर बेबाकी से कपड़े हटाकर बेहिचक हगने-मूतने का राष्ट्रीय गुण हमें नग्नता के मामले में दुनिया की सबसे उदार नस्ल फ्रेंच से भी कहीं आगे का दर्जा देता है लेकिन मेरा अभिप्राय इस नग्नता से नहीं बल्कि उस भयानक बदसूरती से है जो आने वाले वर्षों में एक ज्वालामुखी की शक्ल में हमारे समूचे अस्तित्व को ही खतरे में डालने की क्षमता रखती है। रेल की पटरी के सामानांतर दोनों ओर प्लास्टिक के अबाधित कचरे से आप दिल्ली से मुंबई और मुंबई से कलकत्ता का सफर बिना किसी अवरोध के पूरा कर सकते हैं। साल दर साल प्लास्टिक के इस विशालकाय अंबार का बढ़ते चले जाना तो एक अजूबा है ही, लेकिन इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि प्लास्टिक के कचरे का यह निरंतर बढ़ा होता अम्बार हमारी अभ्यस्त आंखों तले छोटा हो-होकर अब लगभग अदृश्य हो गया है और पटरी की निरंतरता के साथ-साथ अब वह न खिड़की से बाहर देखते यात्रियों को दिखाई देता है, न रेलवे अधिकारियों को, न पटरी का रख-रखाव करने वाली किसी सफाई टोली को,

जबकि अब यह सिर्फ किसी खास जगह पर नहीं बल्कि दिल्ली से मुंबई तक पूरी दूरी तक एकसार इस तरह फैला है कि एक दिन ऐसा भी आएगा जब हम कचरे को नहीं, बल्कि कबीर के कुम्हार की तरह यह कचरा हमें 'रुधेगा'!

यहां बता देना जरूरी है कि जहां सारा-का-सारा प्राकृतिक कचरा (जिसमें नंगे पिछवाड़ों द्वारा त्यागा गया शारीरिक कचरा भी शामिल है) अंततः मिट्टी में मिलकर मिट्टी हो जाता है, वहीं प्लास्टिक का सिंथेटिक कचरा सालों-साल, बल्कि सदियों तक धरती पर ज्यों-का-त्यों रह जाता है; पानी, हवा और मिट्टी का इस पर कोई असर नहीं होता। एक वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार पोलीएथीलीन की औसतन उम्र एक हजार वर्ष होती है और समय के साथ यह बहुत छोटे-छोटे भुरभुरे कणों में टूट और मिट्टी के साथ मिलकर और भी घातक रूप ले लेती है। इसी प्लास्टिक कचरे के बढ़ते ढेर को देखकर सर्वोच्च न्यायालय ने 2013 में कहा था कि 'हमारा भारतीय समाज आज एक प्लास्टिक बम की ढेरी पर बैठा हुआ है!' दरअसल प्लास्टिक के कचरे से जुड़े भारतीय आंकड़े सचमुच दहला देने वाले हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सी पी सी बी) के अनुसार हमारा देश हर साल 56 लाख टन प्लास्टिक कचरे का उत्पादन करता है। कचरा फेंकने की इस प्रक्रिया को 'उत्पादन' की संज्ञा देना मुनासिब है क्योंकि कूड़े की यह भरमार दरअसल हमारे आज के समाज की अति-उत्पादन संस्कृति का ही एक विस्तार है। आज के 'मास प्रोडक्शन' उपभोक्ता समाज की 'डिस्पोजेबल' या 'इस्तेमाल करो फेंको' संस्कृति गोया कि आज केवल अपने इर्दगिर्द कचरे का निरंतर बढ़ता ढेर तैयार करने पर खर्च हो रही है। उगाहने के इस प्रबल तूफान में सार्थकता या कि गुणवत्ता की कोई पहचान खोजना निरर्थक होगा। नुक्कड़ का सब्जी वाला दो टमाटर और मुट्ठी भर हरे धनिया को भी प्लास्टिक की थैली में डाल हमारे हाथ में थमा देता है। हमारे घर में प्रवेश करने वाली हर चीज आजकल प्लास्टिक में बंद होकर जाती है। और तो और, जिम्मेदार साहित्यिक पत्रिकाएं तक आजकल प्लास्टिक की पारदर्शी थैली में पैक होकर हमारे पास आने लगी है। और भयावह स्थिति यह है कि सामान को लापरवाही से खोलने के बाद हम उसके प्लास्टिक आवरण के प्रति किसी भी तरह की जवाबदेही से पूरी तरह आज्ञाद हो जाते हैं। आपमें से कितने लोग घर के प्लास्टिक कचरे को दूसरे प्राकृतिक या बायोडिग्रेडेबल कचरे से अलग फेंकना जरूरी समझते हैं? हममें से कितने लोग सब्जियों और फलों के अनुपयोगी हिस्सों और छिलकों को कॉम्पोस्ट या खाद में बदलने की तकलीफ उठाते हैं? यही हाल टेक्नोलॉजी के प्रसाद स्वरूप मिलने वाली आज की हर छोटी-बड़ी जिन्स का

है। कम्प्यूटर के मॉडल हर दूसरे महीने पुराने पड़ जाते हैं। नौजवानों में आए दिन नए से नया मोबाइल लेने की होड़ लगी रहती है। उसकी और रेडियो की चुकी हुई बैटरियां अपने भीतर के तमाम विषैले रसायनों सहित किस ठिकाने तक पहुंचती है, यह जानने का कोई जरिया हमारे पास नहीं है। पुराने इलेक्ट्रानिक सामान, टॉर्चों, बिजली की तारों, जाम हुई कैसेटों और कम्प्यूटर के अस्थि-पंजर का एक विषैला, नष्ट न किया जा सकने वाला एक बहुत बड़ा ढेर यह विश्व लगातार तैयार कर रहा है और यही शायद हमारी विकासशील सभ्यता का भयानक उपसंहार भी है। अंततः हम सबके साथ इस विश्व को भी इसी विष के ढेर में फना होकर खत्म हो जाना है शायद।

हमारे शहर अपनी सारी खूबसूरती के बावजूद अपनी सरहदों पर इन्हीं कचरे के ढेरों के भयावह मकबরों में तब्दील होते जा रहे हैं। उत्तर-पूर्व क्षेत्र की एक यात्रा की शुरुआत हमने गुवाहाटी की शहरी बस्ती से सटे एक विशाल कचरागाह से की थी, जो इस समय दुनिया के दो संकटग्रस्त पक्षियों चंदियारी और हाड़गीला (ग्रेटर और लेसर एडजुटेन्ट) को देखने का एकमात्र स्थल है। कचरे और प्लास्टिक के पहाड़ों और उनसे उठती भयानक सड़ांध के बीच उन दोनों बदसूरत संकटग्रस्त पक्षियों को देखना एक तरह से कचरे से घिरी अपनी संकटग्रस्त दुनिया के आत्महंता इरादों और उसकी नियति को समझना भी था। मुंबई में कुर्ला की खाड़ी, मानखुर्द के हड्डियों के गोदाम और कचरे के अंबार, कोलकाता के ईस्टर्न बाइपास या दिल्ली के यमुना पार इलाके में मुर्गियों के कत्लगाह पर मंडराती हजारों-हजारों चीलों को देखने का अनुभव भी इससे बहुत अलग नहीं होगा। दुनिया का सबसे प्रदूषित होने के साथ-साथ दिल्ली इस देश की राजनीतिक ही नहीं, प्लास्टिक कचरे की भी राजधानी है, जहां प्रतिदिन 690 टन प्लास्टिक कचरा निर्मित होकर यहां-वहां फेंका जाता है। प्लास्टिक के इस भयावह उत्पादन के मामले में हमारे दूसरे शहर भी (चेन्नै 429 टन प्रति दिन, कोलकाता 426 टन प्रति दिन और मुंबई 406 टन प्रति दिन) दिल्ली से बहुत पीछे नहीं हैं। सीपीसीबी ने हाल ही में देश के 60 शहरों में सर्वेक्षण के बाद सर्वोच्च न्यायालय को बताया कि यह देश 15 हजार टन से अधिक प्लास्टिक कचरा प्रतिदिन उगलता है और इसमें से मात्र 60 प्रतिशत ही रीसाइकिल या पुनरुत्पादन के लिए वापस जाता है जब कि शेष 40 प्रतिशत या प्रति दिन 1360 टन कचरा अनियंत्रित ढंग से हमारी गलियों और हमारे सार्वजनिक स्थलों में छितरा दिया जाता है। दरअसल इकट्ठे गए कचरे का भी जैविक एवं सिंथेटिक/प्लास्टिक अंशों में अलग-अलग किया जाना बेहद जरूरी है। लेकिन इसे अलग करना तो

छोड़िए, इसके किसी भी हिस्से पर नियंत्रण की कोई व्यवस्था भी हमारे मुल्क में नहीं है। देश की जनसंख्या जिस रफ्तार से बढ़ रही है, उसमें आने वाले निकट भवष्य में कचरे की यह समस्या क्या रूप लेगी, यह समझना बहुत मुश्किल नहीं होना चाहिए।

तब के चेकोस्लावाकिया और आज के सर्बिया में सबों-क्रोएशियन के बेहतरीन लेखक इवान क्लीमा बेहद मेहनती व्यक्ति हैं। कई वर्ष पहले अपने एक उपन्यास का सामान जुटाने के लिए उन्होंने अपने शहर में महीनों कचरा-मजदूर की हैसियत से काम किया था। अपने उपन्यास 'लव एंड गार्बेज' में वे कहते हैं कि कचरा मृत्यु का ही एक पर्याय है। गीता में वर्णित अमर-अजर आत्मा की तरह यह कभी नष्ट नहीं होता है। एक जगह आगे वे लिखते हैं —

“देखा जाए तो मोटरकार भी कूड़े, यानी कचरे के टुकड़ों को जोड़कर बनाए गए एक बड़े से ढेर की तरह है... उसका कोई रूप हर कदम पर हमारा रास्ता रोकता है...!... पंद्रह वर्ष पहले अमरीका की मोटरकार राजधानी डेट्रॉयट के नज़दीक एक गांव में जब मेरे नाटक का मंचन हो रहा था तो फोर्ड कंपनी के प्रेसिडेंट ने कंपनी की गगनचुम्बी इमारत में खुली छत पर मुझे दोपहर के भोजन का न्यौता दिया था। वहां से मैं उस भयावह शहर की अनगिनत सड़कों और उन सड़कों पर रेंगती हज़ारों-लाखों मोटरकारों को देख सकता था। उस क्षण उनकी कंपनी के सबसे नए मॉडल के बारे में पूछने की जगह मैंने जानना चाहा था कि जब इन मोटरकारों का उपयोगी जीवन समाप्त हो जाता है तो वे इन सारी कारों को दुनिया से कैसे हटाते हैं? उन्होंने मुसकराकर कहा कि इसमें कोई दिक्कत नहीं है। दुनिया की हर उत्पादित चीज को एक तकनीकी तरीकेब द्वारा एक क्षण में गायब किया जा सकता है। और भोजन के बाद उन्होंने ड्राइवर के साथ अपनी कार मुझे दी। ड्राइवर मुझे शहर के छोर पर एक स्थित एक बहुत बड़ी खुली जगह में ले गया जहां अनगिनत जंग खायी टूटी-पिटी कारें बेतरतीब ढंग से ठूंसी हुई थी। चमकदार ओवरऑल पहने अश्वेत मजदूर अपने विशालकाय चिमटों से कारों के भीतर का सारा सामान तोड़कर बाहर निकालते थे, फिर उसके डायर, उनके खिड़की के शीशे और उनकी गद्दियां अलग कर मोटरकारों को दैत्याकार दबाने वाली मशीनों में धकेल देते थे जहां दबकर वे अपेक्षाकृत व्यावहारिक आकार के धातु-पिंडों में तब्दील हो जाती थीं। लेकिन धातु के वे गट्ठर, वे टायर, कांच के टुकड़े और ज़रूरी तथा अनावश्यक यात्राओं में काम आने वाली पुराने तेल की वे नदियां भट्टियों में

जलकर और कूटी जाने के बाद भी दुनिया से गायब नहीं होती थी। बल्कि उन्हें गला और पिघलाकर उनसे कुछ और नयी कारें बनायी जाती थी और उस पुराने कचरे का स्थान पहले से कहीं अधिक मात्रा में नया कचरा ले लेता था। यदि कंपनी के उन प्रसिडेंट साहब से दुबारा मेरी मुलाकात होती तो मैं उनसे कहता कि यह सिर्फ एक तकनीकी तरकीब का सवाल नहीं है, क्योंकि इस मृतक आत्माओं की धरती और समंदर से उठती सांसों से मुझे आने वाले किसी भयानक अपशगुन की बू आती है... ”

और इसी भाव के मगर विपरीत शब्दों में अमरीकी लेखक डगलस मीक्स—

“यह धरती संकट में है!... लेकिन यह धरती निर्जीव नहीं है। इसमें संवेदना है पूरी। इसलिए वह घायल भी हो सकती है। वह अक्षुण्ण नहीं है। और अटूट नहीं है तो वह टूट भी सकती है। यह धरती अमर नहीं है, इसलिए मर भी सकती है! इस धरती का दुरुपयोग करोगे, इसे बिना सोचे समझे लूटते-खसोटते जाओगे तो यह विद्रोह करेगी ही! और इसे विरोध करना ही चाहिए। यह अलग बात है कि धरती का विरोध करने का तरीका अलग होगा। यह मरकर विद्रोह करेगी...”

(अनुपम मिश्र के ‘गांधी मार्ग’ में प्रकाशित, अनुवाद से)

यूरोप में प्लास्टिक कचरे को इकट्ठा करने के बहुत सख्त नियम हैं। इनमें सबसे बड़ी जिम्मेदारी उद्योग की है। यदि आप ज़मीन पर कोई भी प्राकृतिक रूप से अविघटनशील प्लास्टिक या पेट्रोलियम (नॉन बायोडिग्रेडेबल) पदार्थ फेंकते या गिराते हैं तो इसका बेहद संगीन जुर्माना भरने के साथ-साथ आपको उस समूचे स्थल को साफ कर फिर से मूल अवस्था में लाने की मुकम्मल जिम्मेदारी भी निभानी पड़ती है। भारत में उद्योग की ताकतवर लॉबी के चलते इस तरह के किसी भी कानून के सही तौर पर कार्यान्वित होने की कोई संभावना नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर प्लास्टिक पैकेजिंग को नियंत्रित करने का कोई प्रस्ताव यदि आया भी तो सरकारों में रिलायंस और दूसरी बड़ी ताकतों के हितों की रक्षा करने वाले नुमाइंदें इसे रफा-दफा कर देंगे। सन् 2013 में सर्वोच्च न्यायालय से सी पी बी सी की पहल पर दिल्ली, गाजियाबाद, बेंगलोर, जयपुर और आगरा के म्युनिसिपल कमिशनरों को नोटिस भेजा था कि वे चार सप्ताह में लिखित रूप से बताएं कि म्युनिसिपल कचरा नियोजन नियम 2001 और प्लास्टिक कचरा नियम 2011 के तहत वे कचरे को जिम्मेदार ढंग से फेंकने के लिए कौन-कौन से कदम उठाने वाले हैं। एन जी ओ ‘टॉक्सिक लिंक्स’ के रवि अग्रवाल के अनुसार हमारे देश के कानून में प्लास्टिक

का कचरा इकट्ठा करने की जिम्मेदारी बहुत साफ तौर पर म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन और उद्योग की बतायी गई है, लेकिन उद्योगों को इस पर सख्त ऐतराज है और अदालतों में कई मुकदमे सालों से घिसट रहे हैं। दिल्ली में कुछ वर्ष पहले प्लास्टिक की थैलियों पर सम्पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया था, लेकिन इस नियम का पालन कहां तक हो पाया, इसमें सभी को भारी संदेह है। दिल्ली सरकार ने इस नियम का उल्लंघन करने वालों पर एक लाख तक का जुर्माना भी तय किया था, लेकिन इसके तहत कितने लोगों पर वास्तव में यह जुर्माना लगाया गया, इसका कोई ब्यौरा किसी के पास नहीं है। जयपुर शहर में दो-तीन वर्ष पहले प्लास्टिक थैलियों पर इसी तरह की रोक लगायी गई थी जिसके चलते बड़ी-बड़ी दुकानों ने प्लास्टिक की थैलियों में सामान बांधकर देने का चलने बंद कर दिया था। लेकिन सरकार द्वारा इसके सही तरीके एवं सख्ती से पालन के अभाव में सड़कों, बाजारों में प्लास्टिक की थैलियां उसी पुराने जोश-खरोश से लौट आयी है। मुम्बई और चेन्नै में कानूनी तौर पर प्लास्टिक के विरुद्ध कोई प्रतिबंध नहीं है, लेकिन यहां 'नीलगिरि' और 'हाइको' जैसे बड़े स्टोर में सामान को प्लास्टिक थैलियों में डालने से पहले ग्राहक से पूछा जाता है और उसकी स्वीकृति मिलने के बाद ही ये थैलियां बिल में एक सामान्य मूल्य जोड़ने के बाद ग्राहक को मिलती हैं। लेकिन इसी के सामानांतर छोटे दुकानदार आज भी धड़ल्ले से बिना रोक-टोक के हानिकारक थैलियां खरीददारों को लुटाते चलते हैं, और उनकी कहीं कोई जवाबदारी नहीं है। जाहिर है कि इस तरह के ढीले नियमों से प्लास्टिक के उपयोग में कमी आने की अपेक्षा रखना खामखयाली होगी।

देखा जाए तो आज हमारा समूचा देश ही एक बहुत बड़े कचरादान में तब्दील हो गया है, जिसमें न सिर्फ अपने स्वयं के, बल्कि दूसरे शातिर मुल्कों से आयात किए गए विषाक्त कूड़े के लिए भी पर्याप्त जगह है। नेशनल एनवायरमेंट इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट का कहना है कि अक्सर 'रिसाइक्लींग' या पुनरुत्पादन के आकर्षक नारों तले दुनिया के विकसित देशों द्वारा निष्कासित कचरा हमारे समुद्रतटों पर कानूनी-गैर कानूनी ढंग से उतारा जाता रहा है।

आज से कुछ वर्ष पहले न्यू जर्सी, अमरीका की एक कंपनी ने तथाकथित 'गलती' से 35 कार्गो बक्सों में भरा प्लास्टिक, रबर और चमड़े का 900 टन कचरा हमारे टूटीकोरिन बंदरगाह पर भेज दिया था। काफी जन-आंदोलन होने के बाद इसे नीचे उतारने पर रोक लगा दी गयी लेकिन दूसरी और अमरीका की कंपनी को कोर्ट में घसीटने का भी कोई जरिया भी बाकी नहीं बचा क्योंकि यह कचरा उस 25000 टन के बड़े 'तथाकथित सुरक्षित' कागज के कचरे का हिस्सा था जिसे हमारे देश की

आई टी सी कंपनी ने स्वयं खरीदकर अमरीका से मंगवाया था। अब दुनिया का कोई भी देश इस खतरनाक कचरे को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। बताया जाता है कि आखिरकार यह कचरा एक दिन चुपचाप बंगलादेश, इथियोपिया या ऐसे ही किसी दूसरे गरीब मुल्क के मत्थे मढ़ दिया जाएगा क्योंकि अंततः सोमालिया की एक या सौ या हजारों जानों के मुकाबले एक यैंकी अमरीकन जान का वजन कहीं अधिक बैठता है।

ग्रीनपीस इंटरनैशनल के रॉबर्ट एडवर्ड के अनुसार प्लास्टिक की थैलियां हमारे शहरों और कस्बों के पर्यावरण को विषाक्त कर हमारा दम घोंट रही हैं, लेकिन प्लास्टिक उद्योग, जिसमें अंबानी से लेकर कई और दिग्गज शामिल हैं, सत्ता के उच्चतम गलियारों तक अपनी पहुंच रखता है। पत्तलों, कुल्हड़ों और ठोंगों पर टिकी हमारी पारंपरिक संस्कृति में इन थैलियों के लिए कोई जगह नहीं थी। लेकिन तीस चालीस वर्ष पहले अस्सी के दशक में देश को प्लास्टिक के मामले में आत्मनिर्भर बनाने और अपने प्लास्टिक उत्पादों को दुनिया के बाज़ार में उतारने के इरादे से कई बड़े-बड़े पेट्रोकेमिकल कारखानों का उदय हुआ, जहां से निकलने वाले पॉलीएथिलीन, पॉलीप्रोपलीन, पॉलीएस्टर, नाइलॉन और पी ई टी आदि ने हमारी जीवन शैली को बहुत तेजी से बदल दिया। आज प्लास्टिक के कुल उत्पाद का लगभग आधा हिस्सा पैकेजिंग के लिए प्रयुक्त होता है। मजबूती, पारदर्शिता, कम कीमत और जल-प्रतिरोधक गुणों के चलते हमारी अधिकांश पैकेजिंग प्लास्टिक की ओर मुड़ गयी है, जहां एक बार इस्तेमाल के बाद इसे फेंक दिया जाता है और यहीं से पर्यावरण से जुड़ी विकराल समस्या की शुरुआत होती है। मजबूती के लिए अब बाज़ार में चमकदार मेटेलाइज्ड प्लास्टिक का भी भरपूर इस्तेमाल होने लगा है जो पर्यावरण के लिए साधारण पोलीथीन या उससे भी अधिक घातक है। अधिकांश गुटके और पैकेज्ड नमकीन की थैलियां आजकल इसी मेटेलाइज्ड शीट से बने लगी हैं। गरीब और विशेषकर मजदूर तबके में चाय या गर्म पेय दुकान से घर या कार्यस्थल पर पहुंचाने के लिए भी प्लास्टिक थैलियां इस्तेमाल में ली जाने लगी हैं, जबकि गर्म चीजों की पैकेजिंग के लिए पॉलीथिन पर्यावरण ही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। आज भी हमारी संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा 'यूज एंड थ्रो' संस्कृति के बिल्कुल खिलाफ है। हम हिंदुस्तानी किसी भी चीज़ को उसकी उपयोगिता की आखिरी सीमा तक दुबारा इस्तेमाल में यकीन करते रहे हैं। लेकिन प्लास्टिक की इन थैलियों ने हमारी इस पारंपरिक सोच को भी काफी हद तक बदल दिया है। इंतहा यह है कि फेंकी गयी ये थैलियां रेल पटरियों के करीब ही नहीं,

पाकों, बगीचों, गटरों, कूड़ेदानों, पेड़ों की डालों और पक्षियों के घोंसलों तक में देखी जाने लगी हैं।

निस्संदेह प्लास्टिक के इस बदइस्तेमाल और इसके गैरजिम्मेदार ढंग से फेंके जाने की मानसिकता को आमूल बदलने की ज़रूरत है, लेकिन देखा जाए तो शहरों के निवासियों और पढ़े लिखों के बीच भी इस समस्या को लेकर गंभीरता का सख्त अभाव है। लेकिन यदि मन बनाए तो प्लास्टिक की इस घातक आदत को बहुत आसानी से अधिक पर्यावरण हितैषी उपायों की ओर मोड़ा जा सकता है। यही नहीं, हमारे जीवन में इस्तेमाल की चीजों को दुबारा, तबारा प्रयोग में लाने का चलन कितना सहायक हो सकता है, यह भी समझने की ज़रूरत है।

मैं बाज़ार के लिए अपने साथ घर के कपड़े का थैला लेकर निकलता हूँ। लेकिन इसके बावजूद आठ-दस दिन के अंतराल पर कमरे में अखबारों की रद्दी एवं बाज़ार से लायी गई पैकेटबंद वस्तुओं की थैलियों का इतना ढेर इकट्ठा हो जाता है कि उसे वहां से हटाना ज़रूरी हो जाता है। किसी औसत मध्यवर्गीय व्यक्ति को इस बात से संतोष हो सकता है कि दुकानों से मिलने वाली प्लास्टिक की थैलियां घर का कचरा इकट्ठा करने के काम आती हैं और रद्दी वाला अब साढ़े छः रुपये किलो के हिसाब से अखबारों के ढेर के तीन-साढ़े तीन सौ रुपये दे जाता है। हालांकि यह आपूर्ति और मांग की एक बेहद तात्कालिक स्थिति है जिसके तहत आज हमारे इस पिछड़े हुए समाज में इस्तेमाल की हुई हर चीज, चाहे वह खाली बोतल हो या लोहे का भंखार, हमें कुछ न कुछ फायदा देकर ही घर से जाती है। लेकिन बदलाव के जिस तथाकथित विकास की ओर हम बढ़ रहे हैं, उसमें यह स्थिति बहुत समय तक चलने वाली नहीं है। पश्चिमी दुनिया की हालत तक पहुंचते-पहुंचते अखबारों एवं कचरे को ठिकाने लगाने के लिए हमें अपनी तरफ से कुछ खर्च करना पड़ेगा। जिस व्यर्थ सामान एवं जूठन को हम बाहर की वस्तु-स्थिति का खयाल किए बगैर बड़ी सहजता के साथ आज अपनी खिड़की से बाहर फेंक रहे हैं, उसे दुबारा उठाने एवं इस गैरजिम्मेदाराना हरकत के लिए हर्जाना या दंड भरने की स्थिति भी कल अवश्यंभावी रूप से हमारे सामने आने वाली है। दुनिया के कुछ हिस्सों में पर्यावरण को लेकर जिम्मेदारी की यह भावना काफी समय से सख्ती के साथ लागू की जा चुकी है। सिंगापुर की शहरी सीमाओं के भीतर कचरा, रैपर या कागज का टुकड़ा अनाधिकृत रूप से फेंकने का न्यूनतम दंड सौ डॉलर या पांच हजार रुपए हैं। जर्मनी में जमीन पर तेल फेंकने के जुर्म में आप भारी दंड भरने के अलावा जेल भी जा सकते हैं। लेकिन कचरे और खास तौर पर प्लास्टिक के आतंक

से जूझते हमारे देश में आज भी सामान्य नागरिक इसके भयानक दूरगामी परिणामों को जानने या समझने की कोई जरूरत नहीं समझता है। इस महान धरती पर आप न सिर्फ कचरे को जहां चाहे वहां मनचाहे ढंग से फेंक सकते हैं, बल्कि यदि आप किसी को ऐसा करने से रोकते हैं तो कई बार आपका सामना बेहद असभ्य प्रतिरोध से हो सकता है।

लेखक-प्रशासक गोपालकृष्ण गांधी लिखते हैं—

“...हमारा घर औसत मध्यवर्ग में भी मध्यम दर्जे का रहा होगा। हमारे घर में महीने के शुरू में जो आटा, दाल, चावल, नमक और चीनी पंसारी की दुकान से आती थी, उसे ठीक से बर्नी और डिब्बों में रख दिया जाता था। इन चीजों के लिफाफे कागज के होते तो उन्हें मोड़कर फिर से इस्तेमाल के लिए रख देते, कपड़े की थैलियां, बोरियां होतीं तो उन्हें भी फिर से किसी और काम में लगा दिया जाता था। चौके में कचरा फेंकने के लिए बस एक छोटा सा टीन का डिब्बा था। वह भी पुराने किसी आटे के कनस्तर से काट कर बनाया गया था। इसमें बस सब्जी भाजी के छिलके और कुछ छोटी-मोटी चीजें डाली जाती थीं। होता ही कितना था भला फेंकने के लिए?

आज मध्यम वर्ग के एक मध्यम से घर के चौके में कचरे के एक नहीं प्रायः दो डिब्बे रहते हैं, ठसाठस भरे पड़े। और ये वो टिन कनस्तर काट कर बनाए गए डिब्बे नहीं। आधुनिक कचरा पेटी हैं ये। पैडल से ढक्कन खुल जाए, वैसी। इनमें तरह-तरह के आकार और मोटे-पतले प्लास्टिक पैकेटों को लगातार फेंका जाता रहता है। फिर अनगिनत किस्म से बनी उन थैलियों की भी गिनती नहीं, जिनमें भरे दूध, चीनी, नमक-बेशक सभी जरूरी चीजें हैं—आदि को खाली कर इन कचरा पेटियों के हवाले किया जाता है। इस तरह के कचरे की सूची लंबी है। और इसके अलावा पीने का पानी। वह तो हमारे नलों में आना चाहिए, पर आता नहीं। ...प्लास्टिक के बड़े-बड़े बम्बे या फिर प्यारी दुलारी छोटी-छोटी बोतलें। यह सब भी कचरे के ढेर में समा जाता है। सुबह की पहली किरण के साथ ही हम इन डिब्बों में कचरा फेंकने लगते हैं। दिन की शुरुआत के लिए बनने वाली कॉफी में जो प्राणदायी सफेद दूध डलने वाला है, वह बेहद सुविधाजनक प्लास्टिक के पैकेट में ही आता है। काटो, दूध निकालो और पैकेट फेंको!

शायद इस दमघोटू बाजारवाद की दुनिया में कुछ खीझ से भरा यह मेरा स्वभाव ही होगा कि मैं सुबह उठते ही पहला काम यही करता हूँ कि अपने अखबार को झकझोरता हूँ ताकि बीच के पन्नों में छिपी तरह-तरह के रंग-बिरंगे विज्ञापनों

की पर्वियां मेरे रास्ते में न आएँ। फिर इसके बाद थोड़ा सुबह घूमने के लिए निकलता हूँ तब बाहर मुझे अपने चौके का कचरे का डिब्बा कई सुना होकर बड़े आकार में दिखने लगता है। सुबह घूमूँ या रात को घूमूँ मैं तो सीधे अपने पिछले दिन फेंके गए कचरे में चला जाता हूँ। कचरे के उफनते हुए इन ढेरों में मुझे हर चीज पहचान में आ जाती है। ये सब हमारी ही फेंकी हुई चीजें जो हैं हर चीज चाहे वह पूरी हो, अखंडित हो, टूटी हो, खंडित हो, मुड़ी-तुड़ी या दचकी-पिचकी हो— होगी वह मेरी ही या फिर मेरे ही जैसे लोगों की। मैं उनचालीस करोड़ शहरी लोगों में से हूँ जो इस फलते-फूलते कचरे के एक अमर पहाड़ के जनक बन गए हैं।... और उठाया गया कचरा भी कहीं ठिकाने नहीं लगाया जाता। यह सब वहीं रहता है... मुझे तो लगता था कि कचरे को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर उसे निथारा जाता होगा, उसकी खाद बनाई जाती होगी। लेकिन मुझे डर है कि ऐसा कुछ भी नहीं होता। कचरे का यह ढेर शहरों से निकलकर उसकी सीमा पर पहुँच जाता है, सीमा पार भी हो जाता है और फिर से उन जगहों में डाल दिया जाता है जो किसी और काम के लिए बनी थी। ये जगहें किसी तालाब की होंगी, दलदल होगा, खेत होंगे— इन सब जगहों में शहर का कचरा, हमारा शहरी भारत एक घाव की तरह अपनी मवाद छोड़ जाता है... ”

(‘गांधी मार्ग’ में गोपालकृष्ण गांधी)

कचरे की इस पेचीदा यात्रा में एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे कचरे का है, जिसे गैरजिम्मेदाराना तरीके से फेंक दिया जाता है और जिसे उठाने वाला कोई नहीं होता। हमने अपनी शुरुआत रेल की खिड़की या दरवाजे से फेंके गए कचरे से की थी। लेकिन शहरों में उठाए जाने वाले कचरे का भी बड़ा यथार्थ यह है कि घर के कूड़ेदान से गली के कूड़ेदान और वहां से हर सप्ताह म्युनिसिपैलिटी के ट्रक में लादा जाने वाला यह कचरा भी किसी परिष्कृत प्रक्रिया से नहीं गुजरता बल्कि एक जगह से उठाकर दूसरी जगह फेंके जाने वाले इस कचरे के पहाड़ों से कमोबेश सिर्फ शहर की सरहदें तय होती हैं।

हममें से अधिकांश इस बात से अनभिज्ञ होंगे की प्लास्टिक के इस महादैत्य के विरुद्ध एक ऐसी जमात लगातार लड़ रही है, जिसे देखकर हम लोग अक्सर दुतकार देते हैं। और यह जमात है शहरों-कस्बों में फैले कचरा बीनने वालों की, जो अपनी रोटी-रोजी कमाने के लिए कचरे के ढेरों से प्लास्टिक के थैले और बोतलें चुनते पाए जाते हैं। कहा जाता है कि सिर्फ दिल्ली शहर में तीन लाख कचरा बीनने वाले हैं जो हर रोज कूड़े के ढेरों से प्लास्टिक का कचरा बटोरकर इसे उत्पादकों या

उनके ठेकेदारों को लौटाते हैं। इनमें से आधे से अधिक बच्चे हैं, और शेष हैं महिलाएं और बूढ़े, जिन्हें यह समाज किसी भी अन्य काम के काबिल नहीं समझता। कचरे का यह ढेर ही उनकी जीविका का एकमात्र साधन है, और इनमें से शायद ही किसी को इस बात का अहसास होगा कि प्लास्टिक में डूबी इस संस्कृति में वे कितना महत्वपूर्ण किरदार अदा कर रहे हैं। इन्हें किसी संस्था या किसी सरकारी महकमे से सहायता नहीं मिलती और न ही सामान्य दिहाड़ी वाले मजदूरों की किसी संख्या में इनकी गिनती होती है।

लेकिन दिक्कत यह है कि कचरे से प्लास्टिक बीनने वालों की जमात कमोबेश रोटी-रोजी के लिए यह अरुचिकर काम कर रही है और इसका आर्थिक पक्ष ही इसकी सीमा भी बन गया है। होलसेल बाजार में कचरे से इकट्ठे किये गए एक किलो प्लास्टिक के बारह से पंद्रह रुपए मिलते हैं और गंदे प्लास्टिक के इससे भी कम। आम तौर पर यह कचरा बीनने वाले प्लास्टिक की महीन थैलियों को कचरे से इसलिए नहीं उठाते क्योंकि इसके एक किलो के लिए उन्हें 500 से 800 थैलियां उठानी पड़ती हैं और इतनी मेहनत सबसे खस्ता से खस्ता हाल कचरा बीनने वाले को भी गैर-वाजिब लगती है।

कचरे की इस भयावह समस्या से जूझने के लिए 1996 में सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय ने एक राष्ट्रीय प्लास्टिक प्रबंधन समिति का गठन किया। इसकी पहली बैठक में सभापति डॉ. दिलीप विश्वास ने प्रस्ताव रखा कि प्लास्टिक उत्पादकों को प्लास्टिक वापस लेने की योजना चलायी जा सकती है, जिसके तहत प्लास्टिक की खाली थैलियों को लौटाने पर ग्राहक को कम्पनी की ओर से एक निश्चित रकम दी जाए। डॉ. विश्वास का तर्क था कि जब कांच की खाली बोतलें लौटाने के पैसे मिल सकते हैं तो इसी तरह की योजना प्लास्टिक के लिए क्यों नहीं हो चलायी जा सकती। लेकिन प्रभुताशाली प्लास्टिक उत्पादकवर्ग ने इस प्रस्ताव को एक सिरे से खारिज कर दिया। उसका कहना था कि प्लास्टिक कचरे को इकट्ठा करने की सारी जिम्मेदारी उपभोक्ता और सरकार की है। उन्होंने इस जिम्मेदारी में हिस्सेदार बनने से साफ इंकार कर दिया। सरकार भी उन्हें नाराज नहीं करना चाहती थी। लिहाजा वस्तुस्थिति उसी तरह कायम रही। सभी पक्ष इसबात से सहमत थे कि प्लास्टिक कचरे को इकट्ठा करने का काम निजी व्यक्तियों को दिया जाता रहे और इसकी कोई जवाबदेही निर्माताओं पर न आए। निर्माताओं के प्रति सरकार की यह कमजोरी एक बार पहले भी सामने आ चुकी थी। प्लास्टिक के अधिकांश निर्माता मुम्बई और इसके आस-पास के इलाके में स्थित हैं। कुछ वर्ष

पहले मुम्बई में जब मानसून ने कहर ढाया था और बाढ़ में कई जानें गयी थीं तो पाया गया था कि बाढ़ की प्रमुख वजह नालियों और ड्रेनेज का प्लास्टिक थैलियों से रुक जाना थी। राजनीतिक आबोहवा में बम्बई म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन ने प्लास्टिक थैलियों पर प्रतिबंध लगाने का फैसला किया था, लेकिन निर्माताओं के दबाव में बी एम सी के मेयर को रातोंरात यह फैसला बदलना पड़ा था। तर्क यह दिया गया था कि जल्दबाजी में लिए गए इस फैसले से थैलियां बनाने वाले हजारों मजदूरों की रोटी-रोजी जाती रहेगी।

इस दुरभिसंधि से बाहर निकलने के लिए सरकार ने 2009 में जो निर्णय लिया वह भी पूरी तरह बेतुका, पर्यावरण के विरुद्ध एवं प्लास्टिक उत्पादकों के हितों की रक्षा करने वाला था। सरकार ने कहा कि चूंकि प्लास्टिक की महीन थैलियों को कचरा बीनने वाले नहीं उठाते, और चूंकि पतली थैलियों के निगलने से मवेशियों की मौत हो जाती है, इसलिए प्लास्टिक की 20 माइक्रॉन से पतली प्लास्टिक शीटों पर प्रतिबंध लगा दिया जाए। इस प्रतिबंध से एक तरफ जहां प्लास्टिक उत्पादकों का प्रोडक्शन बढ़ा, वहीं दूसरी ओर प्लास्टिक कचरे की मात्रा भी बढ़ गयी। कचरा बीनने वाले अब भी इन थैलियों को उठाने से कतराते रहे और पानी में पैक गुटके और दूसरे सामान के पाउच को तो छूने का तो सवाल पहले भी नहीं था, जबकि कचरे में सबसे अधिक मात्रा इन्हीं थैलियों और पाउचों की होती है। इन सारी कठिनाइयों के चलते फरवरी 2011 में एक नया प्लास्टिक उत्पादन, उपयोग एवं कचरा प्रबंधन नियम (2011) लागू किया गया जिसमें प्लास्टिक थैलियों में इस्तेमाल किए जाने वाले प्लास्टिक की न्यूनतम मोटाई बढ़ाकर 40 माइक्रॉन करने का प्रावधान है। यही नहीं इसमें गुटका की छोटी थैलियों में प्लास्टिक का प्रयोग वर्जित कर दिया गया है। पर्यावरण की दृष्टि से ये सही कदम हैं, लेकिन इनका कार्यान्वयन आज भी एक समस्या है क्योंकि न तो 40 माइक्रॉन से पतली शीट से बनी थैलियां बाजार से गयी हैं और न ही गुटका के पाउच में प्लास्टिक का प्रयोग बंद हुआ है।

देश के पर्यटक स्थलों और पहाड़ों में छुट्टियों के दौरान वहीं की जनसंख्या बेतरह बढ़ जाती है। पर्यटकों की भीड़ अपने साथ कचरे की एक बाढ़ भी लाती है। इसी से निपटने के लिए हिमाचल और कुछ अन्य राज्य सरकारों ने प्लास्टिक की पैकेजिंग पर प्रतिबंध लगा दिया है। वहां के बाजारों से खरीदा सारा सामान आपको जूट के थैलों या अखबार के कागज में लिपटा मिलेगा। लेकिन चूंकि यह प्रतिबंध बाहर से जाने वाले प्लास्टिक में पैक सामान और पानी की बोतलों पर लागू नहीं

होता, इसलिए पर्यावरण और कचरे के प्रबंधन पर इसका बहुत कम असर पड़ा है।

विशेषज्ञों का मानना है कि इस समस्या से जूझने के लिए प्लास्टिक थैलियों पर आंशिक या पूर्ण प्रतिबंध लगाना और इस्तेमाल की गयी थैलियों के प्रबंधन में उत्पादकों की साझीदारी होना बेहद जरूरी है। जिस रफ्तार से प्लास्टिक सामान की खपत और उसका उत्पादन बढ़ रहा है और जिस गति से इस देश की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है उसे देखते हुए यदि जल्द-से-जल्द राष्ट्रीय स्तर पर कठोर नियम न अपनाए गए तो यह समस्या हमारी और हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए एक भयानक अभिशाप बन सकती है।

* * *

आज के उपभोक्तावादी युग में जो बातें पार्थिक कचरे और अति उत्पादन से फालतू होते चले सामान पर लागू होती हैं लगभग उन्हीं को हम आज के आई टी युग में बौद्धिक जानकारी की बहुलता और उसके इकहरेपन में भी महसूस कर सकते हैं। सूचना और अति-सूचना का यह बेअंत अम्बार एक अलग तरह के बौद्धिक कचरे और जड़ता को जन्म दे रहा है जिसे गोपालकृष्ण गांधी अखबार के पन्नों से नीचे गिरने वाली विज्ञापन की पैफ्लेट के रूप में देखते हैं, तो कुछ अन्य लोग मीडिया के तीखे 'ड्रेसिबल' साम्राज्य से शिकायत दर्ज करते हैं। पिछले आम चुनावों में मोबाइल फोनों और मीडिया चैनलों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और इसके अतिक्रमण की सारी लक्ष्मण रेखाएं लांघ डाली थी। छपे हुए शब्दों का संसार भी बौद्धिक कचरे के इस चौतरफा प्रकोप से अछूता नहीं रहा है। देखा जाए तो छपे हुए शब्द से पाठक के लगातार विमुख होते चले जाने से बौद्धिक कचरे की बाढ़ का भी बड़ा हाथ रहा है। रही-सही कसर मीडिया के 'पढ़ो-सुनो-देखो-और भूल जाओ' के रवैये ने पूरी कर दी है। बहसों, सम्मानों और पुरस्कारों को प्रायोजित करने और प्रशस्तियां गढ़ने में हिंदी जगत को महारत हासिल है। पत्रिकाओं में अधिकांश रचनाएं छपने की सीमित आकांक्षा के साथ पृष्ठों में इजाफा करती हैं और अधिकांश चर्चाओं का प्रमुख उद्देश्य भी किसी सार्थक सोच तैयार करने की जगह यथास्थिति में इजाफा करना ही होता है। परिमाण की दृष्टि से हमने चाहे जितनी तरक्की कर ली हो, गुणवत्ता और सार्थकता के मामले में आज भी हम पुराने युग से आगे नहीं निकल पाए हैं। इवान क्लीमा कहते हैं—

“हमारी सभ्यता त्वरण के जिस अहसास से इन दिनों गुजर रही है, जानकारी और सूचना का जो अपरिमित अंबार हमारे इर्द-गिर्द गूंजने लगा है, उसके साथ ही यह खतरा भी जन्म ले रहा है कि अंततः हम इसी के खालीपन में डूबकर रह

जाएंगे। खालीपन, जो हमें अपनी जड़ों से विलग कर समय और अस्तित्वहीनता के शून्य में धकेल देगा। यह खतरा समूचे साहित्य और सारी कला विधाओं के साथ भी है।... सब यह है कि हमारे समय की सत्ताओं ने परंपरा, पारंपरिक मूल्यों को आरोपित करने का षड्यंत्र रचा है... और आज की कूड़े की उस बाढ़ के बारे में क्या कहा जाए जो आए दिन पाठक और दर्शक को प्लावित और सराबोर करती है।... आजकल हर दूसरे क्षण एक नई किताब वजूद में आ जाती है। इनमें से अधिकांश उसी शोर का हिस्सा होती हैं, जिसकी वजह से हमें सुनाई देना बंद हो गया है। तो इस तरह किताब भी विस्मृति फैलाने का एक और उपकरण बनती जा रही है..."

क्लीमा के इन वाक्यों को हम आज के टेक्नोलॉजिकल विकास या कि सूचना विस्फोट का 'एंट्रीडोट' या कि आने वाले खतरे का संकेत-चिन्ह मान सकते हैं।

व्यावसायिक उत्पादों की बहुलता और आज के कचरा उगलने वाले ज्वालामुखी की तरह जानकारी एवं विचारों की अति-उत्पादकता भी हमारी सोच को लगातार भोंथरा और जड़ बनाती जा रही है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण आज के सैकड़ों टी वी चैनल हैं जहां जानकारी का बहुत सारा कचरा और उथला सामान अपनी समूची अतिरंजना के साथ हमें ढेरों-ढेर बिखरा दिखाई दे जाएगा। प्रकाशन जगत की स्थिति भी इससे बहुत भिन्न नहीं है। पत्रिकाओं, समाचार पत्रों एवं किताबों में जगह पाने वाली अधिकांश रचनाएं आज प्रिंट मीडिया में अपने-आपको खपा देने की सीमित महत्वाकांक्षा के साथ उसी 'शोर' का हिस्सा होती हैं, जिसका जिक्र इवान क्लीमा ने किया है। अति-उत्पादन के इस युग में हम बाकी अभ्यासों के साथ-साथ 'उपभोग के व्यभिचार' का भी शिकार होते जा रहे हैं।

इवान क्लीमा की ही 1991 में लिखी गयी एक छोटी सी टिप्पणी के अंश पर गौर करें तो कचरा उगलने वाली इस सभ्यता के संकट से जुड़े कुछ और सवाल मुखर रूप से सामने आ जाएंगे—

"बस पकड़ने के लिए हर रोज़ मुझे एक लावारिस अहाते से होकर गुज़रना पड़ता है। किसी वक्त यहां एक बगीचा होता था। अहाता जिस मकान में शामिल था, वह काफी पहले ढक चुका है। अब पेड़ों और झाड़ियों के बीच से एक सुनिश्चित पगडंडी कायम हो चुकी है। कई वर्षों पहले यह हिस्सा मेरे पैदल रास्ते का सबसे खुशनुमा मंज़र हुआ करता था। फिर एक दिन इस घास पर कोई प्लास्टिक की बोतल फेंककर चला गया। किसी और ने ठोकर मारकर इसमें बियर के कैन का इजाफा कर डाला। तब कोई तीसरा यहां पूरी

बाल्टी भर कचरा उलटाकर चलता बना। मैंने गौर किया कि अपने अवचेतन में अब मैं इस अहाते से बचकर निकलने की कोशिश करने लगा हूँ। एक ज़माने का वह बगीचा अब कबाड़ और कचरे के कब्रिस्तान में तब्दील हो चुका है।

कचरे को मैं अपने वक्त की एक गंभीर समस्या के रूप में देखता हूँ। समस्या, जो एक तरह से हमारे वक्त का रूपक बन चुकी है। बहुत पहले, अपने एक उपन्यास का मसौदा तैयार करते समय मैंने सड़क पर झाड़ू लगाने वाले का काम किया था। मेरे शहर में कचरे को लेकर लगातार एक कश्मकश चलती रहती है। जिस बड़े ढेर में अधिकांश कचरा इकट्ठा होता है, वहां अब और जगह बाकी नहीं रही है और कोई भी एक नयी जगह तय करने की जहमत नहीं उठाना चाहता। अब वहां आग लगाने के लिए एक भट्टी बनायी जा रही है, लेकिन यह इलाका बस्ती के बीचोंबीच है और यहां के बाशिंदे शिकायत दर्ज कर रहे हैं कि उनका पहले से बेतरह प्रदूषित इलाका अब कचरे से उठते धुंए और राख की ज़्यादती झेलने पर भी मजबूर हो रहा है। उनकी जगह में होता तो शायद मेरी भी यही प्रतिक्रिया होती। भट्टी सिर्फ अंजाम से उलझ सकती है, उसका मूल समस्या के समाधान से कोई लेना देना नहीं होता।

देखा जाए तो आज हम अति-उत्पादन के जिस युग में जी रहे हैं, वहां कोई वस्तु जिस क्षण उत्पादित होती है, उसी क्षण वह संभावित कचरे की शकल इस्त्रियार कर चुकी होती है। ऐसा पहले भी होता था, लेकिन पहले और आज के वक्त में उत्पादन की मिकदार में भयानक परिवर्तन हो गया है। पहले पत्थर की चक्की शताब्दी भर तक चल जाती थी और काठ का बेलन कई पीढ़ियों तक काम में आता था। आदमी के पास काम करने के लिए चप्पलों की एक जोड़ी होती थी। और इंसान अगर पूरी तरह फक्कड़ न हुआ तो जूतों की एक जोड़ी वह रविवार को चर्च में पहनने के लिए संभालकर रखता था। जूते उसकी आदतों का एक हिस्सा बनकर सालों-साल चलते थे। और आखिरकार जब वे पूरी तरह घिस जाते तो मोची उनके बदले एक नया जोड़ा सिल देता था। उसकी घिसने की प्रक्रिया उनके इस्तेमाल के लंबे सिलसिले का स्वाभाविक नतीजा होती। लेकिन आज ?

आज हम हद दर्जे के फिजूलखर्च और पागलपन की हद तक बहुतायत के अंध पुजारी बन चुके हैं। चीजों के घिस चुकने से पहले ही हम उनसे उकता जाते हैं और हमारी इस मांग के अनुरूप चीजें भी अब पहले के मुकाबले काफी कम चलने लगी हैं। और यदि हम उकताते नहीं, तब भी हमें पता होता है कि खरीदने के कुछ ही महीनों में ये चीजें फैशन से बाहर चली जाएंगी। मैं सोचता हूँ कि कचरे के

समंदर में डूब चुकने से पहले हमारे बीच क्या कोई ऐसा इंसान भी होगा, पूरी तरह अधाया हुआ, जो इन सारी चीजों से असंपृक्त, फैशन की इस तानाशाही और चमकदार आकारों एवं रंगों के सम्मोहन के प्रतिरोध में सीधा खड़ा होकर हमें फिर से वस्तुओं की गुणवत्ता की ओर लौटा सकेगा, ताकि विनम्रता एवं संयम की ओर हमारी यात्रा फिर से शुरू हो सके।

यह बात जितनी पार्थिव चीजों के बारे में सही है, उतनी ही यह इंसान की बौद्धिकता एवं उसके जज्बे पर भी लागू होती है। उत्पादों की बहुलता की तरह जानकारी एवं विचारों की अति-उत्पादकता भी हमें गुणवत्ता की जगह मिक्कदार एवं परिमाण की स्थूलता की ओर धकेल रही है।

हमारे पूर्वज सिर्फ बाइबिल, रामायण या गिनी-चुनी किताबों से काम चला लेते थे। लेकिन इन किताबों को वे न सिर्फ पढ़ते थे, बल्कि याद भी करते थे। टी वी का अस्तित्व नहीं था और अखबारों में भी इश्तहारों की बाढ़ से अछूते सिर्फ कुछ ही पन्ने होते थे, जिसके परिणामस्वरूप लोगों के पास चीजों पर विचार करने, समझने एवं प्रकृति को साधने के लिए ज्यादा वक्त होता था। और इन्हीं में से कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो जीवन के दृष्टिकोण को समेटने और बाद में उसपर पालन करने में सफल हो जाते थे। लेकिन आज ?

आज हम सूचना के ऐसे प्रलय से अभिशप्त हैं जिसमें हमारे अधिकांश विचार जन्म लेने के साथ ही बृहत्तर कचरे का हिस्सा बन जाते हैं। मैं बहुत आतंकित होकर देखने लगा हूँ कि एक ज़माने के उस बगीचे के बीच से चलते समय अब लोगों को इस बात का भी अहसास नहीं होता कि हकीकत में वे फूलों की क्यारी से होकर नहीं बल्कि कचरे के ढेर के बीचोंबीच चल रहे हैं।"

क्लीमा की इस टिप्पणी से आगे शायद कचरे के आध्यात्म को लेकर कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता। क्लीमा के शब्दों की प्रतिध्वनि को यदि गोपालकृष्ण गांधी की बात से जोड़ दिया जाए तो—

"समुद्र में आठ हाथों वाला एक जीव रहता है, जिसका नाम है — ऑक्टोपस! आज हमारा नित नया फल-फूलता बाज़ार इस ऑक्टोपस जैसा ही हो गया है। इसलिए उससे पूछा जाना चाहिए कि अरे ऑक्टोपस, तुम जिस समुद्र में रहते हो, यदि उसमें रोज़-रोज़ ज़हर घुलता जाए, प्रदूषण होता जाए और फिर एक दिन वह सूख भी जाए तो क्या तुम्हारे ये आठ हाथ तुम्हें बचा पाएंगे?"

नये कवि/पहली बार

उत्तराखंड से निकले 'पहल' के एक पुराने साथी सुरेन्द्र सिंह विष्ट ने हमें ये कविताएं उपलब्ध कराई हैं। सुरेन्द्र सिंह एक कविता प्रेमी टेक्नोक्रेट हैं और आस्ट्रेलिया के पर्थ शहर में बस गये हैं। कवि जिला नैनीताल में अध्यापक हैं और साहित्य की दुनिया से किनाराकशी कर चुके हैं, कभी कभी आते जाते हैं। हमारी कोशिश है कि फ़रेन को गुमनामी से बाहर लायें।

फ़रेन कवितायें

हमारा ओलंपिक

अण्डाकार इमारतों में नहीं
खुले मैदानों में होंगे
हमारे ओलंपिक

टिकट नहीं आँख लगेगी देखने में!

जीयू के घर से जो आग चुराकर
लाया जा सोफोकलीज
उस साहस की मशाल जलेगी

अर्जुन नहीं
एकलव्य जायेगा इस बार

मेडल नहीं
छाती पर मोहर लगेगी प्रतिभागियों के
हमारे ओलंपिक में

खेलों के आगाज में
रौशन फ़ाक्ते नहीं

प्लाई फाड़ते बर्मे का शोर होगा
कोलंबस की माँ होगी मुख्य अतिथि
कल्पनाओं को आशीर्वाद बांटती
खिलाड़ीपन की खाल उधेड़ती

* * *

पंक्तिबद्ध हो जाओ सारे
टीम चुनी जाएगी अब !

बिल गेट्स तुम्हारा बाबा हमारे
स्टेप्लर तुम्हारा आलपिन हमारी
लगाम तुम्हारी नकेल हमारी

प्लेटो तुम्हारा सुकरात हमारा !

प्रतियोगिताओं के सारे बोनसाई तुम्हारे
पहाड़ का हिनहिनाता देवदार हमारा

तुम्हारे सारे माने गुलजार के
हमारा गान गद्दर का

* * *

साइकिलों पर नहीं
नंगे पाँव होगी दौड़
फरटि नहीं चौकी दौड़ होगी
लंबी नहीं ऊँची कूद होगी

पूल के अचल जल में नहीं
बरसाती लोहित में होंगे मुकाबले

भार नहीं
आदर्श उठाए जाएंगे इस बार

संतरे का जूस नहीं
असंतोष का ज़हर होगा बिस्लरी

हथेलियाँ नहीं
हरे तने पीटे जाएंगे
बारदार कुल्हाड़ियों से
हमारे ओलंपिक में

ओलंपिक तक पहुँचने की शतरंज
नज़र आती है साफ-साफ
अब माँत समझो !

कोलार का बेरोजगार जीत लेगा
लोहे की चाबी से
सारे सुनहले ताले

* * *

और कविताएँ होंगी न्यायाधीश !

धर्म्रे के लिए नाँचती है बसन्ती
कविताएं कभी नहीं नाचती !

कोई नहीं हारेगा
सब जीतेंगे !

अर्थशास्त्र नहीं
समाजशास्त्र पहनेगा ताज़
हमारे ओलंपिक में

पिकारदा¹ को विवाह का प्रस्ताव

अमेजन के वेग का डर और
नील की लंबी थकान
उभरती है मेरी नौद में !

तुम्हें थामनी होगी मेरी नौद..

मेरे सच की धूप में पकना होगा
अपने अनाज की महक खोए बगैर
वचन दो !
ज्ञान की फसल से दृष्टि का बीज
हवा की तरह अलगाओगी तुम...

कबूलना होगा तुम्हें
मेरे क्रोध की हत्या का पाप

मेरे चेहरे की चेचक तलाश लेगी
तुम्हारी आत्मा का आर्श

जज्ब कर लेना मेरे मस्तिष्क का जहर
जैसे उतारते हैं नग
जन्म के ग्रहों की स्थितियों की जंग

जिस स्वच्छ ओर नीली झील की तलाश में
तुम अपनाती हो सूत्र
जानना रह-रह कर
वो मेरे विस्फोट के बाद ही संभव होगी

सूत्र के बदले
बदलना होगा तुम्हें मुझसे

1. 'दौति' के 'पैरादाइजो' में चाँद पर रहने वाली औरत ।

मेरा अमंगल..
अहंकार के नारियल को छील कर
आश्वस्त करो मुझे!!
तुम जरूर पहुँचोगी मेरे मीठे पानी तक..

अपनेपन के उन बदरंग क्षणों में
समझाना
कैसे रचा स्त्रियों को
'सिर्फ एक पसली से' या
खुलकर क्यों नहीं हँसती मोनालिजा!

संशय उतरेगा संबन्ध के आँगन में जब
केवल साहस शस्त्र होगा तब

अकेली यात्राओं के आरम्भ में जने हैं
सूनेपन ने अकेलेपन के अधूरे पत्थर

साहस बटोरने वहीं जाना!!

आर्चिज के उन उत्सवों
और क्यूपिड की कहानियों के मध्य
बैठा होगा मेरी श्रद्धा का डर
तुम चीन्ह लेना मेरे सारे डर

मेरे प्रयासों को लंबी नहीं
गहरी नींद सुलाना
जगा देगा मेरे स्वप्नों की सुबह को
कच्ची नींद से...

आभावों को सुला
फिर ईद आएगी
थामना सब्र
समारोहों के उस उतावलेपन में

असारता का समुद्र फैलता है
जाम्बवन्त बन
फुसफुसाओ मेरी ताकतें
मुझे कूदना है...

मेरे तुतलाते साहस के लिए
दादा की अंगुली बन
जल्द आओ !

हाथ की सत्ता में अकेली पड़ती है तर्जनी
आओ !
उठाओ मेरा गोवर्धन

पोती को दादा का खत

उठ !!
उबाल आने वाला है
शताब्दी और सभ्यता करवट लेती है
तुझे नींबू निचोड़ना है ।

अगर नींद आने लगे माँ को
तो जगा देना, गर्भ से ही हाथ हिला
तुझे पूरा सुनना है चक्रव्यूह !

ऊँट की तरह बनानी होगी
तुझे अपनी जगह, तँबू में
रात के रेतीले तूफान में

जानकार तो तू हो ही जाएगी
इन्तज़ार करूँगा मैं
तेरे अक्ल की दाढ़ का

चीजों को भार नहीं सार से तोलना
लब हार जाएँ तो आँख से बोलना

तुझे आगाह कर दूँ
संसार तुझे स्त्री होना सिखाएगा
गलत और सही मिला कर पिलाएगा
तू मानसरोवरी हँस बनना

मधुमक्खियों की तरह
ऊन धीरे-धीरे जमा करना
माँ की रंग-बिरंगी डिजाइन सीखना

महाराणा की तरह भाग जाना
अपनी हार की महक मिलते ही
घास की रोटी और आस का पानी पीना
फिर लौटना, शत्रुओं पर
परशुराम का कहर बनकर

दादा की दादागिरी और बाप की बिसात
के बीच होगा तेरा जेहाद
पैखों में हवा नहीं लोहा भरना
फूल नहीं अंगार झरना

दर्पणों से घबराकर प्रसाधन नहीं
साहस का धन ओढ़ना
विपक्ष के दिल नहीं
करारी दलीलें तोड़ना

दर्शकों के चले जाने के बाद
खाली मंचों पर रियाज करना
ज्ञान हार जाए तो कयाश करना

अपने स्वभाव के विरुद्ध
प्रयत्नों को चूम लेना

तमगों पर मूत देना
औरत होकर औरत का साथ देना !

जब तेरा यौवन बसन्तोत्सव मनाता हो
पुरुष खटखटाएगा साँकल
समझाना, कितनी नफ़रत करती हो
लपलपाते वेग से

फिर विज्ञान की टार्च लेकर
वे झाँकेंगे तेरी रसोई में
तोड़ देना उनकी दूरबीनें
तेरी आबादी घट रही है !!

अपनी औलाद को आशीर्वाद नहीं
आईने देना,
शब्द नहीं, शब्द की शालीनता देना
और प्रकाश के लौटने पर
मोमबत्तियों को फूक से नहीं
माफीनामे से बुझाना
अंधकार के खिलाफ़
वे अकेली आवाज होती हैं

परिजनों और पंचामृत के मध्य नहीं
सफ़र में होनी चाहिए मौत !

यही जानना है बस तुझे !

इसके अलावा कोई तथ्य नहीं
और पूरा हो, ऐसा कोई सच नहीं !

कविता

अनिरुद्ध उमट अब पचास वर्ष के हैं, बीकानेर में रहते हैं। दो उपन्यास और एक कविता संग्रह प्रकाशित। उनकी कृति 'अंधेरी खिड़कियां' एक प्रतिष्ठित फेलोशिप के अन्तर्गत लिखी गई है। स्व. ज्योत्सना मिलन ने उमट के लेखन पर कभी टिप्पणी की थी कि वे कलात्मक जोखिम उठाने में शुरू से आगे हैं।

अनिरुद्ध उमट की कविताएं

तुम्हारा तकिया मैं चुरा न लूँ

बादल जब आकाश से चले जायेंगे
तब तुम
किसी को
याद करोगे

किस तरह उसे तुम सांत्वना दे पाओ

हम अब तभी
मिलेंगे अपनी
मच्छरदानियों से बाहर
एक दूजे को देनी होगी जब
एक दूसरे के आसपास के
किसी मरण की सूचना

ये ख्याल रखते कि
मेरा तकिया तुम
तुम्हारा तकिया मैं
चुरा न लूँ

ये भी एहति यात बरतना होगा कि
कन्धों पर शव हो
बंदूक
कुछ
देर को
न
सही

किसी के तकिये पर जागना

हथेली पर किसी की
रेखाओं पर
पीपल का पत्ता

जिस पर एक बूँद
ठिठकी
चाँद उसी में
उगना था

रात किसी के तकिये पर
था उसे जागना

रात ही किसी की देह पर
चहल कदमी
थी होनी

किन्ही हथेलियों पर
रखी जानी थी
अज्ञात अदृश्य
हथेलियाँ

जिन्हें फिर
अपने अपने चेहरों
पर रख लेनी थी

तलवार की धार पर सपनों को
था आना

स्मृति एक कपाल क्रिया

जिस टेबल पर मैं झुका था उस टेबल पर मैं लेटा था

हमारे बीच आत्मा किसी चाकू सी

मृत चीजें ही दूसरो को मारती हैं

फिर मैं उठूँगा तो मेरी छाया कतरनों में मेरा गला घोटने लगेगी
जिस कागज को घूर रहा हूँ
वह मुझे अपना अंधापन देने को आतुर है

तुम्हारी आवाज अभी सुनाई दी जब बगल के तारे ने
बगल के तारे को टूट मुँह के बल गिरते देखा

स्मृति एक कपाल क्रिया है जिसे विस्मृति प्रतिपल किया करती है

क्या उसे पता है वह किसका साया है ?

क्या उसे पता है कि उसे क्या पता है ?
क्या उसे पता है वह किसका साया है
क्या उसे पता है रास्तों में रास्ते खोते हैं
कि प्यास और आस अंतिम कल्प है

दोपहर के वीराने में कोई आएगा और खुद को चुरा ले जाएगा
मैंने जब उससे पूछा तो उसने कहा 'हाँ मुझे पता है!'
ये सुनते ही मैंने देखा मैं कहीं नहीं था

अब हम वहाँ थे जहाँ हम कहीं न थे

उसने मेरे भीतर अपनी विस्मृत हँसी की रेत पसार दी
अचानक टीले ने जैसे मेरा भक्षण कर लिया हो
मैं उसके बिसारने में यूँ धँसा

मेरे होने का कोई निशान अब वहाँ न था
केवल टीला था

जिस पर कभी बैठ कोई विक्रमादित्य बन गया था

आज मेरा दम घुटता जा रहा था
कोई कहीं न था

**मेरे ये शब्द नहीं चिता पर रखी जानी वाली
लकड़ियाँ हैं**

उसकी आंखे हरे कंचों सी चमकी जब उसने मुझे अपनी बुझती
डूबती सांसों की लहरों में अपने सीने से लगाया कि मैं उससे दूर
रहा जीवन भर तब मैंने देखा उसने अंतिम यात्रा की तैयारी कर
ली है

मैंने तब से देखा मेरे ये शब्द नहीं चिता पर रखी जानी वाली
लकड़ियाँ हैं

जिसकी ठंडी राख में से मैं दाँत ढूँढता उसके पैर में लगी लोहे की
रॉड को पाऊंगा और तब से मेरे दोनों घुटने टूट जाएंगे और मैं

मध्य रात्री में टूटते तारे की राख अपनी आत्मा पर बरसती पाऊँगा
अभी चूल्हा ठंडा है
रसोई में हम माँ बेटा उसमें फूँक मारेंगे तो कटोरदान में
तीन दिन पुरानी रोटी फूल जाएगी
अभी उसके गहनों में देवता अपना श्रृंगार करेंगे
अभी उसकी चप्पलों में मेरी बेटी की नींद का पैर है

अभी बीस साल पहले मरा बेटा और चालीस साल पहले लापता
उसका भाई उसे थाली परोसने का कहेंगे

अभी
अभी
अभी
अभी
अभी
... थाली पर बैठे मेरे पिता थाली पर लुढ़क जाएंगे
अभी
अभी
अभी
अभी
अभी
... पत्नी से बातें करता मैं अंधेरे आँगन में छाती के बल जा गिरूँगा
अभी
अभी
अभी
अभी
अभी
... नहीं ... अब कुछ नहीं

वह क्या था वह कौन था यह पूछते मैंने पाया कि मैं क्या था मैं कौन था

जहाँ तुमने पिछले जन्म में मुझे जिस पेड़ के नीचे खड़ा कर कहा
कहीं जाना मत अभी आता हूँ
मैंने इस जन्म में पाया वहाँ तो पेड़ था ही नहीं और तुम कौन थे
अब मैं किसी ऐसे पेड़ को ढूँढ रहा हूँ
जिसे अपने साथ चलने का कहूँ

मेरी छाया
उस पेड़ सी गायब है

कंठ में जड़ें उलझती आँखों से प्रवाहित है

वह क्या था वह कौन था यह पूछते मैंने पाया कि मैं क्या था
मैं कौन था

उदास प्रथम तारा रात के कच्चे सीने पर पहला नमकीन
आँसू गिराता है तो सूरज की लौ बुझ जाती है
समन्दर में उसका स्याह चेहरा यूँ डूबता है कि समन्दर भाप बन
उड़ने लगता है
उस भाप में कोई हाथ यूँ पसरता है जैसे गए प्राण लौट आयेंगे

प्रतीक्षा वह शब्द है जो प्रतीक्षा में हर जन्म में... मरण में यूँ
विलीन होता है कि फिर प्रतीक्षा की उम्र कैद में सर फोड़ता है

अंधे बिल में अजन्मे शिशु की पसली टूटती है तो ईश्वर की
हिचकी में गर्दन गिरे पेड़ सी लटक जाती है

उस घर की सीढ़ियों पर मेरे आने से पहले मेरे चले जाने के निशान थे

जिस डायरी में वह हरी बेंच पर अल्मोड़ा में बैठा
मिर्जा की काफी के भाप से अपना चेहरा ताप रहा था...
उसी में किसी पन्ने पर एंडर्सन द्वारा अपनी इन स्विंगर से
यूसुफ़ योहाना को बोलड करना था

उसी वक्त गर्मी में तपते मुझे बियर का पहला सिप लेते
पत्नी से सुनना था कि वह नहीं रहा
उसी वक्त हरी बेंच के सूनोपन पर एक फटी तस्वीर को आ
दम तोड़ना था

उसी वक्त नोएडा के टोल ब्रिज पर किसी का गुमनाम शव
उठाया जाना था

डायरी के अंतिम पेज पर मुझे उसके घर जाना था जहाँ मेरे लिए
अर्थी तैयार थी,
उस घर की सीढ़ियों पर आने से पहले
मेरे चले जाने के निशान थे

डायरी के किसी पन्ने पर हमें एक खूबसूरत चेहरा देख
पान खा अपने लाल होंट देखने थे

अभी अल्मोड़ा में पहाड़ और यहाँ रेगिस्तान में एक धोरा दरक...
ढह रहा है... पत्रों में कूकर की सीटी बज रही हैं
आईने में एक अंधा मोड़ बल खा रहा हैं

उसकी तस्वीर देख तब की नन्ही बच्ची बीस साल बाद पूछती है
ये मेरे सपनों में क्यों आता
दरवाजे पर अभी आधी रात दस्तक है
दूर पहाड़ पर कोई
सिसकता दरवाजा खोल रहा है

घाटी पर जैसे साँप बिछ गया है

मनोज रुपड़ा

‘आग और राख के बीच’

उस आदमी के दुर्भाग्य और उसकी दुख भरी ज़िंदगी के बारे में किसी को कोई खास जानकारी नहीं है सिर्फ़ इतना मालूम है कि डेढ़-दो साल पहले एक अग्निकांड में सामूहिक रूप से झुलसे उसके परिवार को इस अस्पताल में लाया गया था। उनमें से दो बच्चों और उन बच्चों की मां को कुछ ही घंटों बाद सफ़ेद कपड़ा ओढ़ाकर वापस भेज दिया गया था और वह बच गया था। हालांकि उसने बचाने की कोशिश करते वक़्त बचने की ज़रा भी कोशिश नहीं की थी, लेकिन दुर्भाग्य से वह बच गया था।

जिस दुर्घटना में उसने अपने परिवार को खो दिया था, उस दुर्घटना का कोई दृष्टांत यहां प्रस्तुत करना ज़रूरी नहीं है। हमारे संवेदनशील और सुप्रभावग्रहणशील अंतःकरण वाले पाठकों को यह मालूम है कि ऐसी घटनाएं तो आए दिन होती ही रहती हैं। वे यह भी जानते हैं कि आत्मदाह अमूमन किन कारणों से होता है, लिहाज़ा उन कारणों की तफ़सील में जाने के बजाय हम उस बचे-खुचे अवशेष को केन्द्र में ले रहे हैं, जो अब हमारा नायक है, जिसने मरने से साफ़ इन्कार कर दिया था और अब तो उसके अंदर के न्यूनतम मनुष्य ने खुद को जीवित रखने के लिए असाधारण शक्तियां भी हासिल कर ली हैं।

इलाज के दौरान जिस अस्पताल में वह भर्ती था, वह एक सरकारी अस्पताल था। इलाज की जो छोटी-मोटी औपचारिकताएं पूरी की जा चुकी थी, वह उसके शरीर के उन हिस्सों से सम्बन्धित थी, जो झुलस गए थे। इलाज की प्रक्रिया हालांकि ग़लत नहीं थी लेकिन इस बात पर किसी का ध्यान नहीं गया कि अपने जले हुए अंगों के प्रति वह बिल्कुल संवेदनहीन हो चुका है। उसका ध्यान कहीं और लगा रहता है वह न तो किसी से कुछ कहता, न किसी भी तरह के दर्द या तकलीफ़ का इज़हार करता। कुछ ही दिनों में वह जड़ता की उस स्थिति में पहुंच गया, जहां पहुंचने के बाद कोई भी मरीज़ चीज़ों को चीज़ों

की तरह नहीं देखता, बल्कि उसमें कुछ और देखने लग जाता है।

जिस वार्ड में उसे रखा गया था, उसमें दोनों तरफ बीस-बीस चारपाइयां थीं, जिसमें नीली धारीदार कमीजें और पजामा पहने मरीज लेटे रहते थे। वह उन मरीजों को और उसका इलाज कर रहे डॉक्टरों और नर्सों को या मरीज की देख-रेख में लगे उनके रिश्तेदारों को दिनभर बिना किसी वजह के यूँ ही देखता रहता था उसकी नजरें कभी किसी मरीज की चारपाई पर ज़्यादा देर टिकी रहती तो कुछ देर तक सबको यह भ्रम होता था कि वह उस मरीज के बारे में कुछ जानना चाहता है। लेकिन कुछ ही देर में यह मालूम हो जाता था कि वह उसे सिर्फ देख रहा है, उसके बारे में कुछ सोच नहीं रहा है। उसका दिमाग अपने सामने चलती गतिविधियों के पार किसी दूसरी छवि की कल्पना में लगा है।

जब कोई नर्स उसके पास आती, उसकी नब्ज टटोलने या उसके सामने लटकती सल्लाइन में इंजेक्शन से दवाई डालने, तो वह उसे परे हटने का इशारा करता ताकि उस दृश्य को ठीक से देख सके जो नर्स के आड़े आ जान से बाधित हो जाता है।

एक बार एक नर्स ने यह जानने के लिए कि वह क्या देख रहा है, जब पीछे मुड़कर देखा, तो सोच में पड़ गई। सामने वाली चारपाई पर अभी-अभी एक मौत हुई थी। मरीज के कुछ नजदीकी रिश्तेदार बेसाखा फूट पड़े थे। वे भर्साई हुई आवाज में मृतक का नाम ले-लेकर चीख-पुकार मचा रहे थे। वार्ड का चपरासी उन्हें जल्द से जल्द बाहर निकालने और व्यवस्था को कायम रखने के प्रयास में चिल्लाए जा रहा था। लेकिन इस त्रासद दृश्य को देखते हुए हमारा नायक ऐसे हर्ष से भरा हुआ था जैसे फूला न समा रहा हो उसके चेहरे पर ऐसी चमक और खुशी थी, जैसे किसी बच्चे के जन्म पर होती है।

नर्स ने बहुत आश्चर्य से अपने मरीज का चेहरा देखा और नासमझी में सिर हिलाती हुई और होंठ बिचकाती हुई चली गई। नर्स के पास दरअसल ऐसी दृष्टि नहीं थी कि वह अपने मरीज के उस कल्पित दृश्य को देख सके, जो सामने दिखते हुए सत्य के पार घट रहा था।

मरीज का चेहरा अब भी उसी हर्षोत्कर्ष से छलछला रहा था। क्योंकि उसके सामने कोई लाश या मातम करते उसके रिश्तेदार नहीं, एक मजबूत और तंदुरस्त स्त्री थी। अपने निर्वस्त्र कंधों पर बाल बिखराए वह अपने शिशु को स्तनपान करवा रही थी।

यह अभूतपूर्व छवि उसके मन मस्तिष्क की गहराइयों में तब से थी, जब पहली बार उसकी पत्नी मां बनी थी और पहली बार उसने स्तनपान का यह सुंदर दृश्य देखा था। लेकिन इस वक्त, जब वह दुख, पीड़ा और मृत्यु के भयावह माहौल में दिन गुजार रहा था, उसके सामने यह छवि क्यों उभर आई?

इस बात का कोई जवाब नहीं है। दुनिया में बहुत-सी ऐसी बातें होती हैं, जिसका कोई जवाब नहीं बन पाता।

* * *

दूसरे दिन जब वह उठा, तो बहुत विचलित था। कभी-कभी वह अचानक उठकर बैठ जाता और वार्ड में आने वालों को संदेह भरी नजरों से देखने लगता और कभी-कभी चादर से अपना मुंह ढंक लेता, जैसे किसी से अपना चेहरा छिपा रहा हो। खासतौर से पुलिस वालों को देखकर वह बेहद डर जाता था। एक नर्स बहुत देर से उसकी हरकतों को देख रही थी। वह उठकर उसके पास गई और उससे पूछा कि उसे क्या तकलीफ़ हैं ? लेकिन वह उसका चेहरा देखता रहा जैसे उसे समझ में न आ रहा हो कि उससे क्या पूछा जा रहा है।

कुछ देर नर्स उसके चेहरे को देखती रही फिर इंचार्ज को बुला लाई। वह डॉक्टर बहुत अनुभवी था, उसने कुछ ही देर में मरीज के नए लक्षणों को पहचान लिया और व्यर्थ की औपचारिकताओं में समय बर्बाद करने के बजाय मेंटल वार्ड में फोन करके अपने वार्ड के उस मरीज के बारे में संक्षिप्त जानकारी दे दी।

एक घंटे बाद मेंटल वार्ड से दो जूनियर डॉक्टर आए, उन्होंने उस मरीज की रिपोर्ट की सरसरी तौर पर पढ़ने के बाद आपस में कुछ बातचीत की और नर्स को साथ लेकर उस मरीज के पास पहुंच गए।

हमारे सरकारी अस्पतालों में बीमारों की संख्या बहुत ज्यादा होती है और डॉक्टरों के पास समय बहुत कम होता है और जैसे दूसरे सरकारी महकमों में बीसियों सालों से जो काम चलाऊ पद्धतियां चली आ रही हैं, ठीक वैसे ही कुछ रूढ़ पद्धतियां सरकारी अस्पतालों में भी चलती आ रही हैं - वही घिसे-पिटे प्रश्न और वही पुराने नुस्खे। जबकि हमारा नायक ऐसे बचकाने प्रश्नों से बहुत आगे चला गया है, जो मानसिक रोग के शुरुआती लक्षणों को पहचानने के लिये किये जाते हैं।

एक डॉक्टर ने अपनी चार अंगुलियां उसे दिखाते हुए पूछा कि जरा बताओ तो ये कितनी अंगुलियां हैं ? लेकिन मरीज अंगुलियों को देखने के बजाय अंगुलियों के बीच की खाली जगह को देख रहा था। साफ़ जाहिर था कि उसकी रुचि अब अंकों में नहीं सिर्फ़ शून्य में केन्द्रित हो गई थी।

कुछ देर बाद दूसरे डॉक्टर ने अपनी कलाई घड़ी उसे दिखाते हुए पूछा, अच्छा जरा ये बताओ कि अभी कितना बजा है। मरीज ने घड़ी पर अपनी नजरें टिकाई लेकिन वह गुज़रते हुए समय को नहीं, बीते हुए समय को देख रहा था। इतनी तेज निगाहों से, कि उसके ताप से कुछ ही देर में वह घड़ी पिघलने लगी।

कुछ देर तक दोनों डाक्टर उसे देखते रहे फिर एक डॉक्टर ने नजरें उठाकर दूसरे डाक्टर को देखा, दूसरे डाक्टर ने होंठ सिकोड़ते हुए नाउम्मीदी में सिर हिलाया फिर दोनों वहां से चले गए मगर उनके जाने के बाद भी वह घड़ी वहां से हटी नहीं वह न केवल अपने निर्धारित आकार से बड़ी होती जा रही थी, बल्कि अत्यधिक ताप से पिघलने भी लगी, उस घड़ी के केन्द्र में एक भयानक खलबली चल रही थी। उस खलबलाहट से निकलकर पहले कुछ बुंदे टप् टप् फर्श पर गिरी, फिर उन बुंदों ने धार का रूप ले लिया।

अब घड़ी की उस पिघलन को हम फर्श पर बहते देखते हैं। कुछ देर धीरे-धीरे आगे बढ़ने के बाद उस पतली धार ने बहते हुए लावे जैसी रफ्तार पकड़ ली। वार्ड के दरवाजे से बाहर निकलकर वह लावा गलियारे में आया तो गलियारे में अफरा-तफरी मच गई। कुछ वार्ड ब्वाय अपने हाथ के स्ट्रेचरों को छोड़कर भाग गए और मरीजों से मिलने आए उनके सगे-सम्बन्धी घबराकर दीवारों से चिपक गए।

फिर वह लावा अस्पताल के अहाते में आया और अहाते में उगी घास-फुंस को जलाते हुए बाहर शहर की मुख्य सड़क पर निकल आया और बेकाबू होकर तूफानी रफ्तार से बहने लगा, हर उस चीज़ से टकराता और उसे झुलसाता हुआ, जो उसकी जद में आ रही थी।

शहर की भीड़-भाड़ वाली सड़क पर अब ठीक वैसा ही मंजर था, जैसा उस वक्त्र दिखाई देता है, जब कोई शहर किसी भीषण त्रासदी से गुजर रहा होता है।

शहर की शानदार रिहाइश को पार करते हुए और बहुमंजिली इमारतों पर काली राख का बवंडर छोड़ते हुए वह लावा शहर के पिछवाड़े में पहुंच गया, जहां एक विशाल स्लम था।

स्लम की पतली, दुर्गम और दयनिय गलियों से गुजरते वक्त्र उस लावे ने अपने फोर्स, अपने ताप और अपने फैलाव को नियंत्रित कर लिया। वह लगातार सिकुड़ता और ठंडा होता गया और उस जगह पर जाकर ठहर गया, जहां एक जली हुई झोंपड़ी के अवशेष पड़े थे। मलबे के ढेर से उठती धुएं की अंतिम, महीन महीन परतों को वह खला में गुम होते हुए देखता रहा।

उस दृश्य से मरीज का ध्यान कुछ क्षणों के लिये तब हटा, जब नर्स ने उसके कंधे को थपथपाया और दवाई की तीन गोलियां उसके हाथ में थमा दी। उसने नर्स के हाथ से पानी का गिलाब लिया और गोलियां निगलने के बाद फिर से अपनी जली हुई झोंपड़ी को देखने लगा। फिर उसने नापसंदगी जाहिर करते हुए सिर हिलाया और उस जली हुई झोंपड़ी को अपने सामने से हटा दिया और अपनी उस सजीव झोंपड़ी को उसने उसी रूप में फिर से खड़ा कर दिया, जिस रूप में वह जल जाने से पहले थी।

झोंपड़ी में जीवन की हलचल को लाने में भी उसे ज्यादा वक्त्र नहीं लगा। उसने देखा कि वह एक परोसी हुई थाली के सामने बैठा है। उसकी पत्नी रोटी बना रही है, उसका बेटा अपनी मां के कंधे पर बाहें डालकर झुल रहा है। मां की गोद में एक छोटी-सी बच्ची भी है मां अपना होंठ गोलकर के मुंह से सीटी बजा-बजाकर अपनी नन्ही बिटिया को बहला रही थी और चकले पर रोटी बेलते हुए और तबे पर उसे सेंकते हुए बड़े बेटे की शैतानियों से तंग होकर उसे डांट भी रही थी।

उस दृश्य में एक अलग तरह की आभा थी। वह स्थाई रूप से मन में बसाए रखने लायक दृश्य था। मगर कुछ देर बाद वह दृश्य उसके सामने से धुंधला पड़ने लगा। कुछ ऐसे, जैसे वह कुछ पलों के लिये निद्रा में चला गया हो। उसने एक बार सिर झटककर खुद

को थोड़ा सजग किया और उस दृश्य को फिर से सामने लाने की कोशिश की लेकिन वह गड़बड़या हुआ दृश्य पकड़ में आने के बजाय और अधिक तेजी से विरुपित होता चला गया।

फिर कुछ देर बाद उसे सफेद पार्श्व में एक साथ कई चेहरे दिखाई दिये। वे सब जाने-पहचान पड़ौसी चेहरे थे और सारे के सारे चेहरे स्तब्ध थे। उन चेहरों पर जलती हुई लपटों की रौशनी थरथरा रही थी। फिर उन स्तब्ध चेहरों से नजर हटाकर उसने झोंपड़ी के खुले दरवाजे से भीतर झांका, जहां लपटों से घिरी वही औरत दिखाई दी अपने दोनों बच्चों को बाहों में भींचे वह चुपचाप जल रही थी।

फिर सब कुछ तेजी से चकराने लगा। संज्ञाहीन होने का समय इतना क्षणिक था कि उसे दो सेकंड की मोहलत भी न मिली और बेहोशी की काली चादर उसके सामने आ गई।

ये उन नई दवाओं का असर था, जो मेंटल वार्ड से आए डाक्टरों ने भिजवाई थी। इन अवसाद रोधक दवाओं ने उसे कुछ ही देर में गहरी नींद में सुला दिया और सारे दिमागी उलझावे और बनते-बिगड़ते वसवसे भी खला में खो गए।

लेकिन दूसरे दिन से उसकी व्यग्रता में कमी आने के बजाय और अधिक उबाल आ गया। नींद से जागते ही वह ऐसे आश्चर्य से चीजों को देखने लगा जैसे लम्बी बेहोशी के बाद होश में आया हो। वह अधीरता से सिर हिलाते हुए वार्ड के अन्य मरीजों को देखता रहा, जैसे उसे समझ में न आ रहा हो कि ये सब कौन हैं और उसे यहां क्यों लाया गया है।

फिर वह अचानक उठा और बेचैनी से अपने शरीर का मुआयना करने लगा। उसने पहले अपने बाएं हाथ को देखा, फिर दाएं हाथ को। फिर अपने चेहरे पर हाथ फिराया, गर्दन झुकाकर शरीर के निचले हिस्से को देखा। जगह-जगह चिपकाई गई पट्टियों को देखकर उसे थोड़ी असहजता महसूस हुई और उसने शरीर के विभिन्न हिस्सों में लगाई गई पट्टियों को उखाड़कर फेंकना शुरू कर दिया। यह एक ऐसी अवस्था है, जो दर्द की चरमसीमा के बाद आती है और उसके बाद किसी भी तरह का दर्द महसूस नहीं होता, संभवतः यही वह क्षण होता होगा, जब कोई पीड़ित अपनी सोच और अपने आचरण पर नियंत्रण खो देता है।

उसे नियंत्रित करने के प्रयास औपचारिक रूप से हालांकि जारी थे, लेकिन कुछ ही दिनों में यह तै हो गया कि अब यह वार्ड उसकी जहनी मशक्कत के लिये छोटा पड़ रहा है बल्कि वह अस्पताल में रहने लायक नहीं रह गया है, और चूंकि व्यक्तिगत रूप से उसकी देखभाल करने वाला इस दुनिया में कोई नहीं था, इसलिए उसे खुला छोड़ देने के अलावा कोई चारा भी नहीं था।

अगर वह एक लावारिश पागल होने के बजाय कोई मवेशी होता तो शायद उसकी स्थिति कुछ बेहतर होती। क्योंकि मवेशी के लिये तो फिर भी यह सुविधा है कि किसी कर्म के न रह जाने पर उन्हें सम्मानपूर्वक बुचड़खाने में ले जाया जाता है और उस यंत्रणा से उन्हें मुक्ति मिल जाती है, जो ऐसी स्थिति में जीवित रहने के कारण उन्हें भुगतनी

पड़ती।

वह कब अस्पताल से बाहर निकल गया यह किसो को मालूम नहीं। अब उसके ऊपर किसी भी तरह का नियंत्रण नहीं था, लेकिन कहीं भी चले जाने की खुली छूट के बावजूद वह अस्पताल के इर्द-गिर्द मंडराता रहता था। खासतौर से अस्पताल के पिछवाड़े का वह उजाड़ फैला, जहां कोई आता-जाता नहीं था, अब उसका स्थाई अड्डा बन गया था, उसके पागलपन में कोई आक्रामकता नहीं थी और उसकी बड़बड़ाहट इतनी लाउड नहीं थी कि किसी को कोई तकलीफ हो। लेकिन उसकी एक आदत ऐसी थी, जिसके कारण कालोनी की नर्सें कभी-कभी हाय तौबा मचाने लगती थी। वह अस्पताल के पीछे फेंके जाने वाले खून-मवाद से सने रुई के फाहों, पट्टियों और बेंडेज को बटोरता और उसमें आग लगा देता था। फिर वह आग से मुखातिब होकर पता नहीं क्या-क्या बातें करता रहता था। आग की रोशनी में उसका चेहरा और भी भयानक लगता। जब आग बुझने लगती, तो वह और ज्यादा बेचैन हो जाता। वह इधर-उधर किसी भूखे जानवर की तरह नज़रें दौड़ाता और जो कुछ भी जलाने लायक चीज़ नज़र आती, उसे उठाकर आग के हवाले कर देता, एक बार तो उसने क्वार्टर के पीछे की खिड़कियों से पर्दे भी खींच फाड़कर आग में झोंक दिये थे।

वह दिन भर शहर की गलियों में भटकता रहता और न जाने क्या-क्या बटोर लाता। गत्ते के बक्से, फलों की टोकरियां और पेटियां, रद्दी अखबार, कपड़ों और बारदानों के चिथड़े, प्लास्टिक की थैलियां कैरी बैग्स, डिस्पोजल प्लेटें और गिलास, बिस्तरों की बोतलें फटे-पुराने जूते चप्पल, रबर की ट्यूब और टायर...

इन सब चीज़ों की मिली-जुली आग से उठने वाला धुआं इतना कसैला, इतना काला और बदबूदार होता था कि कोई इसके इर्द-गिर्द फटकने की हिम्मत नहीं करता था। उस काले धुएं ने उसके पूरे शरीर पर और क्वार्टर के पिछवाड़े की दीवारों पर इतनी कालिख चढ़ा दी थी कि दूर से देखने पर वह जगह किसी श्मशान जैसी दिखती थी- एक ऐसा श्मशान जहां मानवीय देह का नहीं, समाज द्वारा त्याग दी गई चीज़ों का अग्नि दाह होता था।

शुरू शुरू में उनकी इन हरकतों के खिलाफ नर्सों ने और उसके घर वालों ने बहुत कड़ी कार्रवाई की थी क्योंकि उसका यूं आग से मुखातिब होकर बड़बड़ाना बहुत दहशतनाक था, और दूसरी वजह यह थी कि काले धुएं ने धीरे-धीरे उनके घरों के अंदरूनी हिस्सों में भी कालिख पोतनी शुरू कर दी थी। लेकिन बार-बार आग में पानी डालने और कई बार डांट डपटकर भगाने के बावजूद जब उसने वहां आना और आग लगाना बंद नहीं किया तो, डरकर नर्सों ने क्वार्टर की वे तमाम खिड़कियां हमेशा के लिये बंद कर दी, जो पिछवाड़े की तरफ खुलती थी।

उसका हुलिया, हरकतें और मुख मुद्राएं वाकई खौफनाक थी, कंधे तक झुलते बाल, जो आपस में चिपककर जटाओं में बदल गए थे। दाढ़ी के घुंघराले वालों में धूल और

मैल स्थाई रूप से बस गए थे, चेहरे का बायां हिस्सा जलने के कारण बिल्कुल सपाट और भावशून्य हो गया था। छाति की चमड़ी पूरी सफेद हो गई थी बायें हाथ की दो अंगुलियां आपस में चिपककर एक हो गई थी। दाएं कंधे पर मांस पिघलकर एक लोंदे की शक्ल में जमा रह गया था। धुआं और जलन बर्दाश्त करते-करते उसकी आंखें हमेशा के लिए लाल हो गई थी। ऐसा लगता था कि वे आंखें नहीं, दो छोटे-छोटे घाव हैं, जिसमें से कभी भी खून टपक सकता है।

लेकिन उसे अपने चेहरे की भयानकता और उन तकलीफों की जरा भी सुध नहीं थी। वह हमेशा सिर झुकाए अपने काम में लगा रहता। गंदी और बदबुदार चीजों का जलता देर दूसरों के लिए भले ही घृणित और दहशतनाक हो मगर उसके लिए वह एक यज्ञ था। आग के सामने वह ऐसे खड़ा रहता जैसे कोई तपस्वी बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधना में जुटा हो।

कुछ साल यूं ही बीत गए। इस बीज उसके विकराल बालों में जुएं पड़ गई थी बाएं पैर के टखने में एक नया घाव हो गया था। मक्खियों का झुण्ड हर वक्त उस घाव पर मंडराता रहता था। शरीर के कई अलग-अलग हिस्सों और गुप्तांग में भयानक खुजली हो गई थी। अपने मैल से भरी लम्बे नाखूनों से वह कभी अपने सिर के बालों को तो कभी शरीर के विभिन्न खुरदरे खारिशज्ज्ञदा हिस्सों को खुजाता रहता।

सुबह होते ही वह रोज अस्पताल के पिछवाड़े से बाहर निकल आता। कंधे पर एक खाली बोरी टंगाए और हाथ में एक छड़ी लिए हुए वह चुपचाप चलता रहता। रास्ते में पड़ने वाले कुड़े के छोटे-बड़े ढेर को छड़ी से कुरेदकर वह हर उस चीज को बोरे के खुले मुंह में डाल देता, जो जलाने लायक हो। जब बोरे का पेट भर जाता तो उसे कंधे से नीचे उतारकर उसका मुंह रस्सी से बांध देता। फिर थोड़ी देर कहीं सुस्ताने के लिए बैठ जाता। आराम के उन क्षणों में वह शहर की गतिविधियों को और तेजगति से चलते निर्माण कार्यों को कुछ देर देखता रहता। फिर अपने आप से बातें करने लगता, कभी-कभी ये बातें बहुत संक्षिप्त और हल्की-फुल्की होती थी और बहुत जल्द समाधान हो जाता था पर कभी-कभी उसे किसी और को समझने के लिये बहुत विस्तार में भी जाना पड़ता था।

जब दोपहर ढल जाती तो वह अपनी पतलून की जेब से प्लास्टिक की थैली निकालता और बोरा पीठ पर लादकर चल पड़ता। अब उसे जगह-जगह रूकने और कुछ कुरेदने-खोजने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती थी। वह सीधे उस इलाके की तरफ चल पड़ता, जहां एक साथ कई रेस्त्रां एक-दूसरे के आस-पास या आमने-सामने खड़े थे। हरेक रेस्त्रा के पीछे एक दो चक्के वाली कचरा गाड़ी खड़ी रहती, उस हाथ गाड़ी में एक फाइवर का ड्रम पड़ा रहता था जिसमें अघरवाई प्लेटों का बचा हुआ खाना ऊँड़ेल दिया जाता।

उन व्यंजनों में हालांकि बहुत विविधता होती थी लेकिन वह स्वभाव से ज्यादा चूजी नहीं था इसलिए अलग-अलग चीजों को चुनने में वक्रत बर्बाद करने के बजाय वह उस ड्रम में हाथ डालकर उस मिले-जुले ब्रेकफास्ट और लंच को अपनी प्लास्टिक की

थैली में भर लेता।

वापस लौटते समय उसे रास्ते में एक पान ठेले पर थोड़ी देर रुकना पड़ता था। बीड़ी और माचिस के लिए। सिर्फ़ यही दो चीज़ें थी, जिसके लिए उसे दुनिया के सामने हाथ फैलाना पड़ता था। और सिर्फ़ यही दो चीज़ें थी, जिसकी ज़रूरत ने उसे इस मानवीय दुनिया से जोड़े रखा था। जब तक बीड़ी और माचिस खरीदने लायक पैसों की भीख उसके हाथ में न आ जाती तब तक उसे किसी न किसी तरह जन-जीवन के संपर्क में रहना पड़ता।

* * *

हर शाम की तरह उस शाम भी वह शहर से ढेर सारी चीज़ें बटोर कर लाया था। अपने दहन-स्थल के पास जाकर उसने अपना बोरा जमीन पर रख दिया और खुद भी जमीन पर बैठ गया। कुछ देर वह ढलते सूरज और पेड़ों की तरफ़ लौटते परिंदों को देखता रहा फिर प्लास्टिक की उस थैली को उठा लिया जिसमें रोटी-सब्जी-चावल इडली-बड़ा, सलादके कतले, मुर्गी की अधवाई टांगें गोश्त की बोटियां और गाढ़ा लसलसा सालन भरा हुआ था।

ये चीज़ें चाहे जैसी भी हों और चाहे जहां से भी आई हों, फिलहाल उसका वास्ता उसके पेट से था, जिसमें इन चीज़ों को हड्डियों समेत उदरस्थ कर लेने का ज़बरदस्त माददा था। उसने अपने आहार को कृतज्ञता भरी नज़रों से देखा और उसके प्रति आभार प्रकट करते हुए उसे खाने लगा। साफ़ जाहिर हो रहा था कि उसके दिमाग़ में उस वक़्त कोई उलझन नहीं थी। उसने उतने ही इत्मीनान से भोजन ग्रहण किया जितने इत्मीनान की उस वक़्त ज़रूरत होती है।

फिर उसने हर रात की तरह उस रात भी अपने बोरे को उलट दिया। अपनी जेब से उसने बीड़ी और माचिस निकाली। पहले बीड़ी जलाई फिर उसी जलती हुई तीली से उन सब चीज़ों के ढेर में आग लगा दी, जिसे वह बोरे में बटोर लाया था। कुछ देर बाद जब लपटें उपर उठनी शुरू हो गई, तो आग के साथ उसने उसी अंदाज में बातचीत शुरू कर दी, जो बिना किसी भूमिका के शुरू होती थी और तब तक जारी रहती थी जब तक आग बुझ न जाए। कभी-कभी अपनी बात को जारी रखने के लिए उसे फूंक-फूंक कर आग को भड़काने की भी ज़रूरत पड़ जाती थी।

उसकी बातें हालांकि इतनी साफ़ सुथरी और खुलासेवार नहीं होती कि हम सीधे-सीधे कोई मतलब निकाल सकें हम सिर्फ़ उन शब्दों के आधार पर कुछ अनुमान लगा सकते हैं, जो शब्द उनकी बड़बड़ाहट के दौरान बार-बार दोहराए जाते हैं

उस रात उसकी बातों में उसके बेटे और उसकी बूढ़ी मां का ज़िक्र बार-बार आ रहा था और साथ ही साथ उन बीमारियों का, जिसने उसकी आमदनी को झकड़ लिया था। वह समझ नहीं पा रहा था कि पहले बच्चे के निमोनिया का इलाज करना ठीक रहेगा या गांव से आई मां के डायरिया का।

उसने अपनी महने भर की पगार को एक बार फिर गिना, उसमें से आधे रुपयों को राशन के लिए अलग के पेंट की दांयी जेब में रखा। फिर कुछ रुपयों को सबकी नजरों बचाकर अपनी अंटी में छुपा दिया फिर बची हुई पूंजी को दो बराबर की बीमारियों में बांट दिया। कुछ देर तक उसे यह इत्मीनान रहा कि उसने बिल्कुल ठीक काम किया है। लेकिन एक बार फिर वह सोच में पड़ गया, कुछ देर तक वह सिर खुजाता रहा फिर उसने बच्चे के निमोनिया में कटौती कर मां के डायरिया में पैसे लगाए फिर उसने डायरिया की कुछ दवाओं में कटौती कर दी और निमोनिया में की पूरी दवाएं एक साथ खरीदने का इरादा बनाया, लेकिन अगले ही पल उसे अपने फ़ैसले को बदलना पड़ा। कुछ देर तक वह दोनों हाथों से सिर खुजाता रहा फिर फूंक मार मार खुझी हुई आग को जिंदा करने की कोशिश की फिर वह एकदम से झुंझला गया और अपनी छड़ी से राख के ढेर को बिखरे दिया।

* * *

दूसरे दिन सुबह उठते ही वह इधर-उधर चक्कर लगाने लगा, कुछ इस तरह कि, जैसे उसे अंदर ही अंदर कुछ हो रहा हो। दिमागी तौर पर उसे जल्दी से कुछ समझ में नहीं आता था कि उसके साथ क्या हो रहा है लेकिन उसके सहज-बोध ने अभी तक उसका साथ नहीं छोड़ा था। कुछ देर बाद उसने अपने उभरे हुए पेट को दोनों हाथों से थाम लिया फिर वह उसे दबाने और मसलने लगा। अगले ही पल, जैसे उसे कुछ समझ में आ गया हो, उसने निर्णायक ढंग से अपना सिर हिलाकर बालों को पीछे हटाया और अपनी पतलून नीचे उतारकर उकड़ू बैठ गया। कुछ देर तक तनाव और एकाग्रता का भाव उसके चेहरे पर बना रहा फिर उसके नितंबों के नीचे से मल निकलना शुरू हुआ और निकलता ही गया। उस मल में अपच के शिकार किसी बीमार आदमी के पेट से निकलने वाली चिरकन नहीं थी। उसने लम्बे-लम्बे चार शानदार लेंडें निकाले और किसी जानवर जैसी सहजता के साथ उठ खड़ा हुआ।

फ़ारिग होने के बाद उसने आगे बढ़कर अपना बोरा और छड़ी उठा ली। अब वह अपने अड़्डे से निकलकर शहर की तरह जाने की तैयारी कर रहा था। अहाते की दीवार के पास जाकर उसने अपने दांये पैर के टखने को कपड़े की पट्टी से लपेटकर अच्छी तरह बांध दिया फिर एक पैर में केनवस का जूता और दूसरे पैर में चमड़े का जूता पहन लिया। जूते के फीतों को अच्छी तरह बांधने के बाद उसने अपने पेंट को भी कमर पर अच्छी तरह रस्सी के टुकड़ों से बांध लिया। एक बार फिर बोरी और छड़ी को हाथ में लेकर वह अहाते के उस टूटे हुए हिस्से की तरफ बढ़ा, जो अहाते में आने-जाने का उसका निजी रास्ता था। लेकिन बाहर निकलने से पहले उसे फिर कुछ याद आ गया वह मुड़कर वापस आया, उसने इधर-उधर नजरें दौड़ाई और कुछ कदम आगे बढ़कर प्लास्टिक की उस थैली को उठा लिया, जिसमें कल वह अपना आहार उठा लाया था।

उस थैली को हाथ में लेकर वह आगे बढ़ा और ठीक वहां पहुंच गया, जहां उसने अभी-अभी चार लेंडें छोड़े थे। कुछ देर वह सोचता रहा फिर उसने अखबार का एक

टुकड़ा उठाकर उन लेंडों के ऊपर रखा। थैली में पूंक मारकर उसमें जगह बनाई और बिना किसी उद्देश्य के बिल्कुल अनियोजित ढंग से उन लेंडों को उठाकर अपनी थैली में डाल दिया।

कुछ देर बाद वह शहर की सड़कों पर भटकता दिखाई दिया। टखने में लगी चोट के बावजूद वह बहुत तेजी से चल रहा था जैसे वह किसी खास मकसद से निकला हो।

खुदरा बाजार की अधिकांश दुकानें अभी बंद थी। सड़कों पर कुछ सफाई कर्मचारी हाथ में लम्बे डंडे वाला झाड़ू लिए सफाई में जुटे थे। कुछ देर बाद एक के बाद एक दुकानें खुलने लगी। शहर के उस पुराने हिस्से को पार करते हुए वह अब उस तरफ मुड़ गया जहां नया शहर बहुत तेज रफ्तार से विकसित हो रहा था। वहां एक से बढ़कर एक माल्स और मल्टीप्लेक्स थे और उनके डिस्टले जोन मनभावन चीजों से सजे थे। लोग हाथों में कैरिबैग लिए माल असबाब से लैस जोश में घूम फिर रहे थे। चारों तरफ सब कुछ खिला-खिला सा था। नई-नई प्रविधियां जीवन का स्वास्थ्यप्रद रस निकाल रही थी। कांच की दीवारों के पीछे फूड़ जोन में कई तरह के देशी-विदेशी व्यंजन परोसे जा रहे थे। मगर हमारा नायक अपने गू के लेंडे हाथ में लिए इन सब चीजों के बीच से ऐसे गुजर गया जैसे उन चीजों का उसके लिए रत्तीभर भी महत्व न हो।

लग तो ऐसा रहा था, जैसे वह किसी पूर्व निर्धारित और बड़े लक्ष्य की तरफ बढ़ता चला जा रहा है और कोई बड़ी जीत हासिल करके ही वापस लौटेगा लेकिन शाम को जब वह वापस अपने अड्डे पर पहुंचा तो कुछ ज्यादा ही बेहाल नजर आ रहा था। उसके चेहरे पर एक और ताजा जख्म उभर आया था। सामने के दो दांत नदारद थे। जबड़ा सूजा हुआ था। दाढ़ी और सिर के बाल खून से सने हुए थे कमीज और पतलून की हालत देखकर यह अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं था कि उसे जमीन पर काफ़ी दूर तक घसीटा जा चुका है।

लेकिन इतना सब हो जाने के बावजूद उसने अपने बोरे और अपनी छड़ी पर पकड़ बनाए रखी थी। और वह बोरा आज भी उतना ही भरा हुआ था। लेकिन जख्मों से होने वाले दर्द, डर या पता नहीं किस मानसिक तनाव के कारण वह उस शाम और दिनों की अपेक्षा बहुत ज्यादा व्यथित नजर आ रहा था। तक्रलीफ़ इतनी ज्यादा थी कि वह एक जगह खड़ा नहीं रह पा रहा था। अस्पताल के पास वाली सड़क से जब भी कोई आहट होती, वह हड़बड़ाकर चारदीवारी की ओट में छुप जाता। फिर हाथ में पत्थर उठाकर सड़क की तरफ ऐसे झांकता, जैसे घात लगाकर बैठा कोई हमलावर झांकता है। लेकिन जैसे ही सड़क से किसी भारी वाहन के गुजरने की आवाज आती, वह डर से थरथराने लगता। पत्थर उसके हाथ से छूट जाता और वह कोने की तरफ भागकर दीवार से पीठ टिकाए सांस रोककर खड़ा हो जाता।

देर रात तक यही क्रम चलता रहा। वह कुछ देर तक अंधेरे में आंखें गड़ाए भयानक नाराज़गी से कुछ देखता रहता, फिर तैश में आकर पत्थर उठा लेता और चारदीवारी की तरफ कदम बढ़ाता, मगर अगले ही पल हड़बड़ाते हुए वापस आकर कोने में छुप जाता।

उस रात वह आग के साथ कुछ इस तरह फुसफुसाते हुए बातें कर रहा था, जैसे उसे किसी बहुत बड़े षडयंत्र का भेद मिल गया हो हर दो-तीन मिनट के बाद वह चौंककर पीछे पलटता और चौकन्नी नज़रों से चारों ओर देखने के बाद फिर फुसफुसाने लगता।

कुछ देर बाद वह मुड़ा, उसे शायद किसी ऐसी चीज़ की ज़रूरत थी, जो धीमी पड़ती आग को थोड़ा और तेज कर दे ज़मीन से कुछ उठाने के लिए वह झुका, उसे उठाने के बाद दीवार पर पड़ती अपनी परछाई को देखकर वह एकदम स्थिर हो गया। परछाई तो रोज दीवार पर पड़ती थी मगर इससे पहले उसने अपनी परछाई को इतने करीब से और इतने ध्यान से देखा नहीं था। वह एक बार फिर डर गया, मगर बिल्कुल स्थिर खड़ा रहा जैसे उसे इस बात का डर हो कि वह जरा भी हिलेगा-डुलेगा तो सामने वाले को यह मालूम हो जाएगा कि वह एक इन्सान है। वह सामने वाले को यह आभास दिलाना चाहता था कि वह तो सिर्फ़ एक वस्तु है - एक निर्जिव वस्तु, जिसका इस दुनिया से और दुनियावालों से कोई वास्ता नहीं है।

लेकिन यह स्थिरता ज़्यादा देर तक कायम न रही। उसके दिमाग में फिर एक खतरनाक जुम्बिश हुई और वह दीवार पर लरजती परछाई के लिए पत्थर खोजने लगा। फिर उसने आगे बढ़कर एक पत्थर उठा लिया। उसकी परछाई ने भी साथ ही साथ पत्थर उठाया और जब उसका पत्थर वाला हाथ ऊपर उठा, तो परछाई ने भी वही हरकत दोहराई। यह देखकर वह अचम्भित रह गया जैसे उसे इस हरकत की बिल्कुल उम्मीद न हो। अगले ही पल वह बुरी तरह झुंझुला उठा, और तनाव की वही हालत, जो शुरू से उसे यातना देती आ रही थी न केवल फिर से लौट आई, बल्कि और अधिक उग्र हो गई।

सुबह अस्पताल के पिछवाड़े की दीवार का वह हिस्सा बुरी तरह से उघड़ा हुआ दिखाई दिया, जिस हिस्से पर उसकी परछाई पड़ रही थी।

लेकिन अब उसका ध्यान दीवार के उस उघड़े हुए हिस्से पर नहीं था। वह अहाते की दीवार से पीठ टिकाए अपनी दोनों टांगें पसारे बिल्कुल निढाल होकर बैठा था। सुबह की ताज़ा बयार उसके सिर और दाढ़ी के बालों को न जाने कब से सहला रही थी। सूरज की चमकती किरणों से उसका चेहरा आलोकित हो चुका था। आसमान में परिंदों की परवाज़ और उसका चहचहाना जारी था। दो चार मक्खियों ने भी अब उसके सिर के पिछले भाग में और घुटनों तथा कोहनियों के ताज़ा ज़ख्मों पर अपनी दिनचर्या शुरू कर दी थी। लेकिन वह हवा के झोंको, परिंदों की उड़ान या उसकी चहचहाहट या मक्खियों की भनभनाहट से बिल्कुल बेनियाज़ था। उसका ध्यान कुछ क्रदम के फ़ासले पर उस जगह पर था, जहां कव्वों का एक झुण्ड चोंच मार-मारकर किसी मरी हुई चीज़ के टुकड़े-टुकड़े कर रहा था। वह मरी हुई चीज़ या तो बिल्ली का बच्चा होगा या कुत्ते का पिल्ला या कोई मोटा चूहा या कोई अर्धविकसित भ्रूण। वह चीज़ चाहे जो कुछ भी होगी फिलहाल टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो जाने के कारण उसने अपनी असली पहचान खो दी थी।

“यह तरीका ठीक नहीं है।’ सहसा उसने अपनी छड़ी उठा ली और उठ खड़ा हुआ। वह लंगड़ाते हुए आगे बढ़ा और अंधाधुंध छड़ी चलाने लगा। उसकी इस हरकत से परेशान होकर कव्वे वहां से उड़ गए और अहाते की मुंड़ेर पर जा बैठे जिन कव्वों की चोंच भरी हुई थी वे उसे चुपचाप देख रहे थे और जिन्हें कुछ नहीं मिला था वे शिकायत भरी मुद्रा में कांव-कांव कर रहे थे।

एक कव्वे की चोंच में किसी बच्चे की नाल थी। उस लम्बी नाल को हड़पने के लिए जब दूसरे कव्वे उस पर झपट पड़े तो वह कव्वा चोंच में नाल दबाए शहर की तरफ उड़ गया।

वह कुछ देर सिर उठाए उस कव्वे को देखता रहा। फिर उसने बहुत नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया, “साले हमारी... कभी नहीं सुधरेंगे...”

कुछ देर वह यूँ ही कमर पर हाथ दिये खड़ा रहा फिर उसने सिर झुकाया और किसी गहरी सोच में पड़ गया। इस बीच धूप निकल आई थी अस्पताल के पिछवाड़े का कूड़ा उठाने के लिए म्यून्सिपल कार्पोरेशन की गाड़ी आ गई थी। कुछ देर बाद वह धीरे-धीरे उस तरफ बढ़ा, जहां उसका बोरा पड़ा था।

बोरा कंधे पर डालकर वह अहाते से बाहर निकल आया। चलते समय अब पहली बार उसे छड़ी का सहारा लेना पड़ रहा था। वह छड़ी हालांकि इतनी मजबूत नहीं थी कि किसी का सहारा बन सके मगर उसका शरीर भी इतना वजनदार नहीं था कि छड़ी उसे संभाल न सके।

* * *

शाम को जब वह वापस आया, तो उसका बोरा शहर द्वारा त्याग दी गई अनाप-शनाप चीजों से भरा हुआ था। उसने अपना बोरा और छड़ी जमीन पर रख दी और खुद भी पालथी मारकर बैठ गया। प्लास्टिक की थैली में भरे अपने आहार को उसने गोद में रखा और खाना शुरू कर दिया। कुछ देर बाद उसने बांयी आस्तीन से अपना मुंह पोंछा और दांये कुल्हे पर हाथ पोंछते हुए खड़ा हो गया फिर उसने एक बीड़ी जलाई और इधर-उधर चहलकदमी करने लगा।

अंतिम कश लेने के बाद उसने बीड़ी एक तरफ फेंक दी और अपने बोरे का मुंह खोलने लगा। आमतौर पर बोरे को उलट देने के बाद वह उन चीजों पर कभी गौर नहीं करता। बोरा उलटते ही वह सीधे माचिस की तीली सुलगाकर उस ढेर में आग लगा देता था लेकिन उस दिन पता नहीं क्यों उसने अपनी छड़ी उठा ली और शहर के विभिन्न घूनों से चुनकर लाई गई चीजों को एक-बार फिल उलट-पुलट कर देखने लगा।

अब हमारी भी यह जिम्मेदारी बन जाती है कि हम भी उन चीजों को गौर से देखें, जिन चीजों को एक संयुक्त ढेर से अलग किया जा रहा है।

रात घिर आई है। चांद की रौशनी कुड़े के ढेर पर सीधे पड़ रही है। एक छड़ी है, जो बिना किसी भेदभाव के हर तरह की उतरनों और कतरनों और टूटी-फूटी या चलन से

बाहर हो चुकी बेकार चीजों को करीने से लगाती जा रही है।

अब एक क्रम बन गया है। सिर्फ यह देखना शेष रह गया है कि उन चीजों के साथ वह कैसा व्यवहार करता है। हालांकि किसी भी चीज के धूरे तक पहुंच जाने के बाद उसकी ऐसी कोई एहमियत नहीं रह जाती कि उसका कोई उल्लेख किया जाए लेकिन फिलहाल हम यहां अपने नायक की मनःस्थिति के साथ चल रहे हैं; जो एक-एक चीज की खबर ले रहा है। चाहे वह प्लास्टिक की गुड़िया हो या बच्चों की छोटी-छोटी चप्पलें या टोपी या चश्मा या नकली बालों का जुड़ा या कंधी या चूड़ी या प्लास्टिक के टूटे-फूटे खिलौने या शेम्पू और तेल की खाली शीशी।

वह छड़ी हर चीज को छूकर गुजर गई। केवल प्लास्टिक की गुड़िया के बिखरे हुए बालों को उसने ठीक से संवारा और उसकी तनिक ऊपर उठी हुई फ्राक को घुटनों तक फैलाया, छोटी-छोटी चप्पलों को भी उस छड़ी ने एक-दूसरे से सटाकर ऐसे रखा, जैसे वे कोई लावारिश चप्पलें न हो। नकली बालों के जूड़े में गुंथी हुई चोटी भी बहुत बुरी तरह से उलझ गई थी। छड़ी ने बड़े धैर्य से उन उलझनों को सुलझाया और चोटी को उसकी सम्मानजनक अवस्था में ला दिया।

अंत में छड़ी वहां रुक गई, जहां एक बदरंग चोली पड़ी थी। उस चोली में अब हालांकि किसी भी तरह की कशिश या कसावट नहीं थी लेकिन छड़ी ने उस चोली को ऊपर उठा लिया, वह कुछ देर गौर से उसे देखता रहा।

“क्या तुम्हारा भी यही खयाल था कि मैंने तुम्हारी जिंदगी खराब कर दी?”

उसने चोली से मुखातिब होकर कहना शुरू किया,

“मैं सच कह रहा हूं मैंने जानबूझकर कभी किसी को त्रास नहीं दिया - मैं नहीं जानता था कि उस वक्त मेरे साथ काय हो रहा था.... लेकिन एक दिन सब को मालूम हो जाएगा कि सच्चाई क्या है...”

वह बहुत देर तक बोलता रहा, उसका एकालाप बहुत धाराप्रवाह था। उसमें उन मजबूरियों और कठिनाइयों का जिक्र था, जो अब इतनी पुरानी और इतनी सामान्य हो चुकी हैं कि किसी की भी उसमें कोई रूचि नहीं बची है। लेकिन उसे इस बात से कोई मतलब नहीं था कि कोई उसकी बातों को सुन रहा है या नहीं। उस वक्त उसकी सोच और उसकी जुबान के बीच कोई फासला नहीं था।

“अच्छा! चलो अब तुम ही बताओ कि एक बहुत ज्यादा धुआं राख और खतरनाक गैस उगलने वाली गैर कानूनी फैक्ट्री में काम करने वाला आदमी अगर किसी दिन बीमार पड़ जाए और फिर काम के दौरान चक्कर आने के कारण उसकी काम से छुट्टी कर दी जाए तो इसमें उसका क्या दोष है? महीनों तक इलाज करवाने के बाद भी अगर उसका शरीर साथ न दे और वह छोटी-मोटी नौकरी करने लायक भी न रहे और मजबूरन अगर वह छोटी-मोटी चोरी करने लगे तो उसमें बुराई क्या है? और चोरी पकड़ में आने के बाद अगर उसकी थोड़ी-बहुत पीटाई होती है तो उसमें शर्मिंदा होने या बुरा मानने की क्या

ज़रूरत है ? मैंने तुम्हें कई बार समझाया मगर तुम तो बस हर बात का रोना लेकर बैठ जाती थी। 'मेरा क्या होगा... बच्चों का क्या होगा... अरे भाई! टसुए बहाने से काम नहीं चलता आदमी को घर चलाने के लिए कुछ न कुछ करते रहना पड़ता है।'

इतना कहने के बाद वह कुछ देर वह गंभीरता से अपनी बांयी तर्जनी से टुड्डी खुजाता रहा, फिर बहुत निराशाजनक ढंग से सिर हालते हुए कहा। "इतना सब हो जाने के बावजूद मैंने हिम्मत नहीं हारी, लेकिन तुमने..."

उसका वाक्य अधूरा रह गया जैसे किसी ने बीच में रोक दिया हो। उसने पलटकर पीछे देखा और देखता ही रह गया उसने दांये से बांये सिर हिलाया जैसे अपने सामने खड़ी भीड़ को देख रहा हो। कुछ देर तक वह अपनी कमर पर हाथ दिये चुपचाप खड़ा रहा फिर उस अदृश्य हस्तक्षेप करने वाले से मुखातिब हुआ,

"देख भाई। जो होना था वो हो गया, होना को कौन टाल सकता है। जितना मेरे बस में था उतना मैंने किया। लेकिन एक समय ऐसा आ ही जाता है जब कोई चीज़ इन्सान के बस में नहीं रहती और वह चाहे तो भी..."

वह फिर बोलते-बोलते रुक गया जैसे फिर उसकी बात किसी ने काट दी हो। उस छोटे-से वक्त्रे में वह बार-बार मुंडी हिलाकर असहमती व्यक्त करता रहा, जैसे उस पर लगाए जा रहे आरोपों का खण्डन करना चाहता हो।

"नहीं नहीं ये बात बिल्कुल ग़लत है... मैं अपनी खामियों को छुपाने के लिए किस्मत को दोष नहीं दे रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि मैं अपने घर बार को ठीक से संभाल नहीं पाया और इस बारे में ज्यादा कुछ बताने की ज़रूरत भी नहीं है। तुम सब अच्छी तरह जानते हो कि इस बस्ती में अक्सर कुछ लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। उन्हें या तो किसी नशे की लत लग जाती है या कोई ऐसी बीमारी लग जाती है, जो लम्बे समय तक उनका पीठा नहीं छोड़ती, फिर एक दिन वे अचानक उठा-पटक करने लगते हैं या गालियां बकने लगते हैं या जोर-जोर से हंसने लगते हैं या बिल्कुल चुप हो जाते हैं..."

उसकी इस बात पर भीड़ में निश्चित रूप से तीखी प्रतिक्रिया हुई होगी। वह बहुत विचलित हो गया और कभी इसको तो कभी उसको समझाने की कोशिश करने लगा लेकिन कोई उसकी बात सुनने को तैयार नहीं था।

आखिरकार उसने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये, जैसे किसी उत्तेजित जनसमूह को शांत करने के लिए कोई महानायक या आत्म-समर्पण करने वाला कोई अपराधी अपने हाथ उठा देता है।

वह कुछ देर यूँ ही हाथ उठाए खड़ा रहा। चांद उसके ठीक पीछे था। उसकी परछाई इतनी लम्बी थी कि उठे हुए हाथ अहाते की घेरेबंदी तक पहुंच गए थे। उसके उन उठे हुए हाथों के बीच एक दुनिया थी, जो उससे जवाब मांग रही थी। लेकिन न तो वह कोई अपराधी था, न महानायक। उसने किसी को कोई जवाब नहीं दिया।

कुछ देर बाद उसने अपने हाथ गिरा दिये। फिर पलटकर जमीन पर पड़ी अपनी

छड़ी को देखा। छड़ी की नॉक पर वह चोली अभी तक फंसी हुई थी। उसने छड़ी को उठा लिया और चोली को छड़ी से अलग कर अपनी छाती से लगा लिया। और धीरे-धीरे चलते हुए अस्पताल की उस दीवार तक जा पहुंचा, जिस दीवार से पीठ टिकाकर वह बैठे-बैठे रात गुजारा करता था।

रात चाहे कितनी भी गहरी क्यों न हो, पर उसे नींद कभी नहीं आती थी। सिर्फ सपने आते थे। उस चोली के दोनों उभार वाले हिस्सों को उसने अपने घुटनों पर अच्छी तरह से जमाया और बहुत प्यार से उसे सहलाने लगा। जैसे वह चोली न हो किसी के गाल हों। उन कल्पित गालों में सचमुच का स्पंदन ला सकने में उसकी अंगुलियां समर्थ थीं।

जिस स्त्री के गालों को वह सहलाता है वह स्त्री अपने बीमार पति और छोटे-छोटे बच्चों की खातिर न जाने कहां कहां खटती रहती है। इसलिए उसे आने में अक्सर थोड़ी देर हो जाती है। लेकिन किसी न किसी तरह वह आ ही जाती है। वह स्त्री हालांकि मर चुकी है लेकिन फिर भी वह उसे बुलाता रहता है और यह बुलावा अक्सर इतना शदीद और इतना जीवंत होता है कि कोई भी चीज उस स्त्री को फिर से जीवित होने से रोक नहीं पाती।

रात का जब दूसरा प्रहर बीत रहा था तब उसे अहाते के उस हिस्से में एक आहट सुनाई दी। उसने सिर उठाकर देख, दीवार के उस टूटे हिस्से के पास एक औरत खड़ी थी। वह बहुत दुबली-पतली और साधारण-सी औरत थी, जो हाथ में एक पोलिथीन का कैरीबैग लिए उसकी तरफ कुछ ऐसी उतावली से बढ़ी जा रही थी, जैसे काम पर जाने की जल्दी में हो या काम निपटाकर घर वापस जाने की जल्दी में हो। उसके पास आकर उस औरत ने अपने प्लास्टिक के थैले को जमीन पर रख दिया। और बिना कुछ कहे उसका हाथ पकड़कर उसे खड़ा कर दिया। फिर वह उसकी कमीज के बटन खोलने लगी। कमीज उतारने के बाद वह उसकी मैली-कुचैली, कीचड़ और मल-मूत्र से सनी पतलून को उसके शरीर से छुड़ाने के प्रयास में जुट गई। उनकी पतलून कमर के साथ रस्सियों के कई टुकड़ों और फीतों से बंधी हुई थी। वे रस्सी के टुकड़े और फीते आपस में इतने उलझे हुए थे और उसमें पड़ी हुई गांठें इतनी गंदी और चिकनाई से सनी हुई थी कि कोई बहुत धीरजवाली अनुभवी औरत ही उसे खोल सकती थी। उसने बहुत सहजता से, जैसे उसे यह काम करने की पुरानी आदत हो, अपने नाखूनों और दांतों से खींचकर गांठें ढीली की, रस्सियों और फीतों को कपड़ों से छुड़ाया और पतलून को नीचे सरक जाने दिया। फिर उसने अपने प्लास्टिक थैले से एक गीला तौलिया निकाला और पहले उसके चेहरे को; फिर उसके पूरे बदन को पोंछने लगी। फिर उसने उसके विभिन्न जख्मों का मुआयना किया और थैले से मरहम पट्टी निकाली और घावों को रूई के फाहों से पोंछकर फटाफट उसमें मरहम पट्टी लगा दी। और थैले से घुले हुए साफ कपड़े निकालकर उसे पहनाने लगी। कमीज के बटन लगाते समय वह उसे तरह-तरह की हिदायतें दे रही थी मगर वह उसकी बातें सुनने के बजाय सिर्फ उसे देख रहा था।

फिर वह औरत तुरंत चली गई। इतनी तत्परता से, मानो वह कोई काम वाली बाई

हो, जो एक साथ कई घरों में काम करती है। जिसे सब काम फटाफट निपटाने की आदत पड़ जाती है। काम पूरा कर के जाते समय वह मुड़कर यह भी नहीं देखती कि जो काम उसने किया है, वह ठीक तरह से पूरा हुआ है या नहीं। वे यांत्रिक ढंग से काम करने की इतनी आदि हो जाती है कि कोई भी काम उसके लिये विशेष या अलग नहीं रह जाता। उनका चेहरा भावहीन तथा हाथ कड़े और खुरदरे हो जाते हैं, ऐसे हाथ, जो सिर्फ दैनिक क्रियाओं को दोहराते रहते हैं या उनके हाथों में आते ही कोई भी काम एक मामूली दैनिक क्रिया में बदल जाता है।

औरत के जाने के बाद वह बहुत देर तक दीवार के उस टूटे हिस्से को देखता रहा। फिर उसने अपने उन कपड़ों को देखा जो उस औरत के जाते ही फिर उतने ही गंदे और बदबूदार हो गए थे। फिर उसने अपने उन खुले जख्मों को देखा जो उस क्षणिक आभासी उपचार के बावजूद अपने पीले पड़ते किनारों के साथ उतने ही सुजे हुए और भरावदार थे। उसने अपने टखने के घाव को धीरे से कहलाया, जैसे घाव को नहीं उस सुख को छु रहा हो, जिस सुख ने कुछ ही देर पहले उसके घाव पर जन्म लिया था। वह घाव को नहीं औरत की अंगुलियों के उस स्पर्श को सहला रहा था। कुछ देर बाद जब टखने के घाव से उसका मन भर गया तो सिर के पिछले हिस्से के घाव को उसने छुआ, जो अब फैलकर बड़ा भी हो गया था और गहरा भी। लगभग दो इंच गहरे उस घाव की अंदरूनी गहराई में जाकर उसकी तर्जनी न जाने किस नुक्ते को कुरेदती रहती है। लेकिन वह नुक्ता उसे किसी भी हालत में जी सकने की मनुष्य की जिजीविषा के बारे में कुछ सोचने के लिए कभी प्रेरित नहीं करता; मौजूदा समय में मनुष्य की स्थिति जैसी बातों पर चिन्तन करने का तो सवाल ही नहीं उठता। उसके दिमाग में यह खयाल भी नहीं आता कि इतने गहरे घाव में कोई ऐसी बात भी हो सकती है, जिसे व्यवस्था के सामने एक सवाल की तरह पेश किया जा सके।

देखते-ही देखते तीसरा प्रहर बीत गया और कुछ देर बाद परिदों की हल्की आवाजें सुनाई देने लगी। फिर आकाश के पूर्वी किनारे से काले बादलों के पीछे सुनहरी चमक उभरने लगी। वह शांत और स्थिर चित्र था। कुछ देर वह आसमान को देखता रहा फिर अपनी छड़ी और बोरा उठा लिया। इस बार खड़े होने में उसे ताकत लगानी पड़ी, ऐसा लग रहा था कि अब उसके शरीर में एक क़दम भी चलने की ताकत नहीं है। जो कुछ भी संभव था, वह केवल दिमाग के निर्देश पर निर्भर था।

उसके क़दम एक बार फिर उसी दहन स्थल की तरफ बढ़ने लगे, राख से भरे उस गड्ढे के पास जाकर वह बैठ गया। कुछ देर यूँ ही बैठा रहा। जैसे श्मशान में अग्नि संस्कार के बाद दूसरे दिन हम अपने स्वजनों की चिता की राख को छूते हैं, ठीक वैसे ही उसने राख को छुआ। उसकी कल्पना शक्ति और उसकी सोच अब उतनी ही थक गई थी जितना वह। उसे अब बिल्कुल मालूम नहीं था कि उसे क्या करना है। वह तो सिर्फ अपने भीरत से आ रहे अज्ञात संदेशों का पालन कर रहा था। उसने अपने बोरे का मुंह खोला और बाएं हाथ की हथेली से राख उलीचकर बोरे में भरने लगा। इतने सम्मानजनक ढंग से, जैसे वह

किसी कुड़े-कचरे की राख न हो बल्कि चिता की राख हो।

उसकी बड़बड़ाहट एक बार फिर शुरू हो गई। लेकिन इस बार वह आग से नहीं राख से मुखातिब था,

जिस हाथ से वह राख उलीच रहा था, उसी हाथ की लम्बी आस्तीन से अपनी आंखों पोंछते हुए वह बोले जा रहा था,

“बहुत बुरी बात है...” उसने राख से शिकायत भरे लहरे में कहा, “तुमने आखिर कुछ कहा क्यों नहीं? क्या मुझे बहुत ज्यादा नाराज थी? क्या मेरे ऊपर जरा भी भरोसा नहीं रह गया था? कुछ बता दिया होता तो अच्छा होता... मुझे क्या मालूम था कि तुम क्या सोच रही थी और क्या करने वाली थी...”

एक बार फिर उसने नाक साफ़ की, आंसू पोंछे और भराई हुई आवाज में बोला, “कुछ कहा न सुना... बस बच्चों को गोदी में बिठाया और मिट्टी तेल छिड़क लिया...”

उसने राख से सने अपने दोनों हाथों से अपना चेहरा ढंक लिया और कुछ देर ऐसे सिर हिलाता रहा जैसे किसी गहरे पश्चाताप से गुज़र रहा हो। फिर चेहरे से हाथ हटाकर उसने राख से भरे हुए बोरे को देखा। फिर एक गहरी सांस लेकर खड़ा हो गया फिर अपने दोनों हाथों की ताकत लगाकर बोरे को भी खड़ा कर दिया और रस्सी से उसका मुंह बांधने लगा। बोरा हालांकि बहुत वजनदार था और उसका भार उससे संभल नहीं रहा था फिर भी उसने बोरे को पीठ पर लाद लिया और आगे बढ़ गया, अपने उस स्वनिर्मित दहन स्थल को पीछे छोड़कर, जिसमें अब एक भी चिंगारी बची नहीं रह गई थी।

अहाते से बाहर क्रदम रखने से पहले उसने एक बार मुड़कर उस पूरे अहाते पर एक विस्तृत नज़र डाली। कुछ इस तरह कि जैसे सदा के लिए जा रहा हो, कि अब फिर कभी वापस लौटकर आने की कोई गुंजाइश ही न हो।

अस्पताल के पिछवाड़े से बाहर आकर वह शहर की तरफ जाने वाली मुख्य सड़क पर आ गया। उसके फटे-पुराने बोरे ने कई दिनों तक उसका साथ दिया था लेकिन गुजरते दिनों के साथ-साथ वह भी जर्जर होता चला गया था। जूट के ताने-बाने ने कहीं-कहीं एक-दूसरे का साथ छोड़ दिया था और उन कमजोर हिस्सों से राख गिरती जा रही थी। बढ़ते हुए हर क्रदम के साथ राख का रिसाव भी बढ़ता जा रहा था।

काली राख की यह रेखा कोई प्रतीक नहीं है। यह महज एक इत्तफ़ाक है। इस दुनिया में और भी तो कितने इत्तफ़ाक होते हैं। इसलिए राख के इस रेखांकन का कोई और अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए। क्योंकि महानगर के सीने पर यह राख किसी कलात्मक उद्देश्य से नहीं रची जा रही है।

सड़क पर राख की लम्बी लकीर खिंचते हुए वह चौराहे तक पहुंच गया। लेकिन अब उसकी बांयी टांग ने बिल्कुल जवाब दे दिया था। वह कुछ देर दांये पैर के बल पर खड़ा रहा। फिर उसके उन हाथों ने भी जवाब दे दिया, जिन हाथों ने बोरे को थाम रखा था, वह बोरा उसके हाथ से फिसलकर धूप की आवाज के साथ चौराहे के बीचो बीच गिर

गया।

अब इक्का-दुक्का वाहनों का आना-जाना शुरू हो गया था। पहले दूध, ब्रेड, अंडे और सब्जियों से भरे डिलिवरी वेन दिखाई दिये, फिर स्कूल बसें और दुपहिया वाहन भी आने जाने लगे।

वह अब भी चौक के बीचों बीच खड़ा था। उजाला बढ़ता जा रहा था लेकिन उसे आंखों के आगे सिर्फ अंधेरा ही अंधेरा नजर आ रहा था। फिर वह ऐसे गिरा, जैसे कोई पेड़ तब गिरता है, जब उसकी जड़ें उसका साथ छोड़ देती हैं।

लेकिन आखिरकार वह इन्सान था। कुछ देर वह पेट के बल पड़ा गहरी-गहरी सांस लेता रहा। फिर जैसे-तैसे उठ बैठा। कुछ देर तक वह मुंह उठाकर इधर-उधर देखता रहा, जैसे उसे समझ में न आ रहा हो कि वह कहां है। फिर उसकी चेतना धीरे-धीरे सक्रिय हुई। उसने अपने दोनों हाथ जमीन पर टिकाए और शरीर का पूरा भार हाथों पर डालकर अपने शरीर को खिसकाया। फिर दूसरी बार उसने अपनी ताकत को आजमाया फिर तीसरी बार फिर चौथी बार... और इससे पहले कि ट्रैफिक की लाल हरी बत्तियां अपना काम शुरू करती, वह कुल्हों के बल घिसटना सीख चुका था। फुटपाथ पर पहुंचने के बाद उसने एक बार भी उस राख के बोरे को पलटकर नहीं देखा, जो भारी वाहनों के टायर के नीचे पिचक गया था वाहनों की तेज़ रफ़्तार आवा-जाही ने चौराहे पर काली राख का एक बवंडर खड़ा कर दिया था।

लेकिन अब उस आदमी के लिए न तो आग का कोई महत्व रह गया था, न राख का। वह अपनी बांयी टांग हवा में उठाए कुल्हे के बल ऐसे घिसटता जा रहा था जैसे उसे इस तरह घिसटने का बहुत पुराना अभ्यास हो। फुटपाथ से गुज़रते लोग भी उसे बिना देखे ऐसे उसके आस-पास से गुज़र रहे थे, जैसे वे भी घिसटते हुए आदमी को बिना देखे उसके करीब से गुज़र जाने के अभ्यस्त हों।

* * *

अब हम इस कहानी के अंत की ओर बढ़ रहे हैं। जानकार लोग ज़्यादा अच्छी तरह बता सकते हैं कि अंत कैसा होना चाहिए। आम राय तो यही बनेगी कि हमारा नायक ज़ल्द से ज़ल्द मर जाए ताकि कहानी को अतिनाटकीय हाने से बचाया जा सके। लेकिन साफ़ दिखाई दे रहा है कि हमारे नायक का ऐसा कोई इरादा नहीं है। जब से उसने घिसटना सीख लिया है, तब से उसके चेहरे की रंगत बदल गई है। वह चीज़ों को देखकर मुस्कराता रहता है। अब उसने गाली देना। अफसोस प्रकट करना और बार-बार आंखें पोंछना बंद कर दिया है। अब उसने अपने उस अड़्डे पर भी जाना छोड़ दिया है, जहां वह पहले चीज़ों को आगके हवाले करने जाया करता था।

जैसे-जैसे दिन बीतते जा रहे थे, उसकी मुस्कराहट गहरी होती जा रही थी और यह मुस्कराहट उसके लिए बहुत कारगर साबित हो रही थी। चाहे वह शीत लहर हो या गर्मी की तपती धूप या बारिश या कई-कई दिनों की भूख, किसी में इतनी ताकत नहीं थी कि

उसके चेहरे से उसकी मुस्कराहट छीन ले।

उसने अब कपड़े पहनना भी छोड़ दिया था अपने कुल्हों पर उसने जूट के एक बोरे का टुकड़ा बांध रखा था। उसके सहज बोध ने उसे बता दिया था कि अब चूँकि टांगों की कोई उपयोगिता नहीं रह गई है इसलिए उसे कुल्हों की हिफाजत पर ध्यान देना चाहिए। इतना तो वह कर ही सकता था। बिना किसी की सलाह-सहायता के उसने खुद बोरे को दोहराकर उसके चारों कोनों को चार अलग-अलग रस्सी के टुकड़ों से बांधना और उसे अपने कुल्हों के नीचे रखकर रस्सी के अगले सिरे को अपनी कमर से लपेटकर एक-दूसरे से गांठ-बांधकर जोड़ना सीख लिया था।

पहले तो वह अपने कुल्हों के नीचे जूट के बोरे की गद्दी लगाए बड़ी आसानी से फुटपाथों में घूमता-फिरता रहता था और सड़क पार करने में भी उसे कोई परेशानी नहीं होती थी। रेड सिग्नल के दौरान चौराहे के जेब्राक्रास को भी वह अचूक टाइमिंग के साथ पार कर लेता था इसलिए शहर के यातायात में कोई अवरोध नहीं आता था लेकिन धीरे-धीरे उसकी गति कम होने लगी। अब वह समय रहते सड़क को पार नहीं कर पाता था। ग्रीन सिग्नल मिलते ही जब चौराहे के एक तरफ़ खड़े सारे वहान एक साथ एक-दूसरे से आगे निकल जाने की फिराक में आगे बढ़ते तो इस अवांछित अवरोध से उसका संतुलन बिगड़ जाता।

आखिरकार उसने सड़क पर उतरना बंद कर दिया। वह अब सिर्फ़ फुटपाथ पर ही दिखाई देता था लेकिन कुछ दिनों बाद फुटपाथ पर भी यही दिक्कत होने लगी वह जब तक धीरे-धीरे घिसटता रहता, तब तक किसी को कोई एतराज नहीं होता था लेकिन ताकत चुक जाने के कारण वह थोड़ी देर कहीं ठहर जाता तो उसके शरीर से उठती मल-मूत्र की दुर्गन्ध और उसके घावों पर भिनभिनाती मक्खियों से आस-पास के दुकानदार और ग्राहक परेशान हो जाते।

फिर एक बार उसे उसके सहज बोध ने समझाया कि अब उसे इन भीड़ भाड़ वाले फुटपाथों को भी छोड़ देना चाहिए क्योंकि अब उसके कुल्हों और हाथ के पंजों ने भी जवाब देना शुरू कर दिया था। पिछले कुछ दिनों से वह अपनी दाहिनी कोहनी के बल पर घिसटने लगा था।

फिर एक दिन उसने अपनी उसी कोहनी के बल पर अपने धड़ को फुटपाथ से नीचे उतारा और शरीर के उस निचले और निर्जिव हिस्से को घसीटते हुए रेलवे स्टेशन के पश्चिमी द्वार से थोड़ी दूर बने एक धूरे की तरफ बढ़ने लगा। रेलवे स्टेशन के परिसर के आखिरी छोर तक, जहां मध्य रेलवे की एक लम्बी दीवार घूरे से जा मिली थी। घूरे से दस हाथ की दूरी पर वह रुक गया। फिर उसने अपनी पोजिशन बदली और दीवार से अपनी पीठ टिक कर एक ऐसी सांस ली, जैसे किसी बहुत ही महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुंच गया हो।

उस धूरे के ठीक सामने सब्जी मंडी और मटन मार्केट था जहां से तमाम मुर्झाई हुई सब्जियां, सड़े गले आलू-प्याज और फल और मुरगियों के पंख, उसकी गर्दन और पंजे और

अतड़ियां तथा मछलियों के गलफड़े और उसके गैर-जरूरी हिस्से ला लाकर इसी घूरे में फेंक जाते थे।

उस जगह को चुन लेने के पीछे सिर्फ़ एक ही कारण था - वहां कव्वों, कुत्तों और लावारिश मवेशियों के अलावा कोई नहीं आता था और उन परिंदों और परिंदों को वहां उस मनुष्यकी उपस्थिति से कोई एतराज नहीं था। वे सब चरिंदे और परिंदे उस आदमी से निरपेक्ष अपने पंजों या खुरों से कुड़ा कुरेदने और चोंच मारकर या थुथन घुसेड़कर अपना आहार चबाने और निगलने में व्यस्त रहते थे और वह उन्हें देखकर मुस्कराता रहता था।

देखते ही देखते गर्मी का मौसम भी बीत गया फिर आसमान पर काले बादल छाने लगे फिर मानसून की पहली बारिश हुई और बाद के दिनों में भी बारिश बार-बार शहर को भिगाती रही।

जब कई-कई दिनों तक बादल छाए रहते हैं और बुंदा-बांदी भी जारी रहती है, तब हर चीज़ सड़ने लग जाती है और घूरा इतनी बुरी तरह से गंधाता है कि आदमी पागल हो जाए। लेकिन जो लोग पहले से ही इस तरह की बदबूदार गिलगिली गलाज़त को सहने के आदि हो चुके होते हैं, उन्हें यह गंध ग़ज़ब की कल्पना शक्ति से भर देती है। उन्हें इतने सुंदर विचार आते हैं, जो किसी सामान्य आदमी को आ ही नहीं सकते क्योंकि उनका कुछ सोचना दरअसल सोचने जैसा नहीं होता। बल्कि उन्हें लगने लगता है कि कुछ हो रहा है - कुछ और, जो पहले कभी नहीं हुआ, उन्हें कुछ सुनाई देने लगता है, एक ऐसी पदचाप जो पहले कभी सुनाई नहीं दी थी। उन्हें लगता है कि कोई सुंदर और पवित्र चीज़ धीरे-धीरे उसके पास आ रही है। और उसे करीब आते देख उनका दिल खुशी से भर उठता है, उनकी आंखों में एक अलग तरह की अव्याख्येय चमक उभर आती है।

हमारे नायक के साथ भी यही हुआ। उसे भी पदचाप सुनाई दी, उसने भी किसी सुंदर और पवित्र चीज़ को अपने करीब आते देखा, उसका भी दिल खुशी से भर उठा लेकिन जैसे ही वह चीज़ उसके बिलकुल पास आई, वह धीरे से मुस्कराया और इन्कार में सिर हिला दिया।

लम्बी कहानी/दो

कैलास चन्द्र

कहीं कुछ गलत हुआ है!

राहुल बीमार हैं।

अवसाद में घिरे हैं राहुल। न किसी से ठीक से बोल रहे हैं और न ढंग से कुछ खा-पी रहे हैं। उस सितारा हॉस्पिटल की तीसरी मंजिल पर स्थित अपने वार्ड में दिन भर और देर रात उनकी पलकें नींद से भारी होकर जब तक मुंदने नहीं लगतीं वे चुपचाप पड़े रहते हैं सीधे चित्त और कभी-कभी देर तक अपलक रुफिंग की सफेदी को ताकते रहते हैं। हॉस्पिटल की उस सफेदी में प्राण नहीं हैं। वह उदास और निचाट सफेदी हैं जिसमें जीवन का स्पंदन गुम हो जाता है।

हॉस्पिटल के बाहर यद्यपि मंद समीर है और उस समीर में नीम के पेड़ की हिलती हुई पत्तियां हैं और अदम्य शोर के बीच भी मिट्टी की सुगंध का आभास है। पर उस वार्ड की खिड़की से एक बेहूदा संगीत लम्बी-चौड़ी मल्टीप्लेक्स बिल्डिंग अपनी पूरी भयावह विराटता में दिखती है। दिखना जैसे क्रूरता की बाराखड़ी है जिसे बांचना राहुल के लिए दुर्दान्त हो गया है। भीतर की ऐसी कूलित घुटी हवा में राहुल जैसे कैद होकर जी रहे हैं। रोज अपनी फेरी के वक्त डा. सिद्धनाथ उनसे कहना नहीं भूलते हैं- स्माइल मि. राहुल। क्यों अपनी खुशियों को कैद करके बैठ गए हो। जीवन जियो। देखो यह आसपास का संसार कितना दिलचस्प और सम्भावनाओं से भरा है।

पर राहुल जवाब नहीं देते। जैसे डाक्टर की सलाह को सुनते ही नहीं।

उनके चेहरे पर कोई परछाई भी नहीं। एकदम निर्विकार चेहरा बुद्ध की तरह, पर प्रकाशवान नहीं। इस स्थितप्रज्ञता में एक जबरदस्त ठण्डक है। उनकी पत्नी संगीता दिन के अधिकांश समय उनके बेड के पास बैठी रहती हैं इस प्रत्याशा में अभी राहुल कुछ मांगेंगे, पानी, कॉफी, चाकलेट। जो उनका मन हो। पर उनको निराशा होती है। राहुल कुछ नहीं

मांगते। अपराह्न के तीन बजे एक लेडी फिजियोथेरिस्ट आती है। कुछ एक्सरसाइज कराती है। राहुल से बात करती है, उनको जोक्स सुनाती है या कुछ छोटी कविताएं, कभी मुल्ला नसीरुद्दीन के कुछ दिमागी किस्से। उनको बातों में घेरने की कोशिश करती है। बस इतना परिवर्तन होता है राहुल में कि वे उसका चेहरा देखने लगते हैं। जाते-जाते वह संगीता से कहती जाती है- प्लीज मेडम! उन्हें इस बेरहम चुप्पी से बाहर निकालिए। ये अपने आप में घुट रहे हैं। इनके कुछ फेवरिट टीवी शो होंगे। उनको दिखाइए। टीवी है ही यहां। इनको वापस जीवन में लौटा लाइए। यह आप ही बेहतर ढंग से कर सकती हैं। करिए...

संगीता ज्यादा चिंतित हो जाती हैं। वे अभी से स्थूल होने लगीं हैं जब कि उमर मुश्किल से 23 साल पूरी की है। अभी से उनका बीपी हनुमान टौरिया चढ़ने लगा है।

राहुल बीमार हैं। अपने भीतर की अंधेरी पर्तों से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं अथवा ऐसी कोई कोशिश ही उन्होंने बंद कर दी है। डाक्टरों की बुलेटिन जारी होती है रोज ही। सायंकाल को वे उनके करीबियों को बताते रहते हैं- हालत स्थिर बनी हुई है। उनके सभी अंग ठीक काम कर रहे हैं - गुर्दा, वृक्क, हृदय। मस्तिष्क शांत है एकदम जैसे देर रात किसी सरोवर का जल शांत हो जाता है। विचारों की कोई हलचल नहीं, कोई आहट नहीं। मस्तिष्क की कोशिकाएं और न्यूरोन्स एकदम जीवित और चैतन्य हैं। पर पूरे मस्तिष्क में कहीं संदेशों की आवाजाही नहीं हो रही है। वे अतल अवसाद और अपनी ही असमर्थता में गहरे डूबे हुए हैं।

तो राहुल बीमार हैं। शरीर और मन से एकदम दुरुस्त। पर अवसाद में जिसका जाल वे नहीं काट पा रहे हैं। सभी उनके लिए चिंतित है। संगीता उनकी पत्नी, उनके ससुर जगमोहनलाल, उनके दोनों साले- शरदेन्दु और नवेन्दु, साली पंखुरी और उसके पति नवागत। सास कौशिल्या का देहांत दो साल पहले हुआ है। राहुल के अवसाद की कोई वजह समझ में नहीं आ रही है- मनोचिकित्सक बताते हैं। लेकिन आश्चर्य यह लगता है कि 30 वर्ष के राहुल के साथ ऐसा क्या हादसा हुआ कि वे गहरे अवसाद में चले गए। उनका अपना सुखी परिवार है और अपने दो बच्चों को वे बेइन्तिहां प्यार करते हैं। उनके प्यार का कौन सा भरा कोश खाली हो गया है और वे एकदम तन्हा हो गए हैं और उनको गहरी न टूटने वाली उदासी ने घेर लिया है। हॉस्पिटल में भरती होने के पहले तक तो सब कुछ ठीक ठाक था। कोई हादसा भी नहीं हुआ जिसकी वजहें उनके चित्त पर जा चिपकौं हों।

किशोर राहुल ने आंगन में उतर कर धमाचौकड़ी मचाने वाले गिलहरी का नाम चींची रख दिया है। वहां उस पत्थर के पटियों से पटे सरकारी बंगले के विस्तीर्ण आंगन में तीन चार गिलहरियां थीं जो दिन भर उस आंगन में बेतहाशा दौड़ती रहती थीं। इनमें सबसे ढीठ यह चींची ही थी। इतनी ढीठ और चतुर कि राहुल की गदेली पर रखी बादाम की गिरी को झपट कर ले जाती और उसको पकड़ने की ताक में लगे राहुल को मौका नहीं मिलता था। राहुल जब भी आंगन में जाता चींची उसे देख कर फौरन प्रकट हो जाती।

आंगन में एक सूख गया बड़ा पीपल का पेड़ था जो केवल अस्थिपंजर के रूप में खड़ा था। उसके तने से सटकर एक नीम का पेड़ भी उग आया था और उसकी शाखाएं आसपास फैल रही थीं। नीम की थोड़ी सी छांव आंगन की निचाट धूप को दुलरा जाती थीं। अन्य गिलहरियां तो नीम के पेड़ पर ही धमाचौकड़ी मचाती थीं पर चींचीं पीपल और नीम दोनों पेड़ों पर दौड़ लगाती थी। उसे दोनों पेड़ प्रिय थे। नवागत और पुरातन दोनों।

चींचीं नाम राहुल का दिया था।

जब वे इस घर में आए थे तो राहुल यह देख कर बहुत खुश था कि उस बंगलें के पीछे दूर तक हरियाली थी और आसमान धूल रहित निरभ्र था। साफ शफाक धूप चारों तरफ छिटकती थी। पानी बरसता था धारासार। चटखती गरमी पड़ती थी और सरदी के दिनों में आंगन की धूप घर भर को अपने आगोश में खींचती थी। वैसे आंगन काफी विस्तीर्ण था। उनके आने के पहले भी उस आंगन में पंछियों और गिलहरियों की धमाचौकड़ी मचती रहती थी। पर राहुल ने उनकी शैतानियों और चहल-पहल में प्राण भर दिए थे। उसे यह सब पसंद था।

पापा नहाने के बाद ध्यान पूजा से फारिग होकर पीपल के उस सूखे पेड़ वासुदेव को जल चढ़ाने लगे थे। आधी बाल्टी पानी राहुल भी डाल देता था। साल भर भी नहीं बीता कि उस सूखे पीपल में दो टहनियों के जोड़ पर किसलय उग आए हल्के ललछौंह से। सूखे तने में कुछेक कोशिकाएं शायद अभी जीवित थीं और उसी के सहारे धरती का सत खींच कर पेड़ पुनर्जीवन पाने की आहट दे रहा था। चींचीं उन पत्तों से अठखेलियां कर आती थी। अब वह आंगन से सीधे सरसराती चढ़ती और उन पत्तों के पीछे छुपने की कोशिश में लग जाती- दूंदो मुझे। यह कहती शायद।

नए पत्ते इतनी ऊंचाई पर उगे थे कि राहुल चाह कर भी उनको सहला नहीं सकता था। जब कि उनका मन ललकता रेशम से मुलायम उन पत्तों को सहलाने का। एक दिन उसे लकड़ी की एक सीढ़ी मिल गई। कुछ दिनों पहले उस बंगले में पुताई हुई थी और मजदूर उस सीढ़ी को हाल-फिलहाल वहीं छोड़ गए थे। सबसे ऊपर डण्डे पर राहुल ने पांव रखा ही था कि किसी काम से गुंजन मौसी बाहर आंगन में आ गई थीं। उन्होंने राहुल को देख लिया तो नाराज हुईं- का करते हो राहुल। सीढ़ी से कहां चढ़ रहे हो? गिर पड़ोगे।

बस उन पत्तों तक मौसी। उन्हें छू कर उतर आउंगा - राहुल ने सफाई पेश की। वैसे गुंजन मौसी राहुल की सबसे अच्छी सखी थीं।

इस पर गुंजन खीझ गई और उन्होंने अपनी बड़ी बहन यानि राहुल की ममा संजना को आवाज दे दी- दीदी! देखो तो राहुल कहां चढ़े हुए हैं।

मां जानती हैं कि राहुल वैसे कोई शरारत नहीं करता। पर गुंजन की अपील पर वे आंगन में चली आईं। देखा राहुल को तो उनकी सांस ऊपर चढ़ गई।

उतरो राहुल। पांव फिसल गया तो चोट लग जाएगी- उनके स्वर में चिंता की गहराई थी। राहुल उतरा भी तो ऊपर से नीचे कूद कर। दोनों बहनों के मुंह से हाय निकल

गया।

पल्ले छूने चढ़ा था। छूने नहीं दिया - राहुल बैठक में चला गया जैसे रुठकर। पेड़ की डाल पर चींची बैठी उसे ललकार रही थी। जब कि राहुल के दोस्त बाहर के ग्राउण्ड में क्रिकेट खेल रहे थे।

गुंजन मौसी विधवा हैं। कम उम्र में ही विधवा हो गई। घर में मां-बाप पहले ही खतम हो गए थे। दो भाई थे। दोनों ही विधवा बहन का भार उठाने से मना कर रहे थे। लिहाजा संजना बड़ी बहन ने उसे अपने पास बुला लिया था। संजना एक बड़े बैंक में मैनेजर हैं और उसके पति यानि कि राहुल के डैडी एक हायर सेकेंड्री स्कूल में व्याख्याता हैं। उस बड़े शहरनुमा कस्बे में पुराना सरकारी बंगला बुक रेण्ट पर डैडी को मिला हुआ था। कमरे छोटे पड़े थे और सामान ज्यादा था। पर संतोष यही था कि बिना किसी झंझट के एकांत में रह रहे हैं।

गुंजन मौसी ने आकर घर संभाल लिया था। बहन बहनोई दोनों नौकरी पेशा और घर में किशोर राहुल। अब घर में गुंजन की ही चलती थी। किराना का सामान खरीदने वही जाती थी। साथ में थैला पकड़े कभी राहुल भी साथ लग लेता था। तिराहे पर सब्जी लेने गुंजन ही जाती थी। दुपहर या शाम को सब्जी में क्या पकना है वही तय करती थी। इसमें कभी-कभी राहुल से उसकी तकरार हो जाती थी। जैसे राहुल को घुईयां और लौकी बिलकुल पसंद नहीं आती थीं। जब ये सब्जी बनती तो गुंजन राहुल भर के लिए उसकी पसंद की सब्जी अलग से बना देती थीं और तब दोनों में सुलह हो जाती थी।

जब कभी कपड़े खरीदने की नौबत आती तब भी दोनों में तकरार हो जाती थी। राहुल को सादे कपड़े ज्यादा पसंद आते थे। गुंजन स्वाभाविक रूप से चटख रंग पसंद करती थी। तब संजना को बीच बचाव करना पड़ता था - अपने हिसाब से जो कपड़े राहुल को लेना हो उसी रंग और पसंद के कपड़े ले लो। बाकी कपड़े गुंजन पसंद करेगी।

इस वजह से घर में गुंजन और राहुल में नॉक-ड्रॉक चलती रहती थी। पर रात को अपना होमवर्क पूरा करने के बाद वह सोता अपनी मौसी के संग ही। एक बड़ा सा पलंग जिस पर मोटा क्वायर का गद्दा और एक खूबसूरत सी मुलायम चादर बिछी होती थी।

गुंजन की निगाहों में पूरे समय स्कूल से लौटता राहुल रहता था। उसकी किसी परेशानी से वह चिंता में पड़ जाती थी। जितनी देर वह स्कूल में रहता उसके प्राण धक-धक करते रहते थे।

एक बार संजना ने लोहे की आलमारी के ऊपर रखा जूते का डिब्बा बाहर बने गैरेज में रखवा दिया था। एक चुहिया ने उसमें पांच बच्चे दिए थे। बच्चों की आंखें अभी नहीं खुली थीं। राहुल रोज ही स्टूल पर चढ़ कर बच्चों को देख लेता था। गुंजन ने दीदी को मना भी किया कि डिब्बे को बाहर न फेंको राहुल गुस्सा होगा। पर संजना चिढ़ी हुई थी कि अभी एक चुहिया पूरे घर में कुछ न कुछ काटती रहती है अब इसके पांच बच्चे और हो गए

हैं।

राहुल स्कूल से लौटा और उसकी निगाह आलमारी के ऊपर गई और डिब्बा को अपनी जगह न पाकर सबसे पहले मौसी से ही जवाब तलब किया। गुंजन ने उसको गैरेज की वह जगह दिखा दी जहां संजना ने डिब्बा रखा था। राहुल ने वह डिब्बा उठा कर फिर आलमारी के ऊपर रख दिया।

देर शाम संजना लौटी और फिर जब अचानक उनकी निगाह आलमारी के ऊपर गई तो गुंजन ने बता दिया कि राहुल ने फिर उठा कर रखा है। राहुल से पूछा तो उसने कहा- ममा! जैसे तुम अपने बच्चे को यानि मेरी फिकर करती हो, वैसे ही वह चुहिया भी करती है। उसने सुरक्षित जगह तलाश ली और उसी में अपने बच्चे दे दिए। उन बच्चों को बाहर कोई बिल्ली और कुत्ता खा जाता तो ?

अब इस तर्क पर ममा क्या कहतीं जब गुंजन की भी इस कृत्य में सहमति थी।

अक्सर चारदीवारी की काई लगी मुंडेर पर चार-छह: गलगलियां कहीं पीछे हार से उड़ कर आतीं और बैठ कर चहचहाने लगतीं थीं। गुंजन जो रसोई में नाश्ता तैयार कर रही होतीं या सफाई में लगी होतीं इन आवाजों से चिढ़ जातीं। वे बाहर आकर सभी को उड़ा देतीं। राहुल कमरे में होता और मौसी से कहता- मौसी क्यों उड़ा दिया। तुम्हारा क्या लिए थीं भला। वे आपस में कोई बातचीत कर रहीं होंगी।

वे शोर मचा रही थीं- गुंजन खीझ कर जवाब देती।

और जो तुम बोल बोल कर चखचख करती रहती हो दिन भर तो कुछ नहीं- राहुल और गुंजन मौसी में दिन भर ऐंसी रार चलती रहती थी और कभी-कभी तो संजना को इस रार में दखल देना पड़ता था।

मौसी गुंजन ने किसी छुट्टी के दिन मूंग की बड़ी डालीं और सूखने के लिए एक चारपाई पर चादर बिछा कर आंगन में रख दीं। राहुल आंगन में कुर्सी पर बैठा पढ़ रहा था। गुंजन ने हिदायत दी कि देखे रहना- चिड़ियां और गिलहरियां न खा पाएं। एक छड़ी भी राहुल की कुर्सी के पास रख दी।

कुछ देर बाद गुंजन जब किसी काम से वहां आई तो देखा कि बड़ियों पर चिड़ियों और तीन-चार गिलहरियों का हमला हो रहा है।

गुंजन बिगड़ पड़ी- सब बड़ियां खबा लीं। किसी को भगाया क्यों नहीं।

अरे मौसी भूख लगी होगी उनको। क्यों नाराज होती हो। तुमको लगती है तो चपड़-चपड़ करके खाती हो। चिड़ियों और गिलहरियों पर फालतू में गुस्सा निकालती हो।

तब तक मां संजना भी निकल आई थीं। दोनों की मुंहजोरी देख कर हंस पड़ी- न नाराज हो मेरी बहना! और डाल लेना।

मुझे क्या। बड़ी की सब्जी बनाने को न कहना। गुंजन खीझ से भरी भीतर चली गई। राहुल मौसी को मनाने उठ कर भीतर चला गया।

सुबह आंगन में धूप उतरती आसमान से और आंगन गिलहरियों की दौड़ों से भर

जाता था। राहुल आंगन में दाने बिखेर देता। कभी-कभी वह गिलहरियों को बादाम की गिरी देता। गौरेयों और कभी कभी तोतों की पांत उतर आती आंगन में। पीपल के सूखे टूट पर उग आई कोमल लाल पत्तियों में सुबह की धूप घुसती तो रंगों का आर्कस्ट्रा बजने लगता था।

क्वार्टर के पीछे कृषि उद्यान विभाग का तालाब था। वहां पांच बत्तखें पली थीं। वे प्रायः बगल की बाड़ में बनाए गए रास्ते से निकल आतीं और कतार में एक के पीछे एक सामने से निकलतीं। उनकी क्वाक क्वाक की आवाज सुन कर राहुल बाहर निकल आता और दौड़ कर उनके लिए दाने बिखेर देता। गुंजन समझाती उसे कि बत्तखें चोंच मार कर मांस निकाल लेती हैं। इनसे बच कर रहना। पर राहुल क्यों चेतने लगा। उसकी उनसे दोस्ती हो गई थी। वह भी गले से क्वाक की आवाज उनके पीछे से निकालता तो बत्तखें ठिठक कर खड़ी हो जातीं थीं।

गुंजन मौसी अब राहुल को आंगन में खाना नहीं देती थीं। राहुल खीझता, ममी संजना से शिकायत तक करता। पर गुंजन नहीं सुनती। राहुल धूप, गिलहरियों, गौरइयों और पीपल के पेड़ की ललछेंही रंग की पत्तियों की आभा के बीच खाना खाना चाहता था। इसी पर रार होती। वह कहता यह पेड़ अगर पत्तियों से भरा होता तो गर्मियों में पूरा आंगन इसकी छाया से भरा होता। इस पर गुंजन का जवाब होता- पर सर्दियों में तो इस छांव के कारण ठिठुरते। पीछे का दरवाजा खोलकर राहुल उद्यान को देखता, उसमें बने सरोवर को निहारता, उद्यान के पीछे शायद मीलों तक फैले जंगल और हार को देखता, खेतों में खड़ी पकी फसलों को सूंघने की कोशिश करता, आम, महुआ, गूलर, कैथे, शीशम और नीम के पेड़ों को देखता और अपनी गुंजन मौसी से कहता - चलें इनके बीच घूमने चलें। कितने सुंदर लगते हैं पेड़ पौधे। झरबेरियों के बेरों का स्वाद तो अलग और अनूठा होता है। चने की खौंटी हुई भाजी होंठों और जीभ पर जो नमक छिड़कती है उसका स्वाद बताया नहीं जा सकता है।

गुंजन मौसी उसके कुदरत प्रेम से पिण्ड छुड़ा लेती- हटो राहुल कितना काम पड़ा है। इतनी फुरसत कहां है? राहुल उदास हो जाता। उसकी दिन भर की सखी-सहेली, मौसी गुंजन ही भर तो है। जिनसे वह लाड़ लड़ा सकता है, ज़िद कर सकता है, अपनी बात मनवा सकता है। उनको अपने साथ बैठा कर बगघा-गोटी या लूडो खेल सकता है।

बेचारी गुंजन। जिसने जब महकना चाहा तो पतझड़ टूट पड़ा उसके ऊपर। राहुल सोचता है वह मौसी की खुशियां लौटाएगा। पर कैसे उसे पता नहीं है। वह उनके दुखों के बारे में इतना ही जानता है कि वे विधवा हैं, उनका जीवन सूना है। बड़ी जीजी के अलावा उनका दुनिया में अब कोई नहीं है। कहने को उनकी ससुराल भी है पर उनको सम्पत्ति में कुछ देना पड़ेगा इसलिए वे चाहते हैं कि यह बला दूर ही रहे तो अच्छा है।

जीजी संजना ने गुंजन को अपने पास बुला लिया। उनका भी अपना स्वार्थ है। पति-पत्नी दोनों नौकरी पेशा हैं। राहुल बड़ा हो रहा है। उसे सहारा और साथी दोनों

चाहिए। सूने घर में कोई जिम्मेदार प्राणी रहना चाहिए। वह जिम्मेदारी उन्होंने गुंजन को दे दी है और निश्चित हो गई हैं। गुंजन ने सब कुछ संभाल लिया है। इस घर में उनको सब कुछ मिल गया है। बस पति की याद उसको जब तब बेचैन कर देती है।

गुंजन मौसी राहुल को अब बरामदे में ही खाना देती है। वह लाख जिद करे पर वह नहीं सुनती है। बाहर गौरइया और गिलहरियां राहुल के खाना में हिस्सा बंटा लेती हैं। वह कुर्सी के सामने स्टूल रख देती है और स्टूल पर थाली सजा देती हैं। गरम-गरम रोटियां सेंक कर देती है खूब घी चुपड़ कर। मेहनत से पढ़ाई करता है तो दिमाग को गिजाँ तो मिलनी ही चाहिए। रात को सोने के पहले दूध देना और उसमें एक चम्मच घी डालना वे नहीं भूलती। पर वह गिलहरी जिसे राहुल चींची कह कर पुकारता है शरारत करने से नहीं चूकती। दरवाजे से घुस कर सतर्क निगाहों से यहां-वहां देखती है शायद गुंजन मौसी की उपस्थिति को सूंघने की कोशिश करती है। पर वे दिखती नहीं। वे रसोई में है राहुल के लिए रोटिया सेंक रही है खूब फूली हुई। फिर चींची राहुल को देख लेती है। भोजन की सुगंध उसे पीपल की ऊंची डगालों से नीचे खींच लाती है। उसके घोंसले तक खूशबू हवा की पीठ पर सवार होकर पहुंच जाती है। वह पत्तों के बीच हो फिर भी सुगंध वहां तक रिस जाती है। वह सर्र से नीचे उतरती है आंगन में और यहीं सतर्क हो जाती है। आसपास कहीं मौसी तो नहीं है जो छू कह कर उसे भगा देती है।

वह तेजी से आगे बढ़ती है। स्टूल के पाए के पास पहुंच जाती है। फिर सतर्क निगाहों से माहौल को परखती है। एक झपाटे में स्टूल पर चढ़ जाती है। सामने चावल दाल और सब्जी से भरी थाली है। कुर्सी पर राहुल बैठा है। चींची निश्चित है उसे देख कर। वह दो पांव थाली में जमा कर चावल में मुंह मारने लगती है। राहुल कुछ नहीं बोलता उसकी इस हरकत पर। वह तो मुदित है उसे देखकर। चींची जल्दी-जल्ती चावल मुंह में भर रही है। उसे मौसी का डर सता रहा है। वह भले ही वहां बरामद में उपस्थित नहीं है पर रसोई में उसकी खटर-पटर सुनाई दे रही है।

वे सहसा गरम फूली रोटी उस पर घी चुपड़े आ जाती है और चींची की इस हरकत पर जोर से छू कहती है और राहुल को भी हल्की झिड़की देती है- उसे भगा नहीं सकते थे। इस बीच चींची रफूचक्कर। अब दोबारा शायद ही आए। मुंह में कौर चबाता राहुल मौसी की झिड़की पर हल्का सा मुस्करा देता है। रोटी थाली में रखकर मौसी फिर से रसोई में चली जाती है। अब राहुल दबे पांव उठता है। उसके हाथ में घी चुपड़ी गरम रोटी का एक बड़ा टुकड़ा है। वह आंगन में चींची को तलाशता है। वह नहीं दिखती। पेड़ या मुड़े के पीछे होगी या अपने घोंसले में चली गई होगी। राहुल रोटी का टुकड़ा एक ईंट पर रखकर लौट आता है। पर उसे डर सताता रहता है कि कोई कौवा न हड़प ले। उसके पंखों की फड़फड़ाहट से ही अंदाजा लग जाता है कि ले उड़ा। अपना-अपना भाग्य।

कभी-कभी चींची ढीठ भी हो जाती है और मौसी की परवाह नहीं करती। वह आ जाती है और वह भागती नहीं है। वह छू कह कर उसे भगाने की कोशिश करती है। वह

नहीं जाती। वहीं चक्कर काटती रहती है। वह राहुल को दोष देती है कि उसने चीँची को ढीठ कर दिया है। आंगन में लगे मोटे तार की अलगनी पर सूखते कपड़ों पर वह ऐन मौसी की आंखों के सामने यहां से वहां दौड़ लगा देती है। जैसे गुंजन को उसे पकड़ने की चुनौती दे रही हो। गुंजन उसे अचरज से देखती रह जाती है। वह समझती है कि चीँची ने अपने गंदे पैरों से कपड़ों में दाग लगा दिए हैं। पर ऐसा होता कभी नहीं।

राहुल स्कूल की पढ़ाई के अंतिम सोपान पर इस साल पहुंच गया है। परीक्षा में बहुत मेहनत का ही नतीजा है कि आखिरी पेपर खत्म होते ही राहुल बीमार पड़ गया। उसे टायफाइड हो गया। कम खाना, पढ़ाई की चिंता और बहुत मेहनत ने उसे झकझोर डाला है। राहुल बिस्तर से लग गया है। वह बहुत कमजोर हो गया है। बरामदे के दक्षिण के कमरे में राहुल लेटा है। उसे उठने की मनाही है। राहुल की बीमारी से चीँची कम परेशान नहीं है। उसे अब चावल, दाने, बादाम की गिरी और फूले हुए मक्के के दाने नहीं मिलते। एक दिन वह छानबीन की धुन में कमरे की चौखट तक चली आई। पर वहां राहुल की खाट के पैताने गुंजन मौसी कुर्सी डाले बैठी थी। उसको देख कर चीँची ठिठक गई। भीतर जाकर राहुल का हालचाल पूछे या फिर मौसी के कोप के डर से यहां से खिसक ले। उसने ऐसे दिखाया जैसे अनायास वहां आ गई हो।

पर राहुल की निगाह उस पर पड़ गई, बोला-प्लीज मौसी! चीँची को डपट कर भगाना नहीं। मौसी के दिल में ममता उतर आई, बोली-नहीं डपटूंगी। फिर भी चीँची सशक्त रही आई। तब राहुल ने इसरार किया-प्लीज मौसी! इसे कुछ खाने को दे दो।

मौसी ने बैठे बैठे ही अलमारी से बादाम का डिब्बा उठाया और एक बादाम के चार टुकड़े कर देहरी के पास फेंक दिए। चीँची अचम्भित। क्या हो गया आज मौसी को। डरते डरते उसने दो टुकड़े उठाए और रफूचक्कर। अब मौसी आंगन में ही दाने बिखेर देती रोज-चिड़ियों, गिलहरियों और नेवलों के लिए। चीँची फिर भी आती राहुल का हालचाल जानने। पर देहरी की चौखट उसकी लक्ष्मण रेखा थी जैसे। कभी नहीं फलांगती। पर ज़रूर देखा कि मौसी ने डपटना छोड़ दिया है तो एक दिन मौसी की अनुपस्थिति में राहुल की खाट के पाए तक चली आई। मुंह ऊपर उठाकर उसने शायद राहुल को देखने की कोशिश की पर उसे छत की पपड़ियां ही नजर आईं।

राहुल की नजर पड़ी, क्षीण आवाज में बोला-जल्दी ठीक हो जाऊंगा चीँची। तुम फिकर न करना। फिर तुम्हारे साथ पूरी गर्मियों खेलूंगा।

पता नहीं चीँची ने कुछ समझा या नहीं। अपनी ही भाषा में बोली- मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी प्रकृति पुरुष। तुमको फूलों, पत्तियों, मिट्टी, हवा और रोशनी से गठबंधन करना है।

चीँची चली गई हवा और डूबती रोशनी के बीच। सांझ घिर आई थी और रात तेजी से उस आंगन में उतर रही थी। उन गर्मियों की शुरुआत से अंत के बीच में ही चीँची, वासुदेव के ललछाँह पत्तों, गौरियों-गलगलियों, बत्तखों की क्वाक-क्वाक, फसलों के

बीच विचरती भीनी हवाओं, सरोवर के बीच से उठती शीतलताओं, झरबेरी के खट्टे-मीठे बेरों और चने के होरो के बीच राहुल ने स्कूल की अंतिम पढ़ाई बानवे प्रतिशत की चमकदार मेरिट के साथ पास कर ली।

मां संजना राहुल को टेक्नोक्रेट बनाना चाहती हैं। कोई अगर उनसे पूछे क्यों भला-डाक्टर, इंजीनियर, आईएस-आईपीएस अथवा महाविद्यालय का असिस्टेंट प्रोफेसर क्यों नहीं तो शायद उनके पास इस ख्वाहिश का कोई जवाब नहीं होगा। अचानक दिमाग में ख्वाहिश उठी और उन्होंने प्रकट कर दी। राहुल से पूछने की जरूरत इस वजह से महसूस नहीं की कि वह तो लड़का है, उसका कैरियर बनाने की जिम्मेदारी मम्मी-पापा की है। पत्नी की हर बात में सिर हिलाने वाले उसके पापा यानि कि संजना के पति ने हामी भर दी। उस पूरी गर्मियों में संजना ने केवल एक काम किया-एक अच्छा, उच्च एवं प्रतिष्ठित प्रोद्यौगिकी संस्थान खोजने का काम। इसके लिए उन्होंने तमाम जर्नल्स, वीकली और डेली मेगजीन्स खंगाल डालीं। पर उन्हें कोई मुकम्मल सूचना नहीं मिल पाई। अचानक एक बहुत बड़े शहर में ब्याही उनकी ननद अर्थात् पति महोदय की एकलौती छोटी बहिन श्रीमती रमा देवी का फोन आया और उन्होंने अनायास उनसे इस बारे में पूछ डाला।

रमादेवी ने उनको निराश नहीं किया। उन्होंने उनकी ख्वाहिश के अनुरूप उसी शहर के सर जानकीदास प्रोद्यौगिकी संस्थान का पता उनको दे दिया और यह भी बताया कि पिछले वर्ष आखिरी दाखिले की प्रतिशत अस्सी थी। संजना निश्चित थीं। मेरिट के मामले में राहुल का परफार्मेंस लाजवाब माना जा सकता था। प्रवेश परीक्षा की भी कोई समस्या नहीं थी। आनन फानन में राह निकल आई थी।

हुआ वही। राहुल को प्रवेश मिल गया इस प्रतिष्ठित संस्थान में। प्रवेश परीक्षा में सर्वोच्च अंक। अब राहुल को अपनी पूजनीय बुआ और फूफा जी की छत्रछाया में आगे की पढ़ाई उस बड़े शहर में करनी थी। उसे एक टेक्नोक्रेट बनना था एक प्रतिष्ठित और उपजाऊ प्रोद्यौगिक। मां संजना का सपना था यह और सपना पूरा होने में कोई कठिनाई भी नहीं थी। मम्मी-पापा दोनों उच्च वेतन कमाऊ थे। बुआ-फूफा का शानदार अपार्टमेंट था जो फूफा जी को एक इलेक्ट्रॉनिक कम्पनी के डायरेक्टर होने के कारण मिला था। अपार्टमेंट दो मंजिला था। सामने रोड के उस पार मल्टीप्लेक्स बिल्डिंग्स की कतारें थीं।

संस्थान फूफा के अपार्टमेंट से सात-आठ किलोमीटर की दूरी पर पड़ता है। संस्थान की बैटरी चालित ईको फ्रेण्डली बसें चलती हैं। अधिकतर छात्र बस से ही आते-जाते हैं। इतने बड़े शहर में इतनी सुरक्षा काफी मानी जा सकती है। वैसे तो यह विशाल शहर हर एक को लीलने के लिए आतुर दिखता है। पर एक वर्ग छात्रों का ऐसा भी था जो महंगी मोटरसाईकिलों या कारों में आता था जिनको भविष्य की कोई चिंता नहीं सताती थी। उनका सामाजिक और आर्थिक स्तर बहुत ऊंचा था। जैसे हीरा व्यापारी झुम्मकलाल जावेरी का बेटा शानदार केडलॉक में संस्थान में आता और उसका सोफर दिन भर स्टीयरिंग

पर सिर रखे सोता रहता था- पता नहीं बाबा को कब कहीं चलने की धुन सवार हो जाए। कैम्पस के दक्षिण में एक शानदार केण्टीन थी। राहुल को शुरू में बहुत घबड़ाहट हुई थी इस माहौल में। केण्टीन के खाने से राहुल बेटे का पेट खराब न हो जाए इसलिए बुआ ने खाना बनाने वाली शांताबाई हालदार को घर का खाना तैयार कर टिफन में भरने के निर्देश दे दिए थे। निर्देश ये भी थे कि रोज-रोज एक ही प्रकार के व्यंजन न टिफन में दूँसे जाएं। उनमें वेरायटी और स्वाद दोनों रहे।

जब भी राहुल अपना टिफन खोलता उसे अपना गोपालदास स्कूल याद आ जाता। वह एक समाजसेवी स्कूल था सादगी से भरा। रीसिस में वहाँ के शिक्षक अपनी अपनी कक्षा के लड़कों के टिफन खोलवा के देख लेते थे कि कहीं उनके भीतर बहुत चूजी और महंगे किस्म के पकवान तो नहीं रखे गए हैं जिनसे किसी बच्चे की स्टेटस की दुर्गंध आती हो। स्कूल ने स्तर बना रखा था- चपाती या परांठे, एक सूखी सब्जी, अचार या चटनी और एकाध टुकड़ा मिठाई। बस इससे भिन्न नहीं। पर इस संस्थान में ऐसा कोई प्रतिबंध लागू नहीं था। वैसे अधिकतर छात्र केण्टीन में ही खाना या नाश्ता लेते थे। उतनी देर वे संस्थान की कठिन पढ़ाई से छुटकारा पा लेते थे।

कोर्स कठिन था और विस्तृत भी। राहुल को अपार्टमेंट में लौट कर दो-तीन घण्टे नियमित रूप से दिन भर की पढ़ाई के बाद दोहराने के लिए देने पड़ते थे। अपार्टमेंट के भीतर कोई आंगन नहीं था। बस प्रथम खण्ड में एक बड़ी टैरेस थी जिसमें धूप का थोड़ा सा आगाज होता था। भूतल के सामने एक बड़ा लॉन था जिसमें अधिकतर विदेशी फूल और घासें लगीं थीं। हवाएं पता नहीं कब तेज चलतीं थीं राहुल को अपने कमरे में पता नहीं चलता था। धूप कब आकर उतर जाती थी वह नहीं जान पाता था। उसकी जो आदतें थीं कि वह हवा और घास-फूलों की गंध सूंघता पढ़ता रहता था यहां आकर सब छूट गया था। यहां चींची की सरपट दौड़ और उसकी ढीठता नहीं थी। गाती चिड़ियों और गलगलियों का शोर नहीं था। कौआ की काकचेष्टा नदारत थी। अपार्टमेंट के पीछे तालाब नहीं विशाल इमारतों का सिलसिला था। वहां न कोई बगुले थे और न क्वाक-क्वाक का बल्लखों का शोर और उनका शाही ढंग से चलने का अंदाज भी नदारत था।

सबसे ऊपर गुंजन मौसी की फिकर भरी ममता नहीं थी जो हर खीझ में उसके लिए ही विसर्जित हो जाती थीं।

उस मुक्त छंद से कट कर राहुल यहां पढ़ने आ गया था। प्रकृति के जंगल से निकलकर इस कंकरीट के जंगल में चला आया था जहां वह किसी बीम या पिलार में एक ललछोंह पत्ता भी उगा नहीं देख सकता था। अपने उस कस्बेनुमा शहर की उबड़ खाबड़ सड़कों की तुलना में यहां की सड़कें धूप में आईना बन जाती थीं। चौड़ी और टार से भरी इतनी चिकनी और एकसार कि चलते समय हाथ में पकड़े पानी से लबालब भरे कटोरे की एक बूंद भी न छलके। अनगिनत कारें दिन भर और देर रात तक सड़कों पर भागती रहतीं। पता नहीं ये लोग कहां जाते और कहां से आते। कैसी लालसा और लोलुपता भरी यह दौड़

थी जो रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। जन समुद्र अपने भीतर अपूर्व ध्वनियाँ समाए रहता। जैसे शोरों का आर्केस्ट्रा हो। जीवन के अथक भागदौड़ की कानफाड़ सिम्फनी उसमें गुंथी हो। किसी छुट्टी के दिन टैरेस पर बैठकर राहुल ने इस आर्केस्ट्रा को समझने की कोशिश की थी पर उसके पास इन गुंथियों को उकेलने के लिए पास में न गुंजन मौसी थीं और न चींची की स्फूर्तिवान दौड़ें। बुआ बस इतनी सजग थीं कि उसके भाई का लड़का दुबला-पतला न हो जाए। इसलिए वे उसके खाने में गिजां और वैराइटी बढ़ाने के फेर में रहतीं। राहुल को बहुत तेज दर्द होने लगा और उसने शोर की इस प्रमेय से हाथ खींच लिया।

सेक्टरों, स्ट्रीटों, ब्लाकों और फ्लैट नम्बरों से अंटे उस शहर में, जहां मनुष्यों की पहचान सिर्फ इनसे होती थी, पढ़ाई करते राहुल ने स्फूर्तिहीन उदासी से भरे चार साल बिता दिये। पर किसी दिन वह उत्ताप में नहीं जिया जब उसने पूरे दिन की खुशी अपनी जेबों में भर ली हो। जब एक मजेदार लम्हे के स्मरण से पूरा हफ्ता गुजार दिया हो। एक तो पढ़ाई ही इतनी बेढब और मेहनत वाली कि उसे कुछ सोचने और देखने का मौका ही नहीं मिलता था। फिर उस माहौल ने उसे जकड़ लिया था जहां व्यवहारिकता ही सब कुछ थी। दो क्षण अपने लिए जीने का अवकाश नहीं था। अपार्टमेण्ट में बुआ का व्यवहार एकदम मशीनी था जिसमें ममता और दुलार की छौंक बिल्कुल नहीं होती थी। जब भी राहुल उनके और फूफा जी के साथ नाश्ते पर डायनिंग टेबल पर बैठता बुआ जैसे उलाहना सा देतीं राहुल को टोकती रहतीं थी- कोई संकोच न करना राहुल बेटे। तुम मेरे प्यारे ब्रदर के सन हो। ब्रेड में खूब मक्खन लगाकर खाना।

इन यांत्रिक तरीके से बोले गए वचनों का राहुल कोई जवाब नहीं देता और चुपचाप खाता रहता। वे हंसती-बहुत संकोची लड़का है। बेटे एक्सट्रोवर्ट बनो। दुनियादार। बाहर के कायदे न सीखोगे तो जिंदगी में सक्सेस नहीं मिलेगी। यहां सक्सेस ही सब कुछ है। वही आज का हीरो है।

राहुल जब कभी अपनी मम्मी संजना के पास एकाध दिन के लिए लौटता और बुआ की इन उबाऊ बातों को बताता तो वे उल्टे बुआ की ही तारीफ करतीं थीं - उन्हें तुम्हारी कितनी फिकर है राहुल। वे तुम्हें एक सफल इंसान के रूप में तकसीम करना चाहतीं हैं। व्हाट अ वण्डरफुल विश!

राहुल कहना चाहता- मम्मी! उनकी बात-व्यवहार में उष्मा और ममता नहीं होती। वे एकदम सपाट हैं। यह सपाटता ही सफलता है?

पर वह कह नहीं पाता। उन्हीं दिनों उसे एक दिन फोन पर मम्मी ने बताया कि गुंजन ने दूसरा विवाह कर लिया है। हसबेन्ड पशुपालन विभाग में हेडक्लर्क हैं और एक स्कूल में शिक्षिका की नौकरी गुंजन को मिल गई है। हम सब उसके इस ब्याह से बहुत खुश हैं।

सुनकर राहुल को बहुत अच्छा लगा था कि मौसी ने अपने लिए खुशियां ढूँढ़ लीं हैं। वे सम्बन्धों को जीना चाहती हैं। अपने अंधेरे जीवन में उन्होंने रोशनी भर ली है। राहुल

के उन दिनों सेमिस्टर चल रहे थे इसीलिए शायद राहुल को संजना ने गुंजन के ब्याह की सूचना देना मुनासिब नहीं समझा था। उसकी पढ़ाई में हर्ज होता। राहुल उस मंगल क्षण की खुशी को मौसी के चेहरे पर चमकता हुआ देखना चाहता था। वह उनके साहस को सराहना चाहता था। उनका यह कारा से मुक्ति का साहस था। फिर कई बार उसने चाहा कि लौट कर एक बार गुंजन मौसी की गोदी में सिर रख कर लेट जाए और वे अपनी ममता भरी गदेली से हल्की थाप उसके सिर पर देती रहें। उनकी खुशी का जज्बा वह महसूस करना चाहता था। पर ऐसा एक बार भी नहीं हो सका।

इस शहर के लोगों में खुशी कहां बसी है। राहुल दूढ़ने की कोशिश करता पर नहीं दूढ़ पाता था। क्या स्टेटस से खुशी मिलती है? एक से एक स्टेटस वाले यहां इस शहर में रहते थे। अकूत पैसे और पूंजी की वैतरणी यहां बहती थी। सुख-सुविधाओं की जैसे कोई कमी नहीं थी। अभाव शब्द उसके शब्दकोशों से गायब हो गया था। फिर भी न जाने क्यों नर्सिंग होम्स और हॉस्पिटल्स में वे सम्पन्न और ऊंचे लोग इतनी विकट भीड़ लगाए रहते हैं। इन स्टेटस वालों का एक अपना प्राईवेट डाक्टर क्यों है? ब्यूटीपार्लर्स शहर के हर कॉर्नर पर इतनी इफरात में खुल गए हैं कि उनकी गिनती करना मुश्किल है। एकदम स्मार्ट और अपनी वास्तविक उमर से कम दिखने की मैराथन चलती रहती है। ब्यूटीशियन्स के भाव आसमान छूते हैं पर उनकी जबरदस्त मांग बनी हुई है। बाजारों में इतनी चकाचौंध भर गई है कि सूरज भी उससे डरने लगा है। कहना चाहिए कि यह चकाचौंध ही सूरज बन गई है। एक तीव्र जगनर उनके रक्तचाप को बढ़ाए दे रहा है। गला काट काम्पटीशन के मारे वे ठीक से सो नहीं पाते। सपनों में ग्रोथ के ऊंचे उठते ग्राफ, प्रबंधन की स्किल उन्हें सोने नहीं देती। स्लीपिंग पिल्स उनकी खुराकों में शामिल हैं।

यहां सब कुछ समय से बंधा है। जितनी तेजी से समय भाग रहा है वे भी हांफते हुए उसके पीछे भाग रहे हैं। रात-दिन सड़कों पर महंगी से महंगी कारें दौड़ती रहती हैं। पर काम है कि खत्म ही नहीं होता। बंगलों, अपार्टमेंटों, फ्लेटों, ड्यूपलेक्सों और ट्रिप्लैक्सों में बर्तन वाली महरी का टाइम बंधा है। वह ठीक समय पर आएगी और काम खत्म कर चल देगी। फिर खानसामा आयेगा और कुक कर चला जाएगा। अपने समय पर आया आएगी और बेबी-बाबा को दिन भर के लिए अपनी सुपुर्दगी में ले लेगी। रात को बच्चों को सौंप कर चल देगी। कहीं कोई भावना और सम्बन्ध नहीं बनते। यान्त्रिक या सब कुछ। बेबी-बाबा अपने डैडी की सूरत नहीं देख पाते। सुबह उनके उठने के पहले डैडी काम पर चल देते हैं और रात उनके सोने के बाद लौटते हैं। उनका लाड़ बस इतना उमड़ता है कि सोते हुए बेबी-बाबा के गाल थपथपा देते हैं। उनके स्पेस में बच्चों के लिए जगह नहीं है। ठीक तारीख पर घर लगे हुआओं का पेमेण्ट कर दीजिए अन्यथा दूसरा बंगला तलाशने में काम वालों को कोई परेशानी नहीं होती। आया को माथे पर बाम लगाने को कहिए वह इन्कार देगी। उसे इस काम के पैसे नहीं मिलते। वैसे गोल मारने पर कोई स्पष्टीकरण भी नहीं देती। आपने सफाई मांगी और उसने काम छोड़ा फिर चाहे घर में कोई बीमार ही क्यों न

हो। हर त्यौहार पर बख्शीश भी चाहिए। नहीं तो आपकी कन्जूसी की बिरुदावली पूरी कॉलोनी में गाई जाएगी यह तय है।

एक दिन बड़ी जोर की आंधी आई। साथ में तेज बारिश भी। बारिश खत्म होने पर वह नमी और गीलापन कहीं नहीं दिखा जो देर तक वातावरण में छाया रहता है। राहुल ने देखा कि तेज हवा में पेड़ कैसे दुहरे हो जाते थे और बरखा की तेज लड़ी तिरछी होकर बरछियों सी धरती में धसती दिखती थी। पर यहां इस शहर में मल्टीप्लेक्स थे दस-पन्द्रह... पचास मंजिलों वाले। इस तेज हवा में वे निस्संग खड़े रहते किंचित कांपते भी नहीं थे। सड़क के दोनों ओर पेड़ों का अता पता ही गुम होता था। हवाएं मजबूरी में विलाप करती हुईं सी सरसरा के दीवारों, खम्भों के पार निकल जाती थीं। क्या बिगाड़ सकती थीं हवाएं उस मजबूती का। यहां कुछ नहीं डोलता-हिलता। प्रकृति का इतना घोर अपमान। तेज बारिश भी सड़कों पर आवागमन बाधित नहीं कर पाती थी। कुछ देर के लिए पैदल चलने वाले थम जाते थे। वनस्पति के नाम पर बंगलों के टेरेसों पर कायदे से गमलों में उगाए गए कैक्टस दिखते थे। सम्बन्धों को बेधते से इतनी वैरायटी उनकी कि गिनते और देखते आंखें थक जाती थी। किसके पास कितनी और दुर्लभ वैरायटी। यही बन जाता स्टेटस सिबल। इसको हासिल करने के लिए मनुहारें, प्रयास और पैसे खर्च करने की स्पर्ट्राएं चलती ही रहतीं। तेज आधियाँ कैक्टसों का कुछ नहीं बिगाड़ पातीं। वे निर्लिप्त भाव में अपने पैरों पर डोलते भी नहीं। वे संवेदनाहीन मूर्ख कैक्टस। राहुल को शहर में आई आंधी ने निराश ही किया।

एक दिन जब राहुल दुपहर में पीरियड्स ऑफ होने के कारण अपार्टमेंट में लौटा तो फूफा जी तो रोज की तरह अपने काम पर थे। अलबत्ता बुआ घर पर मौजूद थीं और डीवीडी पर कोई तेज संगीत लगाए सोफे पर बैठी पांव हिला कर आनंद ले रही थीं। गायक के चीखते स्वर समझ से परे थे और पूरी कर्कशता के साथ जॉज बज रहा था।

बिना अपनी सुधि दिए राहुल पहली मंजिल के अपने कमरे में चला गया। वह प्रायः टेरेस पर बैठ कर अपना खाली समय गुजारता था जब हवाओं में एक विकटता होती थी। सड़क पर ट्रैफिक अपनी पूरी निर्ममता में बह रहा होता अबाध और निस्पृह गति से। गाड़ियों के इंजन में हालांकि कोई शोर नहीं उठता था पर आसपास किसी अव्यक्त शोर की उपस्थिति बनी रहती थी जो देर रात को ही थोड़ी कम होती थी।

सहसा ब्रेक लगने की भोंड़ी सी आवाज सुनाई दी और फिर घिसटने की। राहुल ने तेजी से टेरेस के पार झांका। एक नई नवेली फॉक्सवैगन कार ने अपने से आगे जाते एक मोटर साईकिल वाले को पीछे से एक तेज टक्कर मार दी थी और उसका सवार अपनी बाइक सहित लगभग सौ फीट तक उस कार में उलझा घिसटता हुआ चला गया था। आगे कार जैसे ही बाईक से मुक्त हुई फरटि के साथ आगे बढ़ गई। उस कार वाले ने देखने की कोशिश भी नहीं कि क्या हुआ है। सड़क पर बाईक वाले सवार का शरीर कुछ देर तक दर्द से तड़पता रहा और अब धीरे-धीरे शांत होने लगा था। सड़क पर मांस और खून बिखरा पड़ा था। दौड़ती कारें हल्के से थमती और आगे बढ़ जातीं। ओंटों वाले बच कर निकल

जाते। उस घायल सवार के लिए कोई नहीं रुका और न उसे हॉस्पिटल पहुंचाने की जोखिम किसी ने उठाई। पैसा...पैसा...पैसा! जैसे किसी को रुकने की फुरसत नहीं थी। अपनी रफ्तार में कोई क्यों जोखिम उठाए।

राहुल तेजी से नीचे उतरा और उसने बुआ को सूचना दी-एक बाईक वाला एक्सीडेंट की चपेट में आ गया है बुआ।

बुआ ने संगीत धीमा नहीं किया। बोलीं-रोज के रूटीन हैं ये तो। होता रहता है। उस हरामी ने अपनी लेन छोड़ दी होगी। आगे निकलना चाहता होगा।

राहुल अपार्टमेंट से बाहर आया। लाश का खून निचाट धूप में उस चिकनी सड़क पर दूर तक चिलक रहा था। सड़क पहले की तरह गतिमान थी। लाश के पास तक जाने की हिम्मत राहुल की नहीं हो रही थी। शायद किसी ने पीसीआर में फोन कर दिया था। कुछ ही देर बाद पुलिस का सायरन गूंजने लगा था। पुलिस तफ्तीश में लग गई थी। फिर लाश को पोस्टमार्टम के लिए हॉस्पिटल खाना कर दिया था।

राहुल जब वापस लौटा, बुआ उसी तरह मगन बैठी उस भौंडें संगीत में खुद को डुबोए हुए थीं। उन्होंने कोई जिज्ञासा लौटते राहुल से नहीं की थी। सीढ़ियां चढ़ते राहुल के दिमाग में दौड़ रहा था कितना सर्द हो गया है इस शहर का मिजाज। यहां अपने घर में तेज और गमक भरा संगीत बज रहा है और उस बाईक सवार के घर में आज शाम गमी का मंजर रहेगा। उसके बच्चे और पत्नी उसके सही सलामत घर लौट आने का इंतजार कर रहे होंगे, हो सकता है बच्चों ने आज उससे चाकलेट की फरमाइश की हो और पत्नी ने साड़ी का फाल लाने की गुजारिश की हो। पर लौटी अप्रत्याशित रूप से उसकी लाश। मृतक की जेब से पुलिस ने उसकी आईडी खोज ली होगी। केस में अज्ञात वाहन की ठोकर से मौत लिख कर क्लोजर रिपोर्ट लगा दी होगी। वह कार वाला जिसने टक्कर मारी थी आज रात एक पैग माल्टेड व्हिस्की और गटक कर अपना तनाव दूर कर लेगा।

राहुल उस शाम उद्विग्न और बेचैन रहा और रात को उसे ठीक से नींद नहीं आई। इस संवेदनहीन समय में उसको कैसे चैन मिल सकता था।

अभी कुछ दिन पहले ही शायद किसी छुट्टी के दिन फूफा जी सामने के सात मंजिली त्रिमूर्ति अपार्टमेंट के ग्राउण्ड फ्लोर के फ्लेट-7 में दुपहर के वक्त गये थे। अमूमन वे कहीं आते-जाते नहीं। उनके पास वक्त ही नहीं है किसी बात के लिए चाहे शोक हो या उत्सव। किसी भी तरह के मनोरंजन से वे अछूते हैं। हर स्तर का साहित्य उनसे कटा हुआ है। हर खबर बेमानी है उनके लिए सिवाय बिजनेस ट्रीटमेंट के। फिट बने रहने के लिए दवाइयां गटकते हैं। बीपी अक्सर हाई रहता है। सोने के लिए भी गोलियां लेते हैं-दो-तीन एक साथ बस एक अंतहीन दौड़ में वे लगे रहते हैं। दौड़ शायद कभी खत्म नहीं होगी वे खत्म हो जाएंगे।

उन्होंने झक कुरता-पाजामा पहिना हुआ था उस दिन और पांवों में सफेद चप्पल। उसके पहले अपनी पूरी देह पर डिओडोरेंट को स्प्रे किया था। फिर चप्पल पहने ही दोनो

पांवों पर इन्फैक्शन से बचने के लिए हिट स्प्रे किया था। थोड़ी दूर चलने, लगभग आठ सौ फीट दूरी के लिए भी अपनी फैक्टरी की दी हुई मंहगी कार का इस्तेमाल उन्होंने किया था। वे दूसरों की नजरों में गिरना नहीं चाहते थे। वे राहुल को भी साथ ले गए थे। शायद उसे व्यवहारिकता का पाठ पढ़ाना चाह रहे थे।

उस फ्लेट में कोई गमी हो गई थी। उस कन्डोलेन्स में फूफा जी आए थे। ऐसे मौकों पर जाने का रिवाज था। इस वजह से जाना उनकी मजबूरी थी। उनकी ही तरह पन्द्रह बीस लोग वहां मौजूद थे झक सफेद कपड़ों में। एक कमरे में नीचे गद्दे बिछे थे उन पर झक सफेद चादर बिछी थी और सब लोग उसी पर बैठे थे। एक बड़ी और घनी ऊब भी वहां बिछी हुई थी। सामने एक टेबल पर मृतक की माला पड़ी बड़ी फोटो रखी थी। एक थाल में गुलाब की पंखुड़ियां रखी हुई थीं फोटो पर अर्पित करने के लिए। कमरे में अगर और अगरबत्ती की गंध भरी हुई थी। एक ओर सफेद पारिधान में लिपटी कुछ महिलाएं घर की महिलाओं के बीच विराजमान थीं। उस गमगीन माहौल में एक आगंतुक जिनकी आठ अंगुलियों में पन्ना, पुखराज, गोमद जड़ी अंगूठियां शोभायमान थी ग्रहों की शांति के लिए, सिगरेट की तलब लगने पर बाहर की ओर खिसक लिए थे। बैठे हुआ मैं दो-तीन के समूह बने हुए थे। वे अपनी दैनन्दिन गतिविधियों, अपने प्रमोशनों, प्रमोटर्स, अपने बॉसों के बारे में चर्चिया रहे थे। गम का कहीं नामोनिशां नहीं था।

वे जो मृतक थे वे फोटो में काफी बुजुर्ग दिख रहे थे। फोटो के हिसाब से वे काफी सुखी और सम्पन्न जीवन बिताने के परिचायक लग रहे थे। फोटो के चेहरे पर कोई तनाव नहीं दिख रहा था। हो सकता है मरने के बाद उनकी फोटो खींची गई हो जब वे प्रशांत हो गए हों।

तभी एक कांईया से दिखते महानुभाव ने यह जानकारी देना अपना परम कर्तव्य समझा-जगन हफ्ता भर पहलें ही तो लेट श्री... का शव ओल्ड मेन हाउस से लेकर आए हैं। यह बताते हुए उनके चेहरे एक आश्चस्ति पसर गई थी।

फिर जगन फोटो की बगल में खड़े हो गए और मृतक के बारे में बताने लगे जो सौभाग्य से उनके पिता थे। उन्होंने पहले मृतक की कुछ खूबियां गिनाई, फिर परिवार के प्रति उनके लगाव और जिम्मेदारियों के बाबत बताया। खुद से उनके बेहद प्रेम का खुलासा किया और बताया कि उनकी पत्नी को वे बहू न कह कर बेटी मानते थे। अपनी स्टेटस के बारे में बताया कि यह उनकी इच्छा और लगन का परिणाम है जो वे हासिल कर सके।

पर राहुल उनके चेहरे पर अफसोस का एक अल्प विराम भी नहीं खोज पाया। जगन के गुणगान के बाद मृतक की फोटू पर आगंतुकों का फूलों से हमला हुआ। आने वाली महिलाएं भी पीछे नहीं रहीं। फिर स्वल्पाहार के लिए मनुहार हुई। दूसरे बड़े कमरे में व्यवस्था थी। जगन ने ड्रिंक की भी व्यवस्था कर रखी थी। गम के इस अवसर पर किसी ने हालांकि नोश नहीं फरमाया। यह सौजन्यता बरती गई। गनीमत रही। क्योंकि सम्बन्धों की उष्मा का कहीं पता नहीं लग रहा था। जो व्यक्ति अपने दुर्भाग्य से ओल्ड मेन हाउस

में मरा हो जगन के लिए सौभाग्य बन गया था। यह बात गर्व से कही गई थी।

यह स्वल्पाहार न होकर दीर्घाहार था। आगतुंकों ने अपने बीपियों, सुगरों, अपचों को परे कर छक कर आहार ग्रहण किया और अपानवायुवों का संहार करते हुए वापस लौटने लगे। दरवाजे पर मिस्टर और मिसेज जगन फिर पधारें के उद्घोष के साथ उनको विदा करने में लगे थे। जैसे यह बार बार आने वाला उत्सव हो।

रास्ते में फूफाजी ने राहुल को सीख दी-यह कहलाती है सामाजिकता-सोशल कान्टैक्ट। इसका परिहार नहीं करना चाहिए। इसी की बदौलत समाज में हमारे दूसरों से रिलेशन बनते हैं।

बुआ ने लौट कर स्वल्पाहार की कैफियत फूफाजी से ली और बोलीं- नारंग के यहां से हल्का इंतजाम था। नारंग के बड़े भाई का कुछ समय पहले देहांत हो गया था।

उस रात न जाने क्यों राहुल को अपनी गुंजन मौसी, चींची और मम्मी की बहुत याद आई।

कुछ दिनों बाद एक और हादसा सामने के प्रियदर्शन काम्प्लैक्स में हुआ। वह लड़की रीता, हां शायद यही नाम था उसका, बुआ से किसी काम से मिलने आई थी। गोरी और फेअर हाइट की रीता आकर्षक थी और उसकी आंखों में ऐसा कुछ था जो सहज की बांध लेता था। बुआ के पास वह काफी देर बैठी थी और जब राहुल नीचे आया तो उसे देखकर वह सहज ही उससे दोस्ती करने को उत्सुक हो गई। सबसे पहले तो उसने बुआ से उसका परिचय पूछा फिर राहुल के सामने हाथ कह कर अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। बुआ सामने थीं, न भी होंती, राहुल ने अपना हाथ आगे नहीं बढ़ाया। राहुल बाद में सोचने लगा उसने उससे हाथ न मिलाकर कारपोरेट फारमल्टीज से भरे शहर में कहीं गलती तो नहीं कर दी। वह उसे बैकवर्ड न समझने लग जाए जैसा कि उसके क्लास के इलीट घरानों के लड़के उसे समझते थे।

फिर तीन चार बार और रीता बुआ के पास आई थी। राहुल जान कर भी नीचे नहीं उतरा था। हालांकि उसकी सपनो भरी आंखों ने उसे तलाशा होगा।

इधर कुछ महीनों से रीता अपने फ्लैट के टैरेस में आकर अजीब हरकतें करने लगी थी। वह एकदम गंदे और बोसीदा कपड़े पहिने रहती। उसके झुतरे बिखरे रहते। वह हाथ-पैर या सिर जोर-जोर से हिलाती रहती। तरह तरह से मुंह बनाती। शायद मेण्टल डिसऑर्डर का मामला था। इतने सुख और सम्पन्नता के बीच ऐसा क्यों? क्या हो गया उसे। अच्छी खासी भली युवा लड़की थी। जब वह ऐसी हरकतें करती तो कुछ देर बात कोई दो हाथ उसे मजबूती से पीछे खींच लेते थे और टैरेस की ओर खुलने वाला दरवाजा भीतर से मजबूती से बंद हो जाता था। फिर कई दिनों तक वह दरवाजा बंद ही रहता था। राहुल का कमरा उस टैरेस के ठीक सामने पड़ता था। इसलिए अनायास वहां उसकी निगाहें चली जाती थीं।

एक दिन रीता टैरेस पर आई थी। अपनी भोंडी हरकतों के साथ-साथ वह चीख-

चीख कर गा भी रही थी। उसके गाने की आवाज चिकनी कोलतार की सड़क पर गिर रही थी। कुछ खाली ऑटो वाले रुक गए थे और टी-स्टालों पर खड़े लोग उसका गाना सुन कर टैरेस के नीचे जमा हो गए थे। अचानक दो हाथों ने झपट कर रीता को भीतर खींच लिया था और भीड़ का लुत्फ खत्म हो गया था। इसके बाद टैरेस का दरवाजा कई हफ्तों तक बंद रहा था।

फिर एक दिन रीता उस टैरेस से नीचे गिर कर मर गई। राहुल ने जब बुआ को यह हादसा बताया जिसका पता उनको उस समय तक नहीं लगा था तो उन्होंने कहा- कोई लव अफेयर होगा। क्या कहें इन बावलियों को। प्रीकासंश लेने चाहिए थे। सैकड़ों की तादाद में नर्सिंग होम्स हैं इस शहर में कहीं भी गिरवा देती। कोई जान भी न पाता। उसके पेरेण्ट्स भी।

बुआ ने इस हादसे पर कहा बात खत्म की थी।

राहुल को पता था कि रीता के डैडी के पास तीन चार महंगी गाड़ियां थीं, वह काम्प्लैक्स भी उनका ही था और उसके घर में वह सब कुछ मौजूद था जो सहज सम्पन्नता का प्रतीक होता है। फिर रीता पागल कैसे हो गई। यह प्रश्न राहुल को कुरेदता था।

बुआ जिनको अपनी किटी पार्टियों, पपलू और फालतू सामान खरीदने से ही फुरसत नहीं मिलती थी कि आसपास की किसी वारदात को जानने की कोशिश करें। दिन में दो बार तो बुआ अपने हाथों के नाखूनों का रंग बदलती थीं और लिपिस्टिक तथा नेल पालिश के रंगों के लिए शॉपिंग मॉल छान मारती थी।

गणेश चतुर्थी आने वाली थी।

गणेश जी की लगभग 14 फीट ऊंची मूर्ति बनाने का काम जयपुर से आए एक कलाकार को चार-पांच अपार्टमेंट्स वालों ने मिलकर दिया था। उसे उस काम्प्लैक्स का सुरक्षा गार्ड बलवीर ढूंढ़ कर लाया था। स्वीपर कमलाकांत बता रहा था कि वह कलाकार बलबीर का दूर का रिश्तेदार था। मूर्ति बनाने का ठेका तीस हजार में तय हुआ था। वह कलाकार पन्द्रह-बीस दिन से काम्प्लैक्स के कम्पाउण्ड में ही मूर्ति बना रहा था। उसके साथ उसका परिवार भी था जो फिलहाल अस्थाई तौर पर कहीं उसके साथ ही रह रहा था।

चतुर्थी के तीन दिन पहले मूर्ति बनकर तैयार हो गई थी। शाम को घूमने निकले लोग लौटने में गणेश की उस मूर्ति को प्रणाम करना नहीं भूलते थे। अभी प्रतिमा की रंग और सज्जा होनी बाकी थी।

परिसर में एक विशाल पण्डाल खड़ा हो गया था और गणेश जी की प्रतिमा अपनी पूरी भव्यता के साथ एक ऊंचे मंच पर स्थापित कर दी गई थी। एक पुजारी पं. श्यामलाल वहां उजरत पर तैनात हो गये थे। जवाकुसुम फूलों की एक भारी-भरकम माला रोज परिसर के टीनएजर्स प्रतिमा को पहिना देते थे। क्योंकि पुजारी के हाथ प्रतिमा के गले तक नहीं पहुंचते थे। रोज आठ बजे सबेरे और रात गणेश की प्रतिमा की आरती होती और परिसर के अपार्टमेंट्स के लगभग सारे परिवार वहां उपस्थित हो जाते थे और एक दूसरे

से दुआ-सलाम कर लेते थे। एक ही काम्पलैक्स में रहते लोग महीनों एक दूसरे को देख ही नहीं पाते थे। सबके अपने-अपने लॉन, अपने-अपने टैरेस और लान से जितना दिखता उतना अपना आसमान था। उतनी ही हवा जितनी वहां उनके कमरों में कैद थी। बस यही दुनिया थी उनकी जो भीड़ में भी अजनबीयत बोती रहती थी। सबके बाहर जाने और लौटने के अपने-अपने समय थे। न जानने की अरुचि और समय की कमी की उबकाई उनके चेहरों पर साफ लिखी होती थी। वहां लेडीज अपनी फूहड़ सम्पन्नता और कृत्रिम अहंकार के साथ मिलतीं थीं। अपने पतियों के ऊंचे पदों की हेकड़ी उनके चेहरों पर बजबजाती रहती थी। लेडीज के बीच अघोषित प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी और इसकी पृष्ठभूमि घरों में काम करने वाली बाईयां, खानसामा रचते थे।

दूसरे परिसरों से स्पर्द्धा के फलस्वरूप जो गणेश प्रतिमा इस परिसर की पहली साल महज तीन फुट की थी उसका आकार बढ़ते-बढ़ते 14 फीट के ऊपर पहुंच गया था। भांगड़ा और डिस्को भी अब आयोजन में जुड़ गए थे। बात तो यहां तक चली थी कि किसी नामचीन भजन गायक को बुलाया जाएगा। पर ऐन वक्त तारीखें न मिल पाने के कारण यह कार्यक्रम स्थगित हो गया था।

बुआ हमेशा राहुल को टोकती रहतीं थी कि इस लड़के को इन तामझामों में कोई इन्टरेस्ट नहीं है। यह कम्पलीमेण्ट नहीं तिरस्कार के बोल थे। उनका मत था कि इस उम्र में उसे धमाचौकड़ी मचानी चाहिए थी। उस रात जब राहुल टैरेस पर खड़ा था पण्डाल में डिस्कों पर जवान लड़के-लड़कियां थिरक रहे थे। सभी ओर कृत्रिमता और बनावट पसरी हुई थी। पवन वहां प्लास्टिक के गमलों में लगे जापानी कृत्रिम पेड़-पौधों को लहरा रहा था जो पण्डाल के चारों ओर रखे हुए थे और हरेपन के भ्रम का अहसास दे रहे थे। तभी एक मॉड लड़का शंकी जो इसी परिसर का था वह नाचते युवओं के बीच घुसा और उसने घनश्याम खुराना की बेटी डिंपल के माथे पर पिस्तौल से गोली मार दी। भगदड़ में थुलथुल मॉड लेडीज नीचे गिर पड़ी थीं। उनको फलांगते या उन पर पांव धरते भद्रजन, जवान लड़के-लड़कियां यहां-वहां भाग रहे थे। कुछ ही देर में पण्डाल भद्रजन विहीन हो गया था। केवल डिंपल की लाश वहां पड़ी हुई थी। वह मॉड लड़का शंकी जो एक बहुत ही भड़कीली शर्ट पहने हुए था वहां से अपने हथियार सहित फरार हो गया था।

किसी ने पुलिस स्टेशन फोन कर दिया था। कुछ ही देर में पुलिस इंस्पेक्टर चार सिपाहियों के साथ वहां मौके पर पहुंच गया था। उस जगमगाते परिसर में अब सन्नाटा पसरा हुआ था।

राहुल यह दृश्य देखकर हिल गया था।

दरअसल घनश्याम खुराना और उस मॉड लड़के शंकी के बाप सुंदर निहलानी दोनों परफ्यूम्स और डिआडोरेण्ट बनाने का बिजनेस करते थे। एक ही परिसर में बने अपार्टमेण्ट में रहने के बावजूद उनके बीच कोई बोलचाल नहीं थी और दोनों ही भयंकर प्रतिद्वन्दिता के कील-कांटों में कसे हुए थे। इस तरह के आयोजनों में वे एक दूसरे से बढ़ कर चंदा देते

थे। यह प्रतिद्वन्दिता उनके परिवार में भी घर कर गई थी। शंकी को न जाने क्यों डिंपल भा गई थी। पर डिंपल शंकी को देखना भी नहीं चाहती थी। एक दिन कुछ लड़कों के साथ परिसर से बाहर निकली डिंपल का हाथ शंकी ने पकड़ कर केवल फन के लिए उसे प्रपोज कर दिया था। इस पर डिंपल ने एक झन्नाटेदार तमाचा शंकी के गाल पर जड़ दिया था। शंकी इस अपमान को सह नहीं पाया और उसी गुस्से का परिणाम था यह आज डिंपल का कत्ल।

कई दिन तक राहुल इस घटना को लेकर बहुत उद्विग्न रहा।

घटना के दूसरे दिन कोई भी गवाही की चादर नहीं ओढ़ना चाहता था। उस प्रत्यक्षदर्शन को वे वहां न होने के बहाने से ढंकने की कोशिशों में लगे थे। एक झूठ लाल जीभ लपलपाता वहां परिसर के मैदान में घूम रहा था। क्योंकि मौका-ए-वारदात पर किसी ने होने की हामी नहीं भरी थी। पुलिस की तफतीश उन सम्पन्न कार्यों के कारण आगे नहीं बढ़ पा रही थी। जबकि उनमें से अधिकांश ने भगवान के मंदिरों में भारी काली राशि अर्पित की थी। इसके बावजूद कि इतनी भारी रिश्वत देने के कारण तमाम भगवान पूरी तरह उनके सपोर्ट में थे।

राहुल कुदरत को याद कर रहा था। जब वट सावित्री की पूजा के दिन उस मॉडर्न नारियों ने कुदरत को नकार कर जापानी कृत्रिम वट वृक्ष लॉन में स्थापित कर पूजा-अर्चना की थी और मिथ्याभास हो रहा था कि धर्म और संस्कृति को उन्होंने छोड़ा नहीं है भले ही पैसा कमाने की कालिख में वे धुआरी पड़ गई हों। बुआजी ने उस रात फूफा जी के घर लौटने पर सिर पर आंचल दे उनके पांव छू लिए थे। अचकचाए फूफाजी आशीर्वाद तक नहीं दे पाए थे। वे वट-सावित्री के महात्म्य तक को भूल गए थे।

कुछ ही हफ्तों के बाद उस शहर के निशाचर समय में राहुल के कक्षा-साथी जयंत ने संस्थान की छत से कूद कर आत्महत्या कर ली थी। इस दुर्घटना के पहले छत पर बड़े डैनों वाला एक गिद्ध ठीक बीच में लगे ध्वज-दण्ड के पास की रैलिंग पर बैठने लगा था। वह लगातार चार दिन वहां बैठा। फिर जब डायरेक्टर को पता चला तो उसको भगाने के लिए चपरासी भेजा गया।

लड़कों के बीच मजाक उस गिद्ध को लेकर चलने लगा। सिद्धार्थ ने कहा- यह इस कॉलेज के डायरेक्टर का बड़ा भाई है। प्रेमवश यहां चला आता है।

संदीप कोठारी बोला - इस शहर के लोग मुरदा हो चुके हैं। यह वल्चर उनका मांस नोचने आया है।

संदीप मुदलियार ने बताया - यह गिद्ध हमारी सड़ी-गली शिक्षा प्रणाली का अग्रदूत है।

राहुल ने कहा - कुदरत का भेजा यह गिद्ध इस जंगल-शहर को यह चेतावनी देने आया है कि कुदरत की ओर वापस लौटो। अभी भी देर नहीं हुई है। आपाधापी और संकुलता से हट कर जीवन को सहज सादगी में जीने की जरूरत है।

राहुल की इस व्याख्या को क्लासिक की श्रेणी में डाल कर खारिज कर दिया गया।

जयंत अपनी मेरिट के बल पर इस महाविद्यालय में टिका था। वह सुदूर गांव का रहने वाला था और उसके पिता गांव में खेती-किसानी करते थे। जाहिर है उसको पढ़ाने के लिए उसके पिता ने बैंक से कर्जा लिया था। खेती कोई लाभ का धंधा तो सत्ता ने बनने नहीं दिया था और ना ही उसमें कोई काली कमाई होती थी। सम्पत्ति के नाम पर उसके पास खेती की जमीन और मकान भर था। पूरे शहर में सैकड़ों रेस्टोरेण्ट और होटल थे, मैंसें थीं पर जयंत पैसे बचाने के लिए उपलों और पतली-पतली लकड़ियां जलाकर मिट्टी के चूल्हों में अपना खाना खुद पकाता था। छुट्टी में घर जाता तो लौटते में पिसान के अलावा उसके सामान में एक या दो बोरा उपले भी होते थे। वह रोज बड़े सबेरे उठता और दो-तीन किलोमीटर आगे उस तरफ निकल जाता था जिस ओर यह घना और अभिशप्त शहर अभी विरल था। वहां अभी भी पेड़ों की पातें दिख जाती थी। नीम या बबूल के पेड़ से वह दातौन तोड़ लाता था और टूथपेस्टों, लिस्टरीनों के विज्ञापन चक्रव्यूहों को भेद कर उससे दातौन करता था। वह रिफल या जैल वाला नहीं स्याही वाला पेन इस्तेमाल करता था। चिकने लोटे में चूल्हे के अंगारे भर कर वह अपने कपड़ों की सिकुड़नों को समतल कर लेता था। वह कुदरत से जुड़ा था।

वह उस पूंजीग्रस्त रोगी शहर के मंदिरों में सोने के सिंहासनों पर विराजमान जेवरातों से लदे भगवानों का भक्त नहीं था जहां खरीदे गए कूपनों से ब्राण्डेड प्रसाद मिलता था। उसके लोकदेवता हनुमान थे जो कहीं भी किसी पेड़ के नीचे सिंदूर में पुते दिख जाते थे। वे बिगड़ी बनाने वाले देवता थे - हनुमान गुसाईं।

जयंत कक्षा में आचार्यों से सीधे-सरल सवाल पूछ लेता था - जैसे दुनिया भर की कपड़े की मिलों में महंगे कपड़े क्यों बन रहे हैं। जबकि सस्ते मोटे कपड़ों से सदी-गर्मी दोनों का बचाव भलीभांति हो सकता है। इन उद्योगों पर इतना ज्यादा पैसा क्यों लुटाया जा रहा है। हथकरघा उद्योग आदमी को रोजी भी देगा और संतोष भी। राष्ट्रीय स्तर पर एक ही मोटा कपड़ा सब के लिए निर्धारित कर दिया जाए तो असमानता खत्म हो जाएगी, पर्यावरण को कुछ राहत इससे मिल सकती है।

जाहिर है उच्चवर्गीय, उच्च शिक्षित, उच्च विद्वान आचार्यों को उसके ये प्रश्न नागवार गुजरते, वे उस पर हंसते, उसका मजाक बनाने की कोशिश करते थे। जैसे उसने एक दिन आचार्यों से कहा- आप लोग महंगी गाड़ियों में कालेज क्यों आते हो। जबकि साईकिल तकनीक का सबसे सस्ता रूप है। प्रदूषण रहित और इसको चलाने पर रक्तचाप भी ठीक रहता है। तकनीक की पहली शर्त यही है वह ईको फ्रेंडली हो। अंतिम परीक्षा में आचार्यों ने उस पर अपनी भड़ास निकाल ली। उसे सेशनल में इतने कम अंक दिए कि उसकी मेरिट लड़खड़ा गई। समस्या थी कि उसे नौकरी कैसे मिलेगी और उसके पिता बैंक से लिए करजे को कैसे पटाएंगे। कर्जा के एवज में उनके खेत गिरवी रखे हुए थे। उनकी सारी आशाएं जयंत पर टिकी हुई थीं।

संस्थान की छत से कूद कर जयंत ने आत्महत्या कर ली, उसी स्थान से जहां कुछ दिनों पहले गिद्ध बैठता था। क्या वह गिद्ध अमंगल की सूचना से ग्रस्त था। उसके कुदरतीपन का यही अंजाम होना था। उन पेड़ों के चारों ओर हवा बोझिल हो गई थी जिनकी दातोंमें वह तोड़ा करता था। चूल्हा कई दिनों तक उदास रहा था जिस पर वह अपना खाना देशी ढंग से पकाता था।

हफ्तों संस्थान बंद रहा। चैनलों ने बाईटें चलाई, प्रदर्शन हुए। ज्ञापन दिए गए। हल्के-फुल्के आंदोलन हुए। वक्तव्य पढ़े गए। धीमें ज्वार में जलजला सा उस संस्थान के तंग आसमान में उठा। पर आचार्यगण को कोई फर्क नहीं पड़ा। वे अपनी विद्या के अहंकार को छोड़ने को राजी नहीं थे। वे क्लबों में जाने और यू-ट्यूब में पोर्न दूढ़ने से नहीं रुके जब कि यह संस्थान के इतिहास में चौथी आत्महत्या थी।

परिणाम आए, राहुल बहुत अच्छी मैरिट से उत्तीर्ण हो गया। मम्मी और गुंजन मौसी ने बधाई और ढेर सा आशीर्वाद भेजा और यह शाश्वत मंशा भी जाहिर कर दी कि जाँब लगते ही एक सुंदर, सुशील कन्या से उसका ब्याह रचा दिया जाएगा। जैसे दिन उनके नहीं फिरे पर राहुल के भी फिर जाएं।

अब कहानी में आगे राहुल के लिए सम्मान जनक शब्दों का प्रयोग किया जाएगा। क्योंकि वे एक बड़े और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान के कारपोरेट हैड बनने वाले हैं। वे उच्च टैकोक्रेट हैं। उस प्रभामण्डल से मंत्रीबद्ध दर्जनों कारपोरेट घराने उनको जमाई बनाने के लिए लालायित अपनी-अपनी धुरियों पर नाच रहे हैं।

राहुल फिर पेड़ों के बीच लौटना चाहते हैं। उस सरसराती हवा को सूंघना चाहते हैं जो पेड़ों के पत्तों के बीच से गुनगुनाती हुई गुजरती है। वे पक्षियों के कलरव को फिर सुनना चाहते हैं जो मिठास बन कर कानों में घुलता है। वे गलगलियों की अनंत गलगल को फिर एक बार आत्मसात करना चाहते हैं। वे चींचीं गिलहरियों की मुग्धता में घुल जाना चाहते हैं। वे उन शरारती पवनों को आत्मसात करना चाहते हैं जो खेतों की हरियाली को दुलराता और झरबेरियों को झकझोरता बहता रहता है। नहरों और नदियों के पानी के संग-संग बह जाना चाहते हैं उन दूरियों तक जहां धरती और आसमान मिलते हैं। झरनों के निनाद को अपने विषाद में घोल कर उसे संगीत बना देना चाहते हैं। फूलों को अपनी आकांक्षा बनाना चाहते हैं। पहाड़ों को साथी और घाटियों को अपनी गोद बना लेना चाहते हैं। क्योंकि इससे इतर राहुल ने नहीं चाहा था अपना जीवन, अपनी इच्छा, अपनी आकांक्षा और अपना सपना। भीतर कहीं उसके हरी दूब उगी हुई थी।

वे अपनी धरती की ओर लौटना चाहते हैं जहां उनको मेधा मिली, देह को निरोग मिला, स्वस्थ चित्त मिला, रिश्तों का आत्मीय स्पर्श मिला, एक मीठी सी चिंता मिली, दुलार मिला शहद सा मीठा और मधुर और जहां पेड़ों की अनथक ममता मिली।

वे अपनी धरती को बचाना चाहते हैं। शस्य श्यामला धरती को मुक्त करना चाहते हैं सभी प्रदूषणों से, कार्बन से, मीथेन से, ईर्ष्या और स्पर्द्धा की सर्वग्रासी आग से और उस

पूँजी से जिसने जीवन को अनियंत्रित और कभी न खतम होने वाली दौड़ों से भर दिया है।

मम्मी संजना की अनुमति नहीं है। उनमें कैरियरिस्टों के प्रति भक्ति है। उन्होंने जीवन जीने के बहुत ऊँचे मानदण्ड स्थापित कर रखे हैं। वे तनिक भी नीचे नहीं झाँकना चाहतीं। वे नहीं चाहतीं थी कि राहुल इन गंवई और भदेसपन में पुनः लौटें और यहां की उन चीजों को स्पर्श करें जो भावना से भरीं हों, जिनमें जीवन का स्पंदन हो। उन्होंने संवेदनाओं को गीले कपड़े सा निर्वाह दिया और एक शिला अपनी छाती पर रख ली। वे जानती हैं कि राहुल के मस्तक पर कैरियर का मध्यान्ह सूर्य तप रहा है। वे राहुल को फूलों के गुल्मों और धरती की घास में नहीं लौटाना चाहतीं हैं।

तपता सूर्य उनकी चाहत बन चुका था।

राहुल की आखें और मन इस सूर्य की चकाचौंध से थक रहे थे। कंकरीट के जंगल से बना यह शहर जहां विकास का तीखा नश्वर हर ओर तना दिखता था उसे निगल लेने की जुगत में था। इस शहर में कहीं आत्मीय छांव नहीं, कहीं विश्राम नहीं, कहीं मीठे, ठण्डे पानी का पियाऊ नहीं और कहीं कोई अपनेपन का अहसास नहीं। बस मुनाफा रुपया, पूँजी, स्पर्द्धा, शेयर्स, क्रेडिट, एरिया, हैवी मशीन्स, हाई प्रोफाइल यही सब कुछ यहां भरा पड़ा था इफरात में।

राहुल कारपोरेट हैड बन गए। एक बड़े औद्योगिक घराने पवित्रा की बेटी संगीता से राहुल ब्याह दिए गए भारी-भरकम दहेज के साथ। संजना समेट नहीं पा रही थीं इतना दिया था उन लोगों ने। संगीता ने अपने जीवन में न कुदरत में खिले फूल देखे थे और न वह भंवरो को ही पहचानती थी। उसे एक ही शौक था अतरे-चौथे दिन बाजार जाकर ज्वैलरी खरीद लाना। राहुल उसकी इस अमिट प्यास को समझने में असमर्थ थे। वह हर दूसरे दिन ब्यूटी पार्लर चली जाती और तीन-चार घण्टे कम से कम वहां बिताते सजती-संवरती रहती। दिन में तीन बार अपना लिबास बदलती। हर दो महीने में अपार्टमेंट की सज्जा को आमूलचूल बदल देती। नए से नए शोपीस खरीदती रहती। आर्ट गैलरी जाकर अमूर्तन पेण्टिंग्स को बिना वजह खरीद लाती। वैसे भी राहुल आठ बजे कम्पनी जैम की लम्बी एसी कार में आफिस को रवाना हो जाते थे और देर रात दस-ग्यारह के बीच बिल्कुल पस्त से लौटते थे। संगीता से औपचारिक सी बातचीत होती थी।

उनके आफिस में चार्ट टंगे थे। आंकड़ों के चित्र प्रदर्शित हो रहे थे। देश भर में कम्पनी के आफिसों की लिस्ट उनकी टेबल पर रहती थी। पांच-छः रंगबिरंगे टेलीफोन रखे थे। रोज मीटिंगें होती थीं। वे अल्ट्रा स्टार्म अधीनस्थों से घिरे रहते थे। जिनके खिंचे चेहरों पर एक चिकनी मुस्कराहट हर वक्त चिपकी रहती थी। उनके कान यस सर! ओके सर! वेरी गुड सर! एक्सीलेण्ट सर! सुनते रहते थे। उन्होंने किसी क्लर्क के जीर्णशीर्ण और एडवान्स, लीव सैंक्शन्स के लिए धिधियाते चेहरे को कभी नहीं देखा, नहीं देख पाए। वेलडन सर के अलावा कोई उच्चार यहां नहीं होता था। मुख्य चिंता प्रोडक्शन बढ़ाने और बाजार की होती थी। प्रोडक्ट को कितना ग्राह्य बनाया जाए यह लक्ष्य सामने होता था।

नेटवर्क का पकड़ जाल घेरता रहता। उनको आसपास के चेहरे तक अजनबी लगने लगे थे इतने निस्संग हो चुके थे वे आसपास के माहौल से।

एक लम्बा साल गुजर गया। उन्होंने न सूर्यास्त देखा और न सूर्योदय। अमावस्या और पूनम भी नहीं। ऋतुएं बदलती नहीं देखीं, न घरासार वर्षा का आवेग सुना, ग्रीष्म का हाहाकार नहीं जाना और न शरद की कंपकपी महसूस की। वे पक्षियों और उनके कलरव को भूल रहे थे। हवाओं की गुनगुनाहट को भूले जा रहे थे। ऊपर देखते तो नीलवर्णी आसमान नहीं दिखता, रंगीन बादल नहीं दिखते। दिखती तो और ऊंचा उठने की मंशा, प्रतिष्ठा, चकाचौंध रोशनियों से जगमगाता शिखर, उत्कृष्ट बने रहने की आकांक्षा और गुमान का आकाशगंगाओं तक फैला विस्तार। पेड़ दिखें तो फर्नीचर में तब्दील-सोफा, पलंग, आलमारी, गरिमा ओढ़ी कुर्सी और कभी-कभार रिलेक्स होने के लिए डोलती कुर्सी हुए दिखते थे। कम्प्यूटरों में घिरे राहुल उदासी में घिरते जा रहे थे। एक सुदीर्घ उदासी जिससे बाहर आने के चक्रव्यूह बन गए थे।

वे अवसाद में आ गए थे। इतने ज्यादा अवसाद में थे कि प्रतिष्ठान ने उनको तीन माह का एकमुश्त अवकाश केवल घूमने-फिरने और मौजमस्ती के लिए अपने खर्चे से दे दिया था। राहुल का महत्व कम्पनी जानती थी। पर वे कहीं नहीं गए। बस आफिस से घर और घर से आफिस यही थी उनकी परिक्रमा। वे उन गुंजलिकाओं को जानते थे जो फिर से उनके वापस लौटने पर उनको जकड़ लेने वाली थी। वे बीमार पड़ गए और एक पंचसितारा हास्पिटल में उनको भरती करा दिया गया। तमाम परीक्षण हुए और वे निरोग निकले। डाक्टरों को समझ में नहीं आता कि उनको रोग क्या है। अब तो उन्होंने बोलना भी बंद कर दिया है। चेहरा मटमैला पीला पड़ गया है। संगीता परेशान है और उसके घरवाले बेहद तनाव में हैं। वे राहुल को विदेश इलाज के लिए ले जाना चाहते हैं।

राहुल बिना पलकें झपके लेते रहते हैं हॉस्पिटल के वार्ड की अल्ट्रा व्हाइट दीवारों को देखते हुए। मम्मी संजना और डैडी भी देखने आए हैं। देख कर धक से रह गए। कैसा गोरा-चिट्ठा और सलौना था उनका राहुल। अब मटमैला बिल्कुल लाश की तरह निष्पंद पड़ा है। डाक्टरों से उन्होंने पूछा, नर्सों से पूछा पर किसी ने राहुल की बीमारी नहीं बताई। फिर एक दिन गुंजन मौसी भी आ गई अपने एक बेटा और बेटी के साथ। दोनों बड़े हो रहे हैं।

राहुल उनको पहचान नहीं रहा है, उनकी मीठी आवाज राहुल के कानों से बाहर छिटक रही है। गुंजन का दिल फटने लगता है। हाय! क्या हो गया राहुल बेटे को। वह ठगी सी रह जाती है। दीदी संजना और बहनोई से पूछती है पर वे भी जवाब नहीं दे पाते।

दो दिन लगातार वार्ड में गुजारते गुंजन कुछ-कुछ समझ पाती है। राहुल के पलंग के सामने खिड़की है पारदर्शी कांच जड़ी। कांच के पार एक भीमकाय इमारत की संरचना दिखती है। वहां न पक्षी है और न उन पर उनके बैठने का कोई ठौर ही बना है। उनको राहुल के सिरहाने एक डायरी दिख जाती है। बहुत पुरानी डायरी जिसमें राहुल स्कैच बनाया

करता था। कोई वाक्य या शब्द रचना उसे अच्छी लगती उसे नोट कर लेता था। कुछ फिल्मी गीत जो उसे अच्छे लगते उनके मुखड़े भी वह दर्ज कर लेता था।

गुंजन ने डायरी उठा ली। उसमें कुछ गीत लिखे थे और उन गीतों के नीचे राहुल नाम लिखा हुआ था। एक गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—

कांपता रहता है पत्ता
बर्फीली सर्दी में
बसंत में बहार लाने को
फिर क्यों
वही बसंत
मिटा देता उसका अस्तित्व
पतझड़ लाकर

गुंजन उस बड़े शहर के बड़े बाजार में गई। उसे आश्चर्य हुआ कि पेड़ पौधों पर, हरियाली पर, पहाड़ों और झरनों पर, बरसते मेंह पर, फूलों के गुल्मों पर कोई चित्र उपलब्ध नहीं है। फिर एक कम विकसित पर शहर से हिलगे एक स्लम हिस्से में एक पेन्टर की दुकान पर उसे प्रकृति के कुछ कलेण्डर मिल गए। गुंजन उनको खरीद लाई।

दूसरे दिन उन्होंने वार्ड की सपाट सफेद दीवारों पर कीलों से वे चित्र ऐन राहुल की आंखों के सामने टांग दिए। राहुल उनको ठीक से देख भी नहीं पाया था कि डॉक्टर्स और नर्सों ने इस पर बेहद एतराज किया— आप इन्फेक्शंस ला रही हैं। यहां ऐसा कुछ अलाउ नहीं है। पल भर में वह चित्रों में बनी प्रकृति डस्टबिन में पड़ी थी। गुंजन का यह उपक्रम व्यर्थ चला गया।

उसने अब हॉस्पिटल के प्रबंधन से अनुनय की कि राहुल को ग्राउण्ड फ्लोर के वार्ड में शिफ्ट कर दिया जाए। खिड़की से वहां हरा-भरा लॉन दिखता है। पर प्रबंधन तैयार नहीं हुआ। वहां दूसरे रोग के रोगी थे।

गुंजन ने दीदी संजना के कहा — दीदी! कहीं कुछ गलत हो गया है।

संजना ने कोई जवाब नहीं दिया। बस केवल सामने देखती रहीं निचाट सफेद एक दीवार की ओर। गुंजन रोज प्रबंधन से नीचे का कक्ष देने की मांग पर अड़ी है।

नोट - कविता की चंद पंक्तियां मेरे मित्र डा. विद्याप्रकाश उपाध्यक्ष म.प्र. इण्डिया के बेटे ओशो की हैं जिन्हें उसकी अनुमति लेकर उद्धृत किया गया है। इसलिए यह कहानी ओशो को ही समर्पित है।

तरुण भटनागर

जहर बुझे तीर के बाद भी

बस्तर के जंगलों में घटित एक सत्य घटना पर आधारित

पुलिसवाले को अन्दाज़ नहीं था कि शाम इतनी जल्दी आ सकती है। जंगल में अक्सर उसके अनुमान गड़बड़ा जाते थे। जंगल इतने घने थे, कि उनके भीतर बहुत कम रौशनी पहुँच पाती। इतनी कम रौशनी कि जब पुलिसवाला तपस्तीश के लिए जंगल के भीतर जाता वह दोपहर को शाम समझने की भूल कर बैठता। फिर जब शाम घिरती उसे लगता मानो रात आ गई है। यह दीगर बात थी, कि जब वह लौटता तब भी बहुत सारा समय बचा होता। रौशनी कम हो जाती, पर समय बचा रहता। अंधेरा घिर आता, पर समय बचा रहता। लगता रात हो रही है, पर रात होने में अभी समय बचा होता है। वह अपनी घड़ी देखता। सचमुच समय बचा होता। वह जंगल से घिरे आकाश को देखता, वहाँ अंधेरा घिर रहा होता। जंगल ऐसी जगह था, जहाँ पेड़ों में छुपे आकाश और पत्तों के घनेपन को भेदकर आती सूरज की मद्धम रौशनी की बजाय वह घड़ी पर ज्यादा भरोसा करता था। वह एक ऐसी जगह थी, जहाँ सूरज की रौशनी और घड़ी के समय में तालमेल न था। रौशनी घड़ी को और घड़ी रौशनी को बरगलाते रहते। समय और प्रकाश एक दूसरे के साथ छुप्पम-छुपाई का खेल खेलते रहते। वह जंगल के इस खेल से अनभ्यस्त था। वह इस खेल को जंगल का धोखा कहता था। धीरे-धीरे उसे अहसास हुआ कि यह धोखा सिर्फ समय और प्रकाश तक ही नहीं है। कुछ और चीजें भी इसमें शामिल हैं। जैसे दूरियां। जंगल में दूरियां भी बड़ी दगाबाज थीं। बहुत चलकर भी कुछ ही दूर जाया जा सकता था। जंगल इतने दुर्गम थे, कि वहाँ चलना कठिन था। वे इतने तन्हा थे, कि वहाँ दूर-दूर तक किसी इंसान का कोई निशान न दिखता। चलने की कठिनाई और सन्नाटा दोनों मिलकर दूरियों को बढ़ा देते थे। इस तरह वहाँ तय की जाने वाली दूरियां बेहद दुर्गम थी। वह पगडंडियों पर रेडियो सुनता चलता चला जाता। कभी कुछ गुनगुनाता, तो कभी रुककर जंगल के घनेपन को देखता, तो कभी किसी नदी नाले के किनारे रुककर थकान मिटाता।

कभी चिड़ियों की आवाजें सुनता, तो कभी मधुमक्खियों की भिनभिनाहट, तो कभी पत्तों की सरसराहट, तो कभी किसी जंगली जानवर के चलने की आवाजें। वह थोड़ा-थोड़ा आवाजों के भेद समझने लगा था, एक साथ बहुत सी चरचराहटें या धप्प-धप्प की एक के बाद एक कई आवाजें जो कई बार एक तरह की लय में लगतीं और वह समझ जाता कि कोई खतरा नहीं है। वह उस तरफ के जंगल को देखता और न दिखने पर भी उसकी कल्पना में सांबर, चीतल और नीलगाय के दौड़ते झुण्ड तैर जाते। कभी कोई इकहरी आवाज आती, चलने या अक्सर दबे पांव चलने की, वह चौकन्ना हो जाता। उसने एक बार पेड़ पर दबे पांव ऊपर सरकते तेंदुए को देखा था। वह क्षण भर को सन्न उसे देखता रहा था। तेंदुए ने भी गर्दन घुमाकर उसे देखा था। बस एक पल को। वह पत्थर के मानिंद खड़ा रहा। तेंदुआ गुराया और फिर पेड़ पर सरकने लगा। जंगल के सन्नाटे में सबकुछ साफ सुनाई देता। तेंदुये और जंगल के लोगों के चलने की आवाज एक सी होती, धीमी सरकती सी, सकुचाती सी, बिना किसी शोर के...। तभी वे अचानक मिल जाते, कहीं कोई तेंदुआ या कहीं कोई जंगल का प्रस्तर देह वाला बाशिंदा और दोनों ही उसे देखकर उससे दूर चले जाते, जबकि कोई चीतल या नीलगाय उसे देखकर उसे ताकती, खड़ी रहती। जंगल में हर आवाज का एक कायदा था, जो आवाज के साथ-साथ चलता था। जंगल की तनहाई हर आवाज को झाड़-पोंछकर और भी साफ करती रहती थी।

उन दिनों रेडियो नये-नये चले थे। कभी-कभी वह यह अंदाज लगाने के लिए कि वह कितनी दूरी चला है, जोर-जोर से अपने कदम गिनता। इससे मन बहलता और एक उम्मीद भी बनती कि अब ज़्यादा दूर नहीं चलना है। जंगल में दूरियां बहुत बढ़ जाती थीं। उसे लगता जैसे वह मीलों चल आया है। वह भ्रमित होता। पर वह कुछ ही दूर चला होता। वह अक्सर तड़के निकल जाता। कभी अकेला, तो कभी अपने मातहत कांस्टेबल के साथ। उसे अन्दाज था कि वह सात मिनट में एक किलोमीटर चल लेता है, पर जंगल के कठिन और असम्भव रास्तों पर उसका गणित गड़बड़ा जाता। वीरान और घने दरख्तों के बीच गोल चक्करदार घूमती, टीलों, पहाड़ों, चट्टानों, नदी-नालों... को पार करती पगडण्डियों पर वह चलता चला जाता। उसे लगता कि वह बहुत जल्द ही मुकाम पर पहुंच जायेगा। पर वह चलता जाता। वह अक्सर बहुत लेट पहुंचता। कभी-कभी पूरे दिन, कभी पूरी रात लेट। कभी-कभी दो-दो रात लेट। कमतर रौशनी समय को बचाती थी और दुर्गमता में चलते-चलते वही समय खत्म होता जाता था।

उन दिनों बस्तर की पुलिस चौकियों को एक-एक मोटर साइकिल दी गई थी। वे पुलिस चौकियां पहली-पहली पुलिस चौकियां थीं, जिन्हें मोटर साइकिलें दी गई थीं। तब मोटर साइकिलें एक बिल्कुल नई चीज थीं। जंगल ही क्या, यहां तक कि शहरों में भी अगर कहीं से दिख जातों तो लोग उसे देखने, उसे छूने मजमा लगा लेते। बस्तर विशिष्ट था। उसकी पुलिस चौकियां भी विशिष्ट जानी गई। इस तरह वे पहली पुलिस चौकियां बनी थीं जिन्हें बेहद कीमती और एकदम अनोखी चीज, याने मोटर साइकिलें मिल पाईं।

पर यह तय था कि जंगल में वे नहीं चल सकतीं। पगडण्डियों पर वे असम्भव थीं। पेड़ों-झाड़ियों के बीच उनके लिए रास्ते की कोई गुंजाइश न थी।

फिर एक और खतरा यह था कि अगर किसी जंगली गांव में पहुंच जायें तो इस अजूबे को देखकर गांव के लोग भाग खड़े हों। मोटर साइकिल उनकी कल्पना के बाहर की चीज थी। यहां तक कि इस तरह कि कोई मशीन उनके सपनों में भी नहीं आई थी, जिस पर बैठकर इंसान फट-फटाता हुआ तेजी से, बहुत तेजी से, बहुत-बहुत तेजी से, इतनी तेजी से कि जिसकी कल्पना भी न की हो, हवा से बात करता सरटि से गुजरता जाये। तपतीश पर जाने के लिए मोटर साइकिलें निरर्थक थीं। मोटरसाइकिलों के बारे में एक बार एक अजीब वाकया हुआ था। यह वाकया उसे किसी ने बताया था। बताया था कि एक बार एक पुलिसवाले को जंगल के बहुत भीतर एक जगह मोटर साइकिल खड़ा करके गांव तक पैदल जाना पड़ा था। जब वह लौटा तो उसने पाया कि उसकी मोटर साइकिल क्षत विक्षत पड़ी है। उसके सारे अस्थिपंजर अलग-अलग गिरे पड़े हैं। उसे शीघ्र ही समझ आ गया कि जंगल के कुछ लोगों ने तीरों से मोटर साइकिल पर हमला कर दिया था। ज़हर बुझे तीर। उसकी सीट के चिथड़े उड़ गये थे और पहियों के स्पोक टूट गये थे। जब तीरों के लगातार हमले से मोटर साइकिल गिर गई तब जंगल के लोगों ने कुल्हाड़ी से उपर हमला बोल दिया। उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उसके कुछ टुकड़े वे अपने साथ ले गये। जंगल के लोग अचरज में थे। उन्होंने ऐसा कोई जंगली जानवर तब तक नहीं देखा था, जिसके शरीर से रक्त और मांस न निकले। जो हमला होने पर गुर्राये या चिल्लाये नहीं। हमले से डरकर भागे नहीं। मोटर साइकिल एक ऐसा जीव था, जिसने खड़े-खड़े उसके सारे वार सहे।

थाने के लोग अक्सर यह किस्सा सुनाते थे।

इस तरह जंगल की फितरत में मोटर साइकिल एक असम्भव चीज़ थी। पुलिस वाला यह जानता था।

उसे जंगलों में होने वाली तपतीश भी निरर्थक लगती। वैसे तो जंगल में बहुत कम अपराध होते। होते भी तो अपराधी को पकड़ना बिल्कुल आसान होता। जैसे एक दिन किसी की गाय चोरी हो गई। कुछ दिनों बाद चोर खुद उसे वापस लाकर उसके मालिक को दे गया। उसे दूध की जरूरत थी। जरूरत पूरी हुई और वह वापस करने चला आया। पुलिसवाला पशोपेश में रहता। यह जंगल में किसी बड़े अपराध की तलाश में रहता। पर बस्तर के जंगल थे, कि वहां कोई बड़ा अपराध होता ही नहीं था। अक्सर किसी अपराध की विवेचना करते-करते वह फंस जाता। किताबें पलटता। कभी बड़े शहर जाने पर सरकारी वकील की सलाह लेता। पर सबकुछ कर लेने के बाद भी वह कायमी नहीं कर पाता। पिछले एक साल से उसके इलाके में अपराध की एक भी कायमी नहीं हो पाई। उसके बड़े अफसर उस पर नाराज़ होते। कहते वह काम नहीं करता है। अगर ठीक से देखा जाये तो जंगल में भी अपराध होते दिखेंगे। जंगल कोई दुनिया से अलग थोड़े ही है, कि वहां चोरी न हो, हत्या न हो, बलात्कार न हो...। ठीक है, कि उसने गाय वापस कर

दी। पर आखिर चोरी भी तो की न। अपराध तो अपराध है। भले कोई भलमनसाहत में, अज्ञानता में या भोलेपन में कर जाये तो भी, वह अपराध ही है। कानून के मुताबिक तो अपराध है ही। वह कहता कि वहां भी यह सब होता है, पर मुद्दा यह है कि इसे अपराध माना भी जाये या नहीं। अपराध होने के लिए अपराध की प्रवृत्ति होना जरूरी है। बिना इरादे के किया गया अपराध, अपराध तो नहीं। यद्यपि कानून में गैर इरादतन अपराध जैसी चीज भी है। पर उसे लगता कि जंगल की फितरत में जब इरादतन का अस्तित्व ही नहीं है, तब गैर इरादतन कैसे हो? गैर इरादतन के लिए, पहले इरादतन का शब्द जंगल में आना चाहिए। अगर इरादतन की चेतना होगी तभी इसके विलोम याने गैर इरादतन की। इसकी कोई तो बूझ हो कि यह इरादा था और इससे यह अपराध हुआ। जब तक इरादतन चीज़ शून्य होगी, तब तक गैर इरादतन भी शून्य ही होगा। वह अधिकारियों को बहुत साधारण उदाहरणों से यह बात समझाता। पर कोई उसकी बात समझ नहीं पाता।

वह एक बेहद दुर्गम काम कर रहा था। एक कठिन काम। एक थोड़ा असंभव काम। उसे जंगल में अपराध ढूंढना था। फिर उस अपराध की कायमी भी करनी थी। फिर कागज़ों में दर्ज करना था कि जो घटित हुआ वह अपराध था। शब्दों में उस अपराध को लिखना था। कुछ इस तरह लिखना था, कि उन शब्दों का अर्थ वही अर्थ हो जाये जो कानून की किताब में अपराध का अर्थ है। कुछ इस तरह कि न्यायालय में भी वह मामला अपराध का मामला सिद्ध हो और अपराधी दण्डित हो।

कुछ ही दिनों में ऐसा एक मामला उसे पता चला।

हुआ यूँ कि वह जिस थाने पर था, वहां से एक कच्ची रोड जाती थी। थाने की वह रोड कई मील बाद पहाड़ों के बीच जाकर गुमती हुई दिखती थी। मोलों और घण्टों तक अनगिनत पहाड़ों को पार कर जब वह रोड उतरती तो एक बाहरी घाटी में सांप की तरह बल खाती पहाड़ियों में छुपती दिखती, नीचे की तरफ जाती थी। नीचे वह कई मील उतरकर घने जंगलों में चली जाती थी। घने जंगलों में एक गांव था, जहां लगभग डेढ़ सौ लोग रहते थे। जनसंख्या के मान से वह एक बड़ा गांव था। उन दिनों जंगल में डेढ़ सौ एक बड़ी संख्या होती। बस्तर के गांवों में तब ऐसे गांव खासे आबाद गांव होते। दूसरे गांवों की तरह यहां भी एक अनियतकालीन बस चलती थी। रोड कई-कई जगह जंगली नालों में उतरकर फिर ऊपर को चढ़कर उसे पार करती थी। ऐसे असंख्य नदी-नाले थे, जिन पर कोई रपटा या पुल नहीं था। जब बारिश नहीं होती, वे नदी-नालियां सूखी रहतीं। पर जब बारिश होती तो वे उफना जाती। जब बादल धीरे-धीरे लौट जाते, उनकी धार भी धीरे-धीरे कमजोर हो जाती। जब आकाश नीला होकर चमकता, उनका पानी इतना कम हो जाता, कि बस उसमें से निकल जाती। जब कुछ घण्टों तक आकाश नीला और चमकदार बना रहता, नदी-नाले सूखने लगते। ये नदी-नाले, पहाड़ों-जंगलों का पानी निकालकर इन्द्रावती नदी तक ले जाने का काम करते। जैसे ड्रेनेज पाइप होता है, जहां पानी बंद हुआ वह सूख जाता है, कुछ-कुछ वैसे ही।

एक तो बसें हफ्ते में बस कुछ ही दिन चलती थीं, दूसरे बारिश तथा कठिन रास्तों के खराब हो जाने के कारण वे उन कुछ दिनों में भी नियमित नहीं चल पाती थीं। सबसे बड़ी मुसीबत वे नदियां और नाले थे जिनके कारण बस का आना और जाना कभी तय नहीं होता था। वे दो-दो तीन-तीन दिनों तक लेट होतीं। लोग उनके आने के लिए कई-कई दिनों तक इंतजार करते। बसें कई बार उफनाती नदी या नाले के किनारे फंस जातीं। लोग कई कई दिनों तक बस के साथ जंगली बियाबान में फंसे होते। पर उन दिनों उन लोगों के पास समय होता था। जंगल का समय जो कभी खत्म होने को नहीं था। जो हर दिन बच जाता था थोड़ा-थोड़ा और इस तरह रोज बच-बचकर इकट्ठा होकर वह समय बहुत सारा हो जाता था। उन्हें कई-कई बार नदियों के किनारे पानी उतरने का इन्तजार करना पड़ता। लोग अभ्यस्त थे। लोगों के पास समय था। धैर्य था। वे इन्तजार कर सकते थे। कभी-कभी ऐसे इन्तजार में रात हो जाती। बाहरी दुनिया से कहीं कोई संचार मुनासिब न था। वे बाहरी दुनिया से संचार के बारे में सोचते भी नहीं थे। वे नदी के लकड़क बहते पानी को देखते। कुछ लोग अपने साथ अनाज लेकर चलते। जंगल की लकड़ियां बटोरकर अनाज पकाते। साथ-साथ खाते। ड्राइवर को यह अन्दाज़ होता था कि नदी का पानी कब उतरेगा। वह लोगों को बता देता कि कितना इन्तजार अभी करना है। ड्राइवर अपने साथ कुछ ऐसी चीजें भी रखता, जो अमूमन ड्राइवर नहीं रखते। तीन चार एक्स्ट्रा टायर, कुल्हाड़ी, गुलेल, एक जोड़ा बिस्तर, बरसाती, मच्छरदानी, बर्तन... आदि। इन चीजों के बिना बस का सफर शुरू नहीं हो सकता था। हर चीज काम की थी। अक्सर बड़े पेड़ गिरकर रोड को ब्लॉक कर देते, ऐसे में कुल्हाड़ी काम आती। सरकार ने ड्राइवरों को सांप काटने के एण्टी वीनम और सेडेटिव इंजेक्शनों के साथ दवाओं का एक डिब्बा भी दे रखा था और उसके प्रयोग का तरीका भी उन्हें सिखाया गया था।

हुआ यूँ कि जहां घाट खत्म होती थी, वहां से एक पगडण्डी जंगल के भीतर के एक गांव तक जाती थी। मीलों लम्बी पगडण्डी। गांव में एक प्राथमिक स्कूल था। स्कूल में दो शिक्षक थे, जो बरसों से इस प्रयास में रहे कि किस तरह जंगल की संततियों को पढ़ाया जाये। फिर वे थक हार गये। दोनों सुबह-शाम ताड़ी, सल्फी पीते और स्कूल में पड़े रहते। स्कूल को उन्होंने अपना घर बना लिया था। वहां उनके लाख चाहने पर भी कभी कोई पढ़ने नहीं आया। गांव के लोग उन्हें अजूबा समझते। गांव की एक औरत जो उनके लिए ताड़ी और महुआ की शराब ला देती थी, उनकी चीजों को कौतुहल से देखती थी। खासकर किताबों को। उनमें से पहले शिक्षक ने उसे एक दिन वह किताब देने की कोशिश की। वह शरमा गई। वह थोड़ा डर भी गई कि जाने यह क्या है? जाते समय उसे थोड़ी हँसी भी आ गई - 'जाने बाहर की दुनिया के लोग कैसी-कैसी चीज रखते हैं। अब यह किताब है। अजूबी पर कितनी फालतू सी चीज। जाने क्या है?' उसने जंगल की टूटी-फूटी जबान में उसे वह किताब ले लेने को कहा। उसने बड़े संकोच से वह किताब पकड़ ली। दूसरे शिक्षक ने देखा कि उसके हाथ में वह किताब कांप रही है। उसने उसे उसकी जबान में

समझाया कि यह एक अच्छी चीज है। इसे किताब कहते हैं।

फिर वह भीतर से एक और किताब उठा लाया। दूसरे शिक्षक ने उस औरत को समझाया कि किताब किस तरह खोलते हैं। किस तरह इसके पन्नों को पलटा जाता है। औरत के हाथ बेतरह कांपने लगे। पहले शिक्षक ने दूसरे शिक्षक से कहा कि वह जो कर रहा है, वह ठीक नहीं है। इसके कुछ भी घातक परिणाम हो सकते हैं। उसे जंगल आने के पहले उसके एक साथी ने बताया था, कि जंगल के आदमी और औरत को बाहरी दुनिया की कोई चीज देने से पहले दस बार सोचना। उसने कहा था, कि ऐसा करने के घातक परिणाम भी हो सकते हैं। कोई ऐसी चीज जो अब तक कल्पना में भी न आ पाई हो, अगर वह साक्षात् सामने आ जाये तो क्या अनर्थ हो सकता है, इसका तो बस अनुमान ही लगाया जा सकता है। वह बताता कि ऐसे हादसे सिर्फ बस्तर में ही नहीं बल्कि दुनिया में कहीं भी हो सकते हैं। यहां तक की खासे विकसित समाज में भी। अगर वहां भी कोई ऐसी चीज अचानक आ जाये जिसकी कल्पना भी उन्होंने न की हो तो एकदम से कुछ अप्रत्याशित घटित होता है, जैसे जर्मनी में जब पहली बार फिल्म दिखाई गई थी, तो पूरे हॉल में हड़कंप मच गया था। लोग भाग खड़े हुए। औरतें आश्चर्य और भय से चीखने लगीं। वे बुरी तरह घबरा गये, क्योंकि यह उनकी कल्पना के बाहर था कि सफेद दीवार पर चलते फिरते इंसान दिख सकते हैं। इंसान की क्या पूरी दुनिया दिख सकती है, चलती फिरती। फिर बस्तर तो बाहर की दुनिया से बहुत दूर और अछूता है। यहां के जंगल समय में बहुत पीछे छूट गये हैं। शिक्षक के उस दोस्त का दावा था, कि समय में जो सबसे पीछे छूट गई जगह है, वह बस्तर ही है। ऐसी जगह में बाहर की दुनिया से आने वाली तमाम चीजें ऐसी चीजें हैं जो अभी तक जंगल में आना तो दूर जंगल के लोगों की कल्पना में भी नहीं आ पाई हैं। ऐसी चीजें अगर एकदम से आ जायें, तो कयामत आ जाये, पता नहीं क्या हो जाये? वह यह भी कहता कि यह एक तरह से गलत भी है, कि जो चीज अभी कल्पना से भी परे है, उसे एकदम से साक्षात् कर दिया जाये। उसे लगता पता नहीं ये सब चीजें किस तरह से जंगल की दुनिया में आ पायेंगी, पता नहीं इनके आने का क्या उपाय होगा? एक अबूझ पहेली की तरह है, यह बात। एक समस्या भी जिसका कोई समाधान नहीं दिखता। इसलिए वह शिक्षक को बार-बार कहता था, कि जंगल के आदमी को बाहर की कोई चीज देने से पहले दस बार सोचना। पर उस दिन...

उस दिन वह दूसरा शिक्षक नशे में था। उसने सोच लिया था, कि आज तो वह जंगल के हाथों में किताब पकड़ा ही देगा और उसने वह किताब औरत को पकड़ा ही दी। औरत ने डरते-सकुचाते हुए किताब का पन्ना पलटा। पन्ने पर वर्णमाला का पहला अक्षर 'अ' लिखा था और नीचे गुलाबी रंग का बड़ा-सा अनार बना था। औरत भौंचक-सी उस पेज को देखती रही। फिर उसने धीरे-से अनार के गुलाबी रंग को अपनी उंगलियों से छुआ। बार-बार छुआ। फिर अपनी उंगली को देखा। उसकी काली उंगली पर वह गुलाबी रंग नहीं उतरा था। फिर उसने थोड़े दबाव के साथ रंग पर अपनी उंगलियां सरकाईं। वह

रंग फिर भी उसकी उंगली पर नहीं आया। उसने अपनी उंगलियों को थूक से गीला किया और कुछ देर तक अपनी उंगली उस गुलाबी रंग पर टिकाये रखी। उसने देखा अब भी वह रंग उसकी उंगलियों पर नहीं आया था। वह ऐसा पहला रंग था, जो थूक से सनी उंगली पर भी नहीं उतरा था। औरत की आंखें अचरज से फैल गईं। वह धीरे-धीरे उस किताब के पन्ने पलटती गई। वह 'औ' औरत पर देर तक रुकी रही। उसके होंठ कांपने लगे। वह नीली चुनरी ओढ़ी औरत को देखते हुए एक अजीब सा कौतुहल उसके चेहरे पर उतर आया था। उसने 'क' कबूतर, 'ख' खरगोश, 'ब' बकरी और 'व' वन को बहुत गौर से देखा। उन पर उंगली फिर-फिरा कर देखा। पहला शिक्षक डर के मारे दूर चला गया। दूसरा शिक्षक किताब के कौतुहल से डरती, अचरज करती उस अर्धनग्न जंगली औरत को देखकर मुस्कराता रहा। पहले शिक्षक ने कहा- "यह तुमने ठीक नहीं किया?" दूसरे शिक्षक ने उसकी बात को अनसुना कर दिया।

उसने औरत को कुछ और किताबें थमा दीं। रंगीन चित्रों वाली किताबें।

...औरत चीखना चाहती थी। वह खिलखिलाकर हंसना चाहती थी। वह हाथ में किताब उठाकर दौड़ना चाहती थी। वह 'ध' धनुष पर हल्ला कर अपनी बिरादरी के सभी लोगों को इकट्ठा करना चाहती थी। पर वह कांपते होंठ और फैली आँखों के साथ दूसरे शिक्षक को घूरती रही। कौतुहल के मारे औरत के रोंगटे खड़े हो गये थे।

...जंगल को किताब एक अद्भुत चीज थी। वह पन्ने उलटने को थी, पर फटने को नहीं। वह रंगों को थी, पर अक्षरों को नहीं। वह चित्रों को थी, पर उनके मतलब को नहीं। वह घूरने को थी, पर जानने को नहीं। वह सकुचाने, हंसने, रोने को थी, पर पढ़कर शिक्षित होने को नहीं। वह महसूस करने को थी, विद्वत्ता को नहीं। शायद चाहने को, प्यार को भी, पर ज्ञान को नहीं।

औरत रंगीन चित्रों वाली किताब ले गई।

एक दिन पहला शिक्षक शाम को डरा-घबराया हुआ आया। वह सीधे दूसरे शिक्षक के पास गया और उसे बताने लगा, कि उसने क्या देखा?

उसने देखा कि वह किताब जो औरत ले गई थी, वह गांव की देवमढ़ी पर रखी थी। जंगल के लोगों ने बकायदा उस किताब को शराब का तर्पण किया। फिर उस किताब को दो मुर्गों की बली दी गई। किताब के पास शराब से भरा एक पात्र रख दिया गया। जंगल का ओझा किताब के सामने बैठकर मंत्र बुदबुदा रहा था और बीच-बीच में अपने हाथ से उस किताब को छू रहा था। जंगल की औरतें उस किताब से थोड़ा दूर खड़े होकर दबे कण्ठ से कुछ गुनगुना रही थीं। दो लोग मिट्टी के पात्र में बली चढ़ाये गये मुर्गों का मांस काट-काटकर रख रहे थे। एक छोटे पात्र में मुर्गों की गर्दन से निकाला खून इकट्ठा किया गया था। जंगल का एक आदमी दूसरे आदमी को जो देवमढ़ी का रक्षक था, ताकीद कर रहा था कि जिस तरह दूसरे देवों की रक्षा की जाती है, वैसे ही किताब की रक्षा भी होगी। दूसरा शिक्षक सर पकड़कर खटिया पर बैठ गया। पहला शिक्षक स्कूल के कमरे में

गया। उसने वहां रखी सारी किताबें, कापियां, रजिस्टर, कैलेण्डर, चार्ट... एक पेटी में डाल दिये। पहले उसने पेटी पर ताला लगाया और फिर कमरे की कुण्डी चढ़ाकर वापस आ गया। दोनों शिक्षक हैरान-परेषान हो गये। वे देर तक इस समस्या पर बात करते रहे। फिर तय हुआ कि दूसरा शिक्षक जब बड़े शहर जायेगा तब कॉपी-किताबों से भरी यह पेटी भी अपने साथ ले जायेगा। उसे शहर में छोड़ आयेगा। तय हुआ कि स्कूल में एक भी कॉपी या किताब न रखी जाये। शाला को किताबों से मरहूम रखा जाये। दोनों इस बात का ध्यान रखेंगे कि कभी कोई किताब या कॉपी इस स्कूल में न आ पाये।

घटना इसी दूसरे शिक्षक के साथ घटी थी।

जंगल के इतिहास में बरसों से कुछ ऐसा घटित होता आ रहा था, जो इस दूसरे शिक्षक के साथ घटी घटना का अहम हिस्सा बनने जा रहा था। जंगल और बाहरी दुनिया के बीच बहुत कम संबंध थे। इतने कम कि इन दो जगहों को एक दूसरे से बिल्कुल विलग दुनिया मानना ही ठीक होगा। दशकों बाद जंगल सिर्फ अपनी दो जरूरतों के लिए ही बाहरी दुनिया से जुड़ पाया था। पहली जरूरत नमक और दूसरी मिट्टी का तेल। जंगल का आदमी इन दो चीजों को पाने दूर-दूर तक जाता। बहुत दूर जहां कोई हाट लगता या नमक या मिट्टी के तेल की दुकान होती। उस जगह से वह अपनी जरूरत भर नमक और मिट्टी के तेल पा जाता। पर इसे पाना इतना आसान न था। तब जंगल को नमक और मिट्टी के तेल जैसी चीज भी मुनासिब नहीं थी। जंगल में आज भी हजारों किस्से हैं, नमक और मिट्टी के तेल के। सबसे बड़ी मुसीबत थी, कि ये दोनों चीजें जंगल की चीजों की तरह मुफ्त में नहीं आती थीं। जंगल में तब सब मुफ्त था, या यों कहें कि चीजों के दाम लगने ठीक तरह से शुरू नहीं हुए थे। महुआ, ताड़ी, मांस, फल, मछली, लकड़ी... सब बेपनाह था और जंगल के आदमी को इसे पाने के लिये कोई दाम नहीं देना पड़ता था। वास्तव में तब दाम देने याने खरीदने और बेचने की अवधारणा ठीक तरह से विकसित नहीं हुई थी। वहां खर्च करने का गणित नहीं था। पर बाहर की दुनिया के नमक और मिट्टी का तेल खरीदने के लिए खर्च करना पड़ता था और खर्चने के लिए पैसे होना जरूरी था।

कहते हैं, जंगल में सबसे पहले सिक्के आये। सिक्के इसलिए क्योंकि सिक्के आकर्षिक करते थे। जंगल तब तक पैसों के आकर्षण भर को समझ पाया था। वह उसके असली और प्रचलित महत्व याने वह धन कितना है, क्या है, उसका मूल्य क्या है, नहीं समझ पाया था। सिक्के इसलिये आ पाये क्योंकि वे सुंदर दिखते थे। वे नोटों की तरह अनाकर्षक नहीं थे। वे नोट की तरह नाजुक और कटने-फटने वाले भी नहीं थे। वे चमकते थे। वे खनकते थे और सबसे बड़ी बात कि उन्हें संभालकर रखने का मन होता था, जबकि नोट सूखे पत्तों की तरह थे, अर्थहीन और बेजान। सिक्के टिकाऊ थे। वे मोहक थे, निःसंदेह। जंगल का आदमी सिक्के चाहता था, नोट नहीं। एक कारण यह भी था, कि नोट को संभालकर रखना कठिन था। वे भीग सकते थे। जल सकते थे। उन्हें दीमक खा सकती थी। उनके गिरने और गुमने में कोई ऐसी खनक नहीं थी, जो जंगल के आदमी को चौंका

दे। उसके लिए नोट किसी इंज़ट की तरह थे। वह बांस के टुकड़े में खोल बनाता और उस खोल में सिक्के रखता। उस बांस को घर की दीवार पर शान से लटकाता। बाहर का आदमी जब उसे नोट देता तब वह उससे सिक्कों की मांग करता। बाहर का आदमी उसकी इस नादानी पर हंसता। पर वह बाहर के आदमी को अच्छा मानता, क्योंकि वह उसे एक नोट के बदले कई सारे सिक्के देता। एक अजीब सी रजामंदी थी वह बाहर के आदमी और जंगल के आदमी के बीच। बाहर का आदमी उसे सिर्फ सिक्के देता। वह सिर्फ सिक्के लेता। दोनों खुश थे। एक सिक्के से ज्यादा दो सिक्के, दो से ज्यादा तीन, तीन से ज्यादा चार... वे कई हो सकते थे, पर वे नोट नहीं हो सकते थे। इन सिक्कों में सब कुछ आ जाता था। अठन्नी में खूब सारा नमक और दो अठन्नी में खूब सारा मिट्टी का तेल। ...जंगल की दुनिया के लिए मुद्रा का मतलब तब सिर्फ इतना ही था। सिक्के और सिर्फ सिक्के। रोजक, खनकदार और मोहक सिक्के। वह मुद्रा की किसी और कीमत से वाकिफ नहीं था।

दूसरा शिक्षक हर महीने दो दिन की लम्बी यात्रा पर ब्लॉक मुख्यालय पहुंचता था। वह गांव से पैदल-पैदल मीलों चलकर घाट के नीचे कच्ची सड़क तक पहुंचता। वहां पहुंचकर वह उस अनियतकालीन बस का इन्तजार करता। कभी-कभी सुबह से लेकर शाम तक इंतजार करता। कभी रात भर रुकता। बस अगर सिर्फ चार-पांच घण्टे लेट से मिल जाये तो यह एक खबर होती, जिसे वह दूसरे शिक्षक को बताता, खुशी-खुशी कि आज सिर्फ चार घण्टे बाद ही बस मिल गई। बस मिल जाने पर घण्टों का लम्बा सफर कर वह ब्लॉक मुख्यालय पहुंचता। वहां पहुंचकर वह दोनों शिक्षकों की पगार लेता। महीने भर के लिए राशन-गल्ला लेता और फिर एक लम्बा सफर तय कर गांव लौट आता।

उस दिन भी वह लौट रहा था। उसकी जेब में दो सौ पच्चीस रुपये और चार अठन्नियां थीं। पहले शिक्षक की पगार के एक सौ पच्चीस रुपये, उसकी पगार के सौ रुपये और सामान खरीदने के बाद बची चार अठन्नियां। एक बड़े थैले में उसने महीने भर के लिए चावल और दूसरे में भी चावल और थोड़ी सी दाल भर रखी थी। एक थैले को कंधे से और दूसरे को हाथ से उठाये वह बस से घाट के नीचे जंगल के भीतर उसी जगह उतरा, जहां से वह पगडण्डी मीलों का रास्ता तय कर जंगल के अन्दर उस गांव तक आती थी। पलभर सुस्ताने के बाद वह पगडण्डी-पगडण्डी चल पड़ा। थोड़ी ही दूर पर एक पथरीला छलछलाते, उछलते, बिखरते, फुहार होकर छिटकते चमकीले पानी वाला एक नाला था। उस नाले पर पहुंचकर वह फिर थोड़ी देर को रुका। उसने दोनों थैले एक चट्टान पर रखे। नाले के पानी से प्यास बुझाई। मुंह हाथ धोये और अंगोछे से अपने चेहरे को पोंछा। एक छोटा-सा बैग उसने अपनी बगल में दबा रखा था। बैग में पैसे थे।

...तभी वहां चार लोग आये। जंगल के लोग। जहर बुझे तीर-धनुष वाले लोग। उन लोगों ने सिर्फ एक-एक लंगोटी पहन रखी थी। दूसरे शिक्षक ने पलभर उनको देखा और वापस जाने लगा। तभी अचानक उनमें से एक उसके सामने आकर खड़ा हो गया। उसने शिक्षक पर अपना तीर तान दिया। उसके चेहरे पर शिक्षक के लिए अजीब-सी वितृष्णा का

भाव था। शिक्षक डर गया। उसने उस बैग को उलट-पलटकर देखा। बैग में रखे सिक्के और नोट चट्टान पर गिर पड़े। नोट फैल गये और सिक्के टन की आवाज कर इधर-उधर उछल गये। एक सिक्का लुढ़कता हुआ नाले के किनारे की गीली मिट्टी में खड़ा हो गया। एक सिक्का चक्कर खाता हुआ टनटन की आवाज करता हुआ नाचने लगा। बाकी दो सिक्के चट्टान से टकराकर उछले और मिट्टी में जा गिरे। उनमें से एक आदमी उन सिक्कों की टनटनाती आवाज से चौंक गया। फिर उसने धीरे से एक एक कर उन सिक्कों को बटोर लिया। उसने क्षण भर को दो सौ पच्चीस रुपये के नोटों को देखा। उसमें एक रुपये, पांच रुपये और दस रुपये के नोट थे। पेड़ों की छाया के नीचे वे सूखे पत्तों की तरह दिख रहे थे। वे हवा में तितली के पंख के मानिंद फड़फड़ा रहे थे। वह उन नोटों को यहीं छोड़कर दूसरे शिक्षक की तरफ आ गया। शिक्षक के पास एक और बैग था। बैग चमड़े का था। काले रंग का था। उसमें एक चैन लगी थी। उसने चैन पर अपनी उँगली फिराई। फिर बैग को उलट-पलटकर देखने लगा। उसे चैन खोलनी नहीं आती थी। वह थोड़ी देर तक धातु कि चैन पर अपनी उंगलियाँ फिराता रहा। फिर बैग को उलट-पलटकर देखा। थोड़ी देर मुआयना करने के बाद उसने बैग को एक तरफ फेंक दिया। चट्टान पर अनाज से भरे दो थैले लावारिस की तरह पड़े थे। उनमें से एक ने उन थैलों को उड़ती नजर से देखा और फिर शिक्षक को घूरने लगा।

उन्हें थैलों से भरे अनाज में कोई रूचि नहीं थी। उन्हें थैला बड़ी बौडम-सी चीज लग रहा था। उनकी नजर शिक्षकों के कपड़ों पर थी। उन लोगों ने इसके पहले भी कपड़े पहने इंसान देखे थे। वे उत्सुक थे। वे कपड़ों के लिए उत्सुक थे। खासकर उनमें से दो। जो अजीब सी हंसी के साथ शिक्षक के उन कपड़ों को देख रहे थे। उन कपड़ों का अहसास करने के लिए लालायित थे। वे कपड़े के स्पर्श को अपने शरीर पर महसूस करना चाहते थे। शिक्षक ने कुर्ता-पायजामा पहन रखा था। गले में अंगोछा था और पैरों में प्लास्टिक की चप्पलें। उन्हें चप्पलों की जरूरत नहीं थी। चप्पल शायद उनके पैरों को गड़ती। उनके नग्न पैरों को वह तकलीफ देती। वे बस कुर्ता-पायजामा और अंगोछा चाहते थे।

दूसरा शिक्षक जब गांव पहुंचा, पहला शिक्षक उसका इन्तजार कर रहा था। दूसरा शिक्षक सिर्फ एक अण्डरवियर पहने चला आ रहा था। अपने बगल में उसने नोटों भरा बैग दबा रखा था। कंधे पर अनाज से लदा एक थैला लटका था। अनाज से भरा हुआ दूसरा थैला उसके हाथ में था। उसी थैले में चैन वाला चमड़े का छोटा बैग था। जब वह गांव आया तो गांव के एक बुजुर्ग ने उसे देखा। बुजुर्ग को उस अर्धनग्न शिक्षक को देखकर कुछ भी अजीब नहीं लगा।

उसने पहले शिक्षक को पूरी आपबीती बतायी। आपबीती बताते-बताते वह रुआंसा हो गया। जंगल में यह अपने तरह का पहला वाक्या था। पहले शिक्षक ने दूसरे को सलाह दी कि उन्हें पुलिस में रिपोर्ट करनी चाहिए।

दोनों शाम ढलते पुलिस चौकी पहुंचे थे। पुलिसवाला घर पर था। उसने उन्हें वहीं

बुला लिया। पूरी कहानी सुनने के बाद पुलिसवाले ने उन्हें रात भर वहीं रुकने की सलाह दी। पुलिसवाला खुश था। जंगल में लूट हो चुकी थी। उसे जंगल में पहली बार इतना बड़ा अपराध का वाक्या मिला था। उसने उन दोनों को यह भी कहा कि कल सुबह-सुबह मौका-ए-वारदात पर चलेंगे। जो माल असबाब लूटा गया है, उसे खोजना पहले जरूरी है। एक बार लूट में गया माल मिल जाये तो समझो अपराध का होना पुख्ता हुआ। उसके बाद ही दमदारी से बात की जा सकती है कि अपराध हुआ। माल-असबाब याने सबूत। जिसके बिना पर अपराध की कायमी भी की जा सकती है।

अगले दिन वे तीनों मौका-ए-वारदात पर थे। मौका-ए-वारदात अजीब-सी जगह थी। वहां अनवरत बहता कलकल करता पहाड़ी नाला था। दूर-दूर तक सिर्फ जंगल थे। वहां पंछियों का कलरव था। वहां दूर-दूर तक इंसान के होने की सम्भावना शून्य थी। वहां मीलों दूर तक कोई घर गांव नहीं था। वहां सांप, बिच्छुओं का भय था। वहां जंगली घास से भरी पड़ी पगडण्डी थी, जिस पर बहुत भूले-बिसरे कभी कोई जाता था। बस सिर्फ पगडण्डी का रास्ता तय था। शेष सब जंगल था। शेष सब निर्विकार था। विच्छिन्न था। गुमनाम था। पर फिर भी वह मौका-ए-वारदात था।

दोपहर बाद पुलिस वाला और दोनों शिक्षक जंगल के भीतर उसी तरफ बढ़ते गये, जहां वे चारों गये थे। दूसरे शिक्षक ने चेताया था कि यह सब निरर्थक है। जंगल के भीतर चले गये इंसान को भी भला कभी कोई खोज पाया है। उसके पीछे-पीछे जाना जंगल की अनन्तता में गुम होते जाना है। हर जगह पसरे सन्नाटे के बीच गुम होते जाना। खत्म हो चुकी रोशनी के बीच गुम होते जाना। इस तरह गुम होते जाना, कि अचानक खयाल आये कि पता नहीं अब लौटना सम्भव हो भी या नहीं। जंगली घनापन जहां गुम हो जाती हैं दिशाएं। जहां नहीं मिलते पदचिन्ह। जहां नहीं होते हैं मील के पत्थर और संकेतक। जहां नहीं होते हैं रास्ते। जहां हर-पल, हर-क्षण गुमती जाती है, लौटने की दिशा। जंगल के आदमी की खोज में उसके पीछे-पीछे जाना निरर्थक है। इस तरह जाकर कहीं नहीं पहुंचा जा सकता है।

“...अनुमान के भरोसे हम कहां तक जा सकते हैं?”

दूसरे शिक्षक ने पहले से कहा। पुलिस वाला कहने लगा -

“जाना तो पड़ेगा। ठीक है, कि वह कठिन है सिद्ध कर पाना कि जो अपराध हुआ वह जंगल में हुआ, पर फिर भी...”

“यह यात्रा निरर्थक लग रही है।”

“यात्रा। हां, यह यात्रा ही है। मैं कभी इसे अपराध का अन्वेषण नहीं मान पाया। जंगल में अपराध का अनुसंधान एक यात्रा है...”

“मेरा मतलब है कि हमें अब लौटना चाहिए।”

“काम अभी शुरू हुआ है। इसमें समय लगेगा।”

“मैं थक गया हूँ।”

“थोड़ा सुस्ता लो।”

“मैं इतना थक गया हूँ, कि अब लौटना चाहता हूँ।”

‘यह मुमकिन नहीं। फिलहाल तो बिलकुल भी नहीं। आपको चलना ही पड़ेगा। वरना लूटे गये माल-असबाब को पहचानेगा कौन। फिर आप पीड़ित पक्ष हैं।’

पुलिसवाला और दोनों शिक्षक थोड़ी देर को रुक गये। दूसरे शिक्षक ने एक शब्द को गुना-पीड़ित पक्ष। उसे चार अठन्नी और कपड़े लूटने को उत्सुक दो आंखें दिखाई, जो थोड़ा-थोड़ा मुस्कुरा भी रही थीं। जो बड़े इत्मिनान से उसे घूर रही थीं। काले चेहरे पर दो सफेद आंखें जो उसे डरा नहीं रही थीं। आज भी दिखती हैं तो डराती नहीं। उनमें एक अजीब सी उत्सुकता, उतावलापन और अचरज था। वे हड़बड़ी में नहीं थी। वे लूटकर भागने की फिराक में नहीं थीं। वे चौकन्नी नहीं थीं। उनमें घृणा और डराने के भाव नहीं थे। वे किसी लुटेरे की आंखें नहीं थीं। उन्होंने उस पर तीर धनुष ताना था, पर थोड़ी देर बाद उन्होंने यकीन कर लिया कि वह भागेगा नहीं। पुलिसवाले ने भी एक शब्द गुना-लूट, फिर एक और शब्द - माल असबाब। वह उस लूट का अनुसंधान कर रहा था, जहां लुटेरा सैकड़ों रुपयों को यूँ ही छोड़ गया था। जो उस धन को फालतू मानकर छोड़ गया था। वह उस माल-असबाब को ढूँढ रहा था, जो सिर्फ और सिर्फ उत्सुकता और मोहकता के कारण ले लिये गये थे। उसे क्षण भर को लगा कि उसकी नौकरी कितनी फालतू किस्म की है।

“मैं पीड़ित नहीं। यह बस अनैतिकता का प्रश्न है।”

“अनैतिकता?”

पुलिसवाले ने फिर कहा। इस बार धीरे से। शिक्षक उससे मुखातिब नहीं था। वह खुद से भी मुखातिब नहीं था। वह बस कह रहा था।

‘हां। अनैतिकता। यह जंगल के लिए उसूल की बात भी है। जंगल को अनैतिकता से बचाना होगा। जंगल में अनैतिकता नहीं रही है। जिन्होंने अपराध किया उन्हें दण्डित करना जरूरी हैं।’

‘उसूल?’

पुलिसवाले ने फिर धीरे से कहा।

दूर तक सागौन ही सागौन के पेड़े थे। जमीन सूखे पत्तों और कंटीली झाड़ियों से अटी पड़ी थी। पुलिसवाले ने क्षण भर को दूर तक पसरे अंतहीन सन्नाटे को सुना। शिक्षक ने देखा घने पेड़ों के नीचे एक बामी है और बामी में एक सांप और चींटियां एक साथ घुस रही हैं। दूर से आती मधुमक्खियों की भिनभिनाहट की मरगिली सी आवाज उस सन्नाटे को तोड़ रही थी जिसे पुलिसवाला सुन रहा था। दूर असंख्य पहाड़ थे और जंगल और पहाड़ों के बीच घाटियां थीं। वहां कोई रास्ता नहीं था। लूटने के बाद वे वहीं से गये थे। वहां सिर्फ जंगल थे और एक बारगी यकीन करना मुमकिन न था, कि कोई यहां से भी जा सकता है, कि यहां से जाकर किसी अज्ञात और अचिन्ही जगह पर पहुंचकर मुकाम मिल

सकता है। पुलिस वाले ने अपने मुंह के दोनों और हथेलियां लगाईं और जोर से चिल्लाया - उसूल। फिर दुबार चिल्लाया - उसूल। घाटी और पहाड़ से टकराकर जंगल के रास्ते गोल-गोल होकर आवाज प्रतिध्वनित होकर वापस लौटी, दो बार, तीन बार, हर बार और कमजोर होती- उसूल, उसूल, उसूल...

पुलिसवाला और दूसरा शिक्षक एक दूसरे को देखकर मुस्कराये। उस जंगल में उस समय उसूल जैसा शब्द बेहद बौड़म लग रहा था। जंगल के लिए बाहरी दुनिया का उसूल तक बेमानी ही था। उस बियावान और दुनिया से हमेशा विलग रही सृष्टि के लिए उसूल एक अजीब और थोड़ा हास्यास्पद शब्द था। पता नहीं तब तक वह जंगल की भाषा में आया भी था या नहीं। दोनों को पता था, कि जंगल के किसी भी अर्थ का अर्थ वह उसूल नहीं है, जो बाहरी दुनिया का है।

“यह कवायत अर्थहीन है।”

पुलिसवाले ने कहा। दूसरे शिक्षक ने क्षणभर को रुककर उसे देखा और फिर उसके साथ चलने लगा।

‘नहीं यह आपका दायित्व है।’

‘देखिए, हम यहां आपका कुर्ता, पायजामा और अंगोछा ढूंढने आये हैं...।’

‘पैसे भी।’

‘हां चार अठनियां। सिर्फ चार।’

‘पर वह लूट थी।’

‘उस तन को जो एक बार अपनी देह ढंक लेने की इच्छा से कपड़े ले लें...।’

‘...’

‘...और हां चार अठनियां भी। इसलिए नहीं की पैसा है, बल्कि शायद इसलिए कि वह सुंदर है, खनकता है...।’

‘पुलिस का काम अपराध को देखना है। आप भटक रहे हो।’

‘मेरा बॉस भी यही कहता है, कि हर जगह बस एक ही चीज देखो, अपराध सिर्फ अपराध...। अपराध पर सोचो नहीं। पर क्यों न सोचूं, कहां दर्ज है कि पुलिसवाला अपराध के बारे में, उसके बनने के बारे में, उसके अपराध होने के बारे में नहीं सोच सकता। मैं सोचता हूं। पुलिसवाले को सोचना चाहिए...।’

‘मुझे इन सब बातों से मतलब नहीं। आप बस मेरा काम कर दो।’

‘मैं इस बात को समझना चाहता हूं। इस उसूल को जिसके दायरे में कीमती चीजें तुच्छ हैं और कुर्ता-पायजामा को इसलिए सिर्फ इसलिए ले जाना चाहता है, क्योंकि वह उत्सुक है, समझना चाहता है, महसूस करना चाहता है...। जहां आज भी पैसे निरर्थक है।’

“इस बात का मतलब?”

दूसरा शिक्षक थोड़ा झल्लाने लगा।

“मतलब यह कि जहर बुझे तीर के बाद भी घनघोर एकान्त में किसी वारदात को

अन्जाम देने की सुरक्षा के बाद भी, वह सिर्फ और सिर्फ उत्सुक है।”

“आपको मेरी मदद करनी ही होगी।”

दूसरा शिक्षक थोड़ा अधीर हो गया।

“जब वह ताने था आपकी छाती पर जहर बुझा तीर तब उसकी आंखों में एक बेहद मासूम सी लिप्सा थी। जब आप डर रहे थे, कि वह मार ही डालेगा, तब वह बस इतना ही चाहता था कि बरसों से नग्नता पर वह कपड़ों का स्पर्श पा ले। भले एक बार ही।”

“नहीं। आप गलत हो। बिल्कुल गलत। यह अपराध है। अपराध।”

“मेरा बॉस भी यही कहता है।”

“वह सही है।”

“किताबें यही कहती हैं। हमारे तमाम शब्द, सत्य, न्याय और नैतिकता भी यही कहते हैं। कहते हैं कि यह अपराध है।”

“इसमें कोई प्रश्न नहीं। हमारी महान सभ्यता के कायदे जिन्होंने तय किया मूल्यों को। इंसान के हजारों साल के इतिहास में तय होते आये मूल्य, कि अपराध है। सिर्फ अपराध।”

पुलिसवाला चलते-चलते रुक गया। उसने क्षण भर को सोचा और फिर कहने लगा-

“आपकी पहली बात सही थी।”

“कौन-सी बात?”

“यही कि अनुमान के भरोसे हम कहां तक जायेंगे।”

वह लौटने लगा। दूसरा शिक्षक थोड़ी देर तक तो उसे देखता रहा, फिर मन मारकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। पुलिसवाले ने धीरे से कहा- पुलिसवाले को सोचना नहीं चाहिए...। रुककर फिर दुबारा गुना... पुलिसवाले को सोचना नहीं चाहिए। फिर रुका और मुड़ा। दृश्य अभी भी वही था, जंगल के पार पहाड़ और पहाड़ और जंगल के बीच गहरी घाटी। उसने अपने मुंह के दोनों ओर हथेली लगाई और जोर से गंदी गाली देता चिल्लाया इसकी मां का...। जंगल के रास्ते आवाज वापस आई, एक बार, दो बार, तीन बार... इसकी मां का...। उसने शिक्षक को घृणा भरी नज़रों से देखा और एक तरफ थूक दिया। दूसरा शिक्षक बुरी तरह घबरा गया।

वे बिना माल-असबाब के लौट गये।

उस रात पुलिसवाले ने उस अपराध की डायरी लिखी। पहले कुछ और लिखा फिर यह सोचकर कि यह बात शायद ही किसी को समझ आये पहले लिखे को काटकर दुबारा कुछ और लिखने लगा। वह कुछ इस तरह लिखना चाहता था, कि पढ़ने वाले को वह बात समझ आ जाये जिसे वह लिखना चाहता है। पर जैसे वह हर बार असफल हो रहा था। अक्सर असफल हो जाता था। वह लिखकर ठीक से बता नहीं पाता था। उसे पता था, कि

निरपराधी के पक्ष में लिखना कितना तो कठिन है। यह बता पाना बेहद जटिल और रिस्की है, कि जो आरोपी था, वह निरपराध था। बेगुनाह के पक्ष में होना कितना भयावह और उलझाव भरा काम है, वह सोचता। एक ऐसे समय में जब सारी दुनिया जंगल में अपराध की तलाश कर रही है, यह काम और भी कठिन हो जाता है। हर कोई चाहता है, कि यह बार-बार प्रमाणित हो कि जंगल में भी अपराध होते हैं। कि जंगल भी उतने ही अपराधी हैं, जितनी बाहर की दुनिया। हर कोई चाहता है, कि यह सत्य हो जाये कि जंगल में भी उसी तरह अपराध होते हैं, जैसे कि बाहर की दुनिया में। जंगल के लोग भी उतने ही हत्यारे, लुटेरे और बलात्कारी हैं, जितने की बाहर की दुनिया के लोग। हर बार की तरह उसने ठीक-ठीक लिखने की कोशिश की। उसने लिखा कि, कपड़े जैसी सर्वव्याप्त, सर्वउपलब्ध और कितनी तो सामान्य-सी चीज़ को महसूस कर लेने, सिर्फ़ महसूस भर कर लेने की कितनी भोली इच्छा। क्या नग्न शरीर को कपड़े के स्पर्श को, जीवन में कभी कहीं महसूस कर लेने की इच्छा को, गैर-इरादतन मानते हुए अपराध जाना जा सकता है.... वे जिनके लिए धन निरर्थक है, गैर-इरादतन भी, लूट के अपराधी नहीं... अतः यह सही ही होगा, अगर इस मामले में खात्मा लगा दिया जाये।

...न्यायालय ने पुलिसवाले का तर्क नहीं माना।

...बड़े अधिकारी याने पुलिसवाले के बॉस ने विवेचना देखकर घोषणा कर दी कि पुलिसवाला अन्वेषण नहीं जानता, व्याख्याएं नहीं समझता। उसने यहां तक कहा कि उसकी जंगल के लोगों से सांठगांठ हैं।

पुलिसवाले को सस्पेंड कर दिया गया।

दूसरे शिक्षक ने एक पत्रकार को जो इस मामले में उससे हकीकत जानना चाहता था, बहुत जोर देकर बार-बार कहा कि पुलिसवाला अपना काम ठीक से नहीं करता था, ठीक है कि वह जंगल की मासूमियत, निर्लिप्तता और सादगी की बात करता था, पर वह कानून का पालन भी नहीं करना चाहता था। उसे दण्ड मिलना ही चाहिए था।

कहानी

विमल चन्द्र पाण्डेय

शुभचिंतक

जिस तैंतीस साला आदमी ने काली टी शर्ट पहनी हुई थी वह मजबूत कद काठी का था और धारीदार कमीज वाला अपनी चाल से ही कमजोर दिखता था। पैंतीस के ऊपर दिखते उस आदमी ने पुरानी काट की सिलवायी हुई पतलून पहनी हुई थी और उसे देखकर लगता था कि रेडीमेड के इस ज़माने में भी वह लगातार अपने कपड़े दर्जी के यहाँ सिलवाता रहा होगा। टी शर्ट वाला आदमी ज़ींस पहने हुए था और उसके शरीर की लापरवाही देखकर लगता था कि वह सिलवाए कपड़ों की नज़ाकत को काफी पीछे कहीं छोड़ आया है।

मोटरसाइकिल खड़ी कर जब वे दोनों उस गली में पहुंचे तो शाम के छह बजे थे और धुंधलका अभी भी दूर था। गर्मियां अप्रैल के पहले हफ्ते से ही मई जून वाले ठाट में आ गयी थीं और लोगों का भेजा बिना बात गरम होने लगा था। इस बात के मद्देनजर कमीज वाले ने टी शर्ट वाले को समझाया था कि मौसम की गर्मी को दिमाग पर चढ़ने देना गलत बात है। टी शर्ट वाले ने बदले में यह कहा था कि मंटू भइया आखिर उसके भी पुराने परिचित हैं और वह कोई उनका दुश्मन नहीं लेकिन बात उसूलों की है। उसका कहना था कि ज़बान की एक कीमत होती है और होनी चाहिये।

दोनों ने एक पुराने मकान के बाहर जाकर जोर से मंटू मंटू की हांक लगायी और दरवाज़ा खटकाने का कोई उपक्रम नहीं किया। दोनों उस पतली सी गली में एक तरफ खड़े थे और सामने से कुछ सांढ़ जा रहे थे। वे दोनों दब कर खड़े रहे। जब सात सांढ़ गुजर गये तो मंटू बाहर निकले। टी शर्ट वाले ने सांढ़ गिनना छोड़ मंटू की ओर आग्नेय नेत्रों से देखा। मंटू की उम्र चालीस साल के आसपास थी और उनके चेहरे पर न की जा सकी राजनीति का शोक था। उनकी कमीज खास ऑर्डर पर सिलवायी हुयी थी और खद्दर की यह कमीज, कमीज और कुर्ते का मिलाजुला रूप लगने के कारण अलग प्रभाव छोड़ती थी। टीशर्ट वाला उस प्रभाव से बिल्कुल अछूता रहा और सामने आकर बिना झुके मंटू के पांव

इस तरह छुये जैसे उनकी जांघों को छूकर उसका ठोसपन जांच रहा हो।

“कहां चला जाय?” मंटू ने पूछा।

बदले में कमीज वाला चुपचाप कुछ कदम चलने के बाद एक गली की ओर मुड़ गया। टीशर्ट वाला भी उधर मुड़ा तो मंटू भी उधर ही मुड़ गये। मंटू नाम से उन्हें पूरे मुहल्ले में जाना जाता था और एक ज़माने में जब वह विद्यापीठ में छात्रसंघ का चुनाव जीते थे तो अवनीश कुमार सिंह ‘मंटू’ का बनारस में डंका बजता था। न जाने कितने लोगों को उन्होंने मकान पर कब्जा दिलवाया था, कितने लोगों को पुलिस से छुड़वाया था और कितने ही झगड़ों में पंच बन कर उन्हें शांतिपूर्वक सलटाया था। वह राजनीति में पूरी ईमानदारी से लगे थे और इसे समाज सेवा का माध्यम मानते थे। उनका स्पष्ट मानना था कि यदि कोई छोटी सोच वाला नेता अध्यक्षी में ही पैसे खाने लगेगा तो वह विधायकी तक कभी पहुंच ही नहीं सकता। वह खुद को बड़ी सोच वाला मानते थे और विधायक न बनने तक पूरे तन मन धन से नेतागिरी यानि समाज सेवा करते थे। लेकिन बाद में समस्या यह हो गयी कि पार्टी के आला अधिकारियों, जो उनकी लगातार मेहनती और ईमानदारी होती छवि को अपने लिये खतरा मानने लगे थे, ने उनका राजनीति से पत्ता घिसवा दिया। वह घिसते घिसते खत्म हो गये। उनकी जगह नये रंगरूट आ गये थे और मंटू भड़िया और उनकी राजनीति धीरे-धीरे अप्रासंगिक हो गयी थी। मंटू की राजनीति खत्म होने से ज़्यादा दुख इस बात का था कि ईमानदार यानि कच्चा नेता समझ कर उनको किनारे लगाया गया।

जिस पतली गली से गली-गली होते सब मीरघाट की तरफ बढ़ रहे थे, उसमें सामने से एक मुर्दा मणिकर्णिका की ओर लाया जा रहा था। भीड़ राम नाम के सत्य होने का नारा लगाती हुई तेजी से आगे बढ़ रही थी। तीनों एक तरफ दब गये और मुर्दे के ऊपर फेंके जा रहे लीचीदानों में से एकाध मंटू के चेहरे पर भी पड़े। उन्होंने सकपका कर बाकी दोनों की तरफ देखा। टीशर्ट वाले के चेहरे पर दृढ़ता के भाव थे।

“गर्मी चालू हो गयल। मरे सुरू हो गइलन लोग।” मंटू ने अपने चेहरे की झेंप को अपने कहे इस वाक्य से मिटाने की कोशिश की। कमीज वाला मुस्कराया लेकिन टी शर्ट वाले के चेहरे पर कोई भाव नहीं आया।

“तू मरबा तऽ हम लचीदाना नाहीं लेंडुआ लुटाइब।” उसने ताना मारती आवाज़ में कहा तो मंटू फिर से अपने रास्ते पर चल पड़े। वहां बैठे एक भिखारी ने लड्डू लुटाए जाने की आशा में नज़र उठायी और सेहतमंद मंटू को देखकर दूसरी ओर देखने लगा।

तीनों बाकी रास्ते चुपचाप रहे। मंटू के चेहरे पर तनाव के भाव थे जिन्हें वह छिपाने की पूरी कोशिश कर रहे थे। टी शर्ट वाले के चेहरे पर गुस्से के भाव थे जिन्हें वह जाहिर करने की ताक में था। कमीज वाला चेहरे से ही शांतिप्रिय लग रहा था और उसके चेहरे पर भाव था कि यहां वहां से लेकर पूरी दुनिया तक में शांति कायम रहनी चाहिए।

“किचाइन न होये चाही गुरू।” उसका प्रिय वाक्य था और यही उसकी जीवनशैली भी थी। इसी कारण वह अक्सर ऐसी जगहों पर पाया जाता था जहां मामला बिगड़ने की

आशंका हुआ करती थी।

तीनों चलते चलते मीरघाट पहुंच गये। टी शर्ट वाला घटियारा था और उसे घाट के स्थायी निवासी अच्छी तरह पहचानते थे। मंटू का चेहरा भी घाट के बाशिंदों में खासा लोकप्रिय था। यहीं घाट पर उन्होंने अपने लिये दुनिया की सबसे दुखदायी बात सुनी थी।

“कुछ नेता लोग होलन जेनकर नेतागिरी घाटे तक रहेला, जइसे मंटू।” किसी मल्लाह ने मंटू के बारे में बताते हुये उनका परिचय किसी छुटभैये को दिया था और गलती से मंटू उधर से ही निकले थे। इस एक वाक्य के परिचय से उनके आत्मविश्वास में गजब का हास आया था और उन्होंने घर से निकलना कुछ कम कर दिया था, खासकर दूसरों के काम से। अब कोई दोस्त ही चला आता तो वह मना नहीं कर पाते। दोस्तों के परिवार में उन्हें दोस्त से अधिक सम्मान और प्यार मिलता। दोस्त उन्हें अच्छे दिनों की याद की तरह सहेज कर रखना चाहते। वे दोस्तों की घरेलू समस्याओं को सुलझाने के लिये किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते।

दोनों मीर घाट पर कुछ सीढ़ियां चढ़ कर एक मंदिर के उपर वाले हिस्सों में जाकर बैठ गये। मंटू काफी देर तक खड़े रहे तो कमीज वाले ने उन्हें बैठने का इशारा किया, “बइठिये भइया।” वह इधर उधर देखने लगे तो टी शर्ट वाले ने तंज कसा, “सौफा मंगवा दी का तोहरे बदे?”

अबकी मंटू चुपचाप बैठ गये। तीनों घाटों की तरफ देखते रहे। नीचे की ओर देखने पर ढेर सारे देसी विदेशी गंगा आरती देखने दशाश्वमेघ घाट की ओर जाते दिखायी दे रहे थे। धरम के धंधे का वक्त हो गया था और ढेर सारे प्रकाश के बीच गंगा आरती शुरू होने वाली थी। कुछ पर्यटक गंगा में नाव लगवा कर दूसरी ओर से आरती का आनंद ले रहे थे। मंटू जानबूझ कर चुपचाप आरती की ओर ही देखते रहे। बात शुरू करने की जल्दबाजी किसी ने नहीं दिखायी। टीशर्ट वाले ने जेब में कुछ निकालने के लिये हाथ डाला पर अचानक रुक गया।

“ग लेबा कि च?” वह मंटू से मुखातिब था। इतने समय में उसका पहला वाक्य सहज होकर आया था और मंटू को जरा भी उम्मीद नहीं थी कि यह उनसे पूछा गया है। वह तुरंत चौकन्ने नज़र आने लगे। टी शर्ट वाले के दोस्ताना रवैये ने उन्हें उत्साहित कर दिया था।

“च च च।” मंटू ने उत्साह में एक अक्षर का जवाब कई बार दोहरा दिया।

टीशर्ट वाले ने अपनी जेब से एक छोटी सी पन्नी निकाली। उसमें गंदले रंग की एक कागज की पुड़िया थी जिसमें एक काली गोली रखी थी। उसने गोली पर अपने मोटरसाइकिल की चाबी का किनारा गड़ाया तो वह उसमें चिपक गयी। उसने माचिस जलायी और चाबी का वह सिरा गरम करने लगा। कमीज वाले ने एक सिगरेट बीचोंबीच फाड़ दी थी और उसमें से निकले तंबाकू को हथेली पर मसल रहा था।

चाबी के सिरे पर लगी गोली ने आग पकड़ ली थी। टी शर्ट वाले ने आग को फूंक

मार कर बुझाया और जल्दी से कमीज वाले की हथेली पर उस गोली को गिरा दिया जहां तंबाकू की एक परत बिछी थी। कमीज वाला जल्दी जल्दी गोली को तंबाकू के साथ मिला कर मलने लगा। ठोस गोली गरम होने के कारण नरम हो गयी थी और उसका अस्तित्व धीरे धीरे तंबाकू के साथ मिल रहा था। काफी देर तक मलने के बाद उस चूर्ण को एक सफेद पारदर्शी कागज पर बिछा दिया जिसके पीछे सिगरेट की डिब्बी से बनी फिल्टरनुमा चीज लगायी गयी थी। कागज को गोल मोड़ा गया और एक किनारे पर थूक लगा कर उसका सिरा चिपकाया गया। सिगरेट को जला कर टी शर्ट वाले ने तीन लंबे कश खींचे और उसे मंटू को थमाया। मंटू ने उसे क्रांति की मशाल वाले अंदाज से थामा। उन्हें उम्मीद थी कि इसी चीज से बात का कोई सिरा खुलेगा जिसे पकड़ कर माहौल सहज बनाया जा सकेगा। उन्होंने पहला ही कश खींचते हुए माहौल को दोस्ताना बनाने की कोशिश की।

“बहुत सही माल है रे, कहां से लियाए?” वह मुस्करा कर टी शर्ट वाले की ओर देख रहे थे। टी शर्ट वाला जरा भी प्रभावित नहीं हुआ।

“कैलास परवत गये थे। वहीं संकर भगवान पी रहे थे, उनसे छोर लेहली।” टी शर्ट वाला हिंदी में संयत रहने की कोशिश कर रहा था लेकिन आक्रोश की काशिका संभाल के बाहर चली जाती थी। वह दूसरी तरफ देखने लगा। सिगरेट जब कमीज वाले के हाथ में पहुंची तो उसने धुंए को खींचना और बात को छोड़ना शुरू किया।

“अबे तुम्हारे बड़े भाई जइसे हैं।” उसने टी शर्ट वाले को नैतिकता का पहाड़ा पढ़ाने की कोशिश की। टी शर्ट वाला सामने से उठा और मंटू भइया के पास जाकर खड़ा हुआ। उनकी ओर एक अश्लील मुद्रा बनाता कमीज वाले को दिखाते हुए गुस्से से भर कर कहा, “हमार लांड हंडवन।”

यह एक अपमानजनक बात थी। सामने खड़ा वह उजड़ड़ लड़का उनके घनिष्ठ मित्र का छोटा भाई था जो शुरू शुरू में उनके पांव छुआ करता था और उनसे डरता था। बाद में कुछ छिटपुट बदमाशों के चक्कर में उसकी लाइन लेंथ बिगड़ गयी और वह धीरे धीरे अपने परिवार से अलग थलग हो गया। उसको किसी बात के लिए कोई समझा नहीं सकता था क्योंकि वह सबके संपर्क से बाहर रहता था। मंटू चुपचाप गंगा की लहरों को देखने लगे जिनमें दूधिया रोशनी के कारण एक अनोखी चमक थी। गंगा आरती पर कैमरों के फ्लैश खटाखट चमक रहे थे। कमीज वाले ने टी शर्ट वाले को हाथ दबाकर इशारा किया तो उसे भी लगा यह कुछ ज्यादा ही हो गया। उसे लगा गुस्से का इजहार थोड़ा दबा कर करना चाहिए। आखिर कुछ भी हों, बड़े भाई के दोस्त हैं। उसने खुद को थोड़ा नियंत्रित किया। मंटू की ओर जाकर बैठा और अब तक की सबसे सहज और मधुर आवाज में पूछा जो फिर भी कड़वी ही थी।

“कहिया?”

मंटू ने उसके ऊपर नजर डाली। उन्हें याद आया कि इस खतरनाक लड़के ने समय पर सूद का मूल न चुकाने वाले कितने ही लोगों के मुंह तोड़ डाले हैं और आंखें फोड़

डाली हैं। वह जानते थे कि वह उनके उपर हाथ नहीं उठायेगा लेकिन यही खयाल उन्हें परेशान करता था कि अगर हाथ नहीं उठायेगा तो क्या करेगा? उन्होंने अपने भीतर एक सिहरन सी महसूस की और कुछ कहने के लिए मुंह खोला तो पाया कि आवाज़ बाहर ही नहीं आयी। उन्होंने दुबारा उंची आवाज़ में कहा, “सनिच्चर के।”

एक खामोशी थोड़ी देर के लिये फैल आयी। घाट पर विदेशी सैलानियों की चहल पहल जारी थी। दो चरसी अंग्रेज वहां से गुजरे तो माहौल की महक ने कुछ पलों के लिये उनके पैर अजगर कर दिये। उन्होंने धुएं की दिशा में गरदन घुमायी तो टी शर्ट वाले ने आंखों में आगे बढ़ने का इशारा किया। वह उन विदेशियों को खूब जानता था जो दशाश्वमेध घाट से खरीदी हुयी बीड़ी के बदले गांजा चरस पीने के लिए निवेदन किया करते थे। विदेशी दोस्ताना माहौल न देख कर आगे बढ़ गये। सिगरेट बारी-बारी सबके हाथों में जाती रही और धुंआ उड़ता रहा। सबकी आंखें लाल हो गयीं और भारी होने लगीं। नशा पानी में रंग की तरह धीरे धीरे घुल रहा था।

मंटू ने अब दोनों को भर नज़र देखा। उनका आत्मविश्वास वापस लौट आया था। उन्होंने थोड़ी देर टी शर्ट वाले की आंखों में देखा जो अब सहज हो गया था। गुस्से से तने स्नायुओं को उसने आराम दे दिया था और अब परिचित भाव से मंटू की ओर देख रहा था। उसकी आंखों में मंटू ने पढ़ा कि वह अब भी उनकी इज़्ज़त करता है लेकिन उसे भी पैसों की सख्त ज़रूरत है। मंटू अब फॉर्म में आ गये थे और वह उससे उसी तरह मुखातिब हुये जैसे वह बतौर छात्रसंघ अध्यक्ष अवनीश कुमार सिंह ‘मंटू’ हुआ करते थे।

“बियहवा क्यों नहीं कर लेते बे? तुम्हारे मइया केतना परेसान है।” उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा। टी शर्ट वाला न चाहते हुये भी मुस्कराया।

“काहें, अपने बरबाद हो गइला त चाहत हउवा कि हमहूँ हो जाई?” टी शर्ट वाले के इस बार बोलने से लगा कि यही उसका असली लहजा और आवाज है। शादी का नाम सुनते ही उसके चेहरे पर उलझन के भाव आने लगे। वह कश लंबे लेने लगा और धुंए को मुंह फुला कर देर तक मुंह में रोकने लगा।

“सादी कर लो गुरू, तुम्हारे बड़े भाई जैसे हैं, इसलिये ऐसी राय दे रहे हैं जो तुम्हें दूसरा कोई झांट नहीं देगा। पूरी दुनिया खुद सादी करके घूमत रही लेकिन जब पूछवा त कहीहन लोग कि नाहीं वे सादी मत करे, बहुत नरक चीज है।” मंटू भैया ने अपने स्टाइल में कहा। उन्होंने टांगें छितरा ली थीं और आराम से टेक लेकर बैठ गये थे। कमीज वाले ने भी चर्चा में हिस्सा लिया।

“गुरू आज नहीं तो कल, करना तो पड़ेगा, बिना सादी किये ज़िंदगी तो नहीं बीत सकती। बुढ़ौती बहुत नरक चीज है।” टी शर्ट वाले ने एक नज़र उसकी ओर देखा फिर एक नज़र मंटू की तरफ। उसके चेहरे की उलझन और बढ़ गयी।

“बे भइया सादी कर लें तो रक्खें कहां मेहरारू को और खिलाएं क्या? आप ही जइसे तो लोग हैं जो पइसा तो उठा लेते हैं लेकिन मूल त मूल, सूद देने तक में गांड फटती

है।" बात खत्म करते करते वह फिर से पुराने अवतार में जाने लगा लेकिन खुद को संभाला। उसने तय किया कि यह बात खत्म होने के बाद वह फिर एक बार मंटू भैया को शनिवार को पैसे देने के लिए धमकाएगा। मंटू ने देखा कि गुस्से में ही सही, उसने उन्हें काफी समय बाद भैया कहा है।

"बेकार चीज हौ सादी फादी।" टी शर्ट वाले ने झल्लाहट में कहा। गो उसकी आवाज में इस बात को लेकर पूरा विश्वास नहीं था।

मंटू पर नशे का जादुई असर हुआ था। वह खड़े हो गये। उनका शरीर हल्का हो गया था। ये लोग जहां ऊंचाई पर बैठे थे वहां से घाट का नजारा काफी नीचे और दिलकश था। मंटू को लग रहा था कि वह अगर दोनों बाहें फैला कर नीचे कूद जाए तो हवा में तैरते हुये पहुंचेंगे। नशा उन पर पैराशूट की तरह हावी था। वह कुछ कदम चलकर टीशर्ट वाले के पास गये। उनका इशारा समझ कर वह उठ खड़ा हुआ। मंटू उसके कंधे पर हाथ रखे हुये उसे किनारे पर ले आये और उड़ने का इशारा स्थगित कर उसे समझाने लगे।

"गुरु हमारी जिंदगी के बयालीस साल गुजर गये हैं। तुमको आज जइसा लग रहा है न कि तुम दुनिया की मां बहिन एक कर दोगे, तुम्हारे आगे कोई नहीं है, हमको भी वइसा ही लगता था। चुनाव जीते, पूरे सहर में डंका था, लगता था हम ही हम हैं। अध्यक्ष बस एक साल के लिए रहता है लेकिन हमको लगता था वह एक साल कभी खतमे नहीं होगा। अगले साल हम हार गये, फिर अगले साल लड़े फिर हार गये तो जइसे साला सब कुछ खतम, फिर पूरा दुनिया बेकार लगने लगा। सादी के लिये घर वाले दउड़ाए तो सादी बिना मन के कर डाले कि हेडेक खतम हो। लेकिन गुरु आज सोचते हैं तो अध्यक्षी का बहुत कम बात याद आता है और सादी का एक एक चीज याद आता है।"

बोलते बोलते मंटू की आवाज में भारीपन आ गया था। व्यक्तिगत बातें वह कम ही करते थे। कमीज वाला भी इस दुर्लभ मौके को सम्मान देता उनके पास खिसक आया।

"लगातार दो साल चुनाव हार गये तो पता चला कि हम एक दौ कौड़ी के पूर्व अध्यक्ष हैं जिसका बिना जोगाड़ राजनीति में दो कदम चलना मुस्किल है। हमको कोई कुछ समझता ही नहीं था। जो साले पहिले पैलंगी करते थे, वे पहचनबे नहीं करते थे। हमको लगने लगा कि हमारा कोई कीमत ही नहीं है लेकिन उसी समय सादी हुयी। हमको सादी से कोई उम्मीद नहीं थी गुरु लेकिन सादी के बाद जब तुम्हारी भउजाई आयी तो हमको लगा कि का झांट जइसन जिंदगी बितावत रहना अवनीस कुमार सिंह। हमारा बी कोई कदर है, अगर से राती को बारह बजे तक हम नहीं पहुंचते तो एक मिली हमरे बदे बिना खाना खइले बइठल रही। एकर मतलब समझेला ? लांड समझबा तूं ? सादी कर ला गुरु नाहीं त जिंदगी में कुछ हौ नाहीं।" उन्होंने अंतिम पंक्ति जनसभा स्टाइल में कही थी।

टी शर्ट वाला उनकी बात को गंभीरता से सुनता रहा। "पिछली दोनों तीनों बार भी समझाये थे लेकिन ऐसे तो कभी नहीं समझाए।" वह मन ही मन सोच रहा था। मंटू अपनी बात का सकारात्मक असर देख और जोश में आ रहे थे।

“गुरु हम दोनों एक दूसरे को देखे बिना नहीं रह पाते थे। माई बाउ कहे लगलन कि हो गयल एनकर नेतागिरी लेकिन बाद में देखो नगर निगम का टेंडर हमको कितना जादा मिलने लगा। नक्करऽबा सादी त कइसे जनबा कि एक दूसरे से झगड़ा करे में अउर दू दिन बिना बतियइले रहले के बाद मनावे में जवन मजा आवऽला उ अउर कउनो चीज में ना हौ।”

वह चुप हो गये थे। टी शर्ट वाला वहीं बैठ गया था। तीनों की नजरें कहीं दूर टिकी हुयी थीं जहां से बीता हुआ समय गुजर रहा था। मंटू की आवाज में अब ठहराव और इत्मीनान आ गया था।

“देख रहे हो टाइम कितना तेज भाग रहा है। तुम्हारे हमारे लोग चालीस पैंतालिस का होने के बाद आराम चाहते हैं। चालीस के बाद गाली गुफ्ता देवल, मारपीट करल, पुलिस से बेइज्जती करावल अच्छा ना लगऽला गुरु, यही से हम नेतागिरी छोड़ देहली। सादी करके जो लोग त्रस्त हैं उनको क्यों देख रहे हो। जिनकी सादी अच्छी चल रही है, उनको देखो। हमको देखो। गुरु एक चीज जान लो सादी में जादू है लेकिन तोहरे पल्ले जादू समझे के समझ होवे के चाही। केतने बेचारे दोस्त रहलन जो सादी के बाद हर समय मेहरारू से झगड़ही में लगऽल रहऽलन लेकिन हम लोग हमेसा एक दूसरे के लिए टाइम निकालते रहे, एक दूसरे को प्यार करते रहे। बेटा ए उमर में जइबा त पता चली जेतना बढ़िया टाइम बीतल हौ, या त बचपने में हौ या त फिर सादी के बाद हौ। जहां जहां हम लोग एक साथ घूमने गये, जानते हो उसका फोटो हम लोग दुबारा बइठ के देखते हैं तो फिर से वहीं पहुंच जाते हैं। फीरी में घूम आते हैं फिर से वहीं। बच्चा होने वाला था तो क्या क्या प्लानिंग किये थे हम लोग, और बच्चा होने के बाद जब उ हमको पहिली बार पापा बोला, तोरे भउजाई के अम्मा कहलस। इस सब कइसे समझबा? टाइम बहुत तेज भागता है गुरु, अब देखो हमारा लंडंडवा आठवीं में चला गया धीरे धीरे। इस टाइम हम किस काम लायक रहते, कउनो नहीं। अगर हम सादी नहीं किये रहते तो हमारे हाथ में आज इस उमर में क्या रहता? बताओ। तो कुल मतलब ई कि बुढ़ाई में कउनो काम न रही करे बदे तक कम से कम परिवार त रही, समझ में आयल?” मंटू भइया एक साधारण सिगरेट सुलगा कर पी रहे थे और टी शर्ट वाले के कंधे पर उनका हाथ था। वह उनकी बातों से काफी प्रभावित दिख रहा था। उसे लग रहा था इस बात पर सोचने की एक और भी दिशा थी जो न उसके दिमाग में अब तक आयी और न ही इसके बारे में किसी ने बताया था। कमीज वाले ने शिगूफा छोड़ा जिसे किसी ने नहीं पकड़ा।

“अभी त जवान हउवा मंटू भइया, चालीस बयालिस कउनौ उमर होला?”

टी शर्ट वाले के मन में मंटू की बातें लगातार गूंज रही थीं।

“पहिले त एतऽरे ना समझऽला भइया।” मंटू की बातों का असर उसकी आवाज और उसके लहजे से जाहिर था।

“कर लो गुरु कर लो। कई बार मेहरारू की किस्मत से अपनी किस्मत चमक

जाती है।" मंटू ने उपसंहार दिया। टी शर्ट वाला धीमे से उठा और जाने का उपक्रम करते हुये उसके पांव छूने लगा।

"चलत हई।" वह पलटा।

"खुस रहा।" मंटू ने आशीर्वाद दिया। टी शर्ट वाले के पीछे जाने के लिये कमीज वाला भी उठ खड़ा हुआ। थोड़ी दूर जाकर टी शर्ट वाला पलटा।

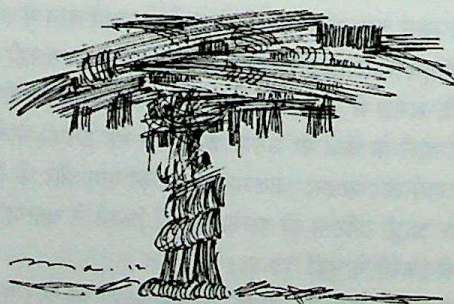
"पइसवा दे दा भइया, दउड़ा मऽत। ई सूद पर पइसा वाला काम हम बंद करब, हमें फलत ना हौ।"

"सनीच्चर के एकदम।" मंटू ने आश्वस्त किया।

दोनों सीढ़ियां चढ़ते हुये किसी गली में गुम हो गये। मंटू ने सिगरेट मसल कर फेंकीं। उनके चेहरे पर मुस्कान थी। उन्होंने काफी पहले सोच लिया था कि जो हुआ सो हुआ, अब भी वह समाज सेवा पूरे मन और ईमानदारी से ही करेंगे। यह खयाल आने के बाद वह यह दूसरा खयाल आने से मुस्करा उठे थे कि कई लोग इसलिए भी ईमानदार रह जाते होंगे कि उन्हें मनचाही बेइमानी करने का मौका ही नहीं मिल पाता होगा।

घाट का एक पुराना साधू काफी देर से बैठा उनकी बातें सुन रहा था। उसने मंटू से चिल्ला कर कहा, "काहे बदे ओकर जिनगी बिगाड़त हउवा नेता जी?"

मंटू ने उसे एक नजर देखा और घर की ओर चल पड़े। मोबाइल में उन्होंने अपने दोस्त का नंबर मिला लिया था ताकि उसे खुशखबरी दे सकें।



2013 में मीरा पुरस्कार से सम्मानित। नये कथाकारों में सर्वोच्च पहचान। पहला कहानी संग्रह 'डर', दूसरा 'मस्तूलों के ईर्द-गिर्द' और तीसरा 'उत्तर प्रदेश की खिड़की'। हाल ही में एक उपन्यास 'आधार' से आया है।

स्तंभ

रोहिणी अग्रवाल का अगला आलोचनात्मक आलेख 'विपात्र' (मुक्तिबोध) और 'नालंदा में गिद्ध' (देवेन्द्र) पर केन्द्रित है।

रोहिणी अग्रवाल

परिक्रमा की परितुष्ट संस्कृति और पीछे छूटते सवालों का क्षोभ

“उसने कहा था” और “रंगमहल में नाची राधा” के संदर्भ में

फुर्सत का ढेर सारा वक्त निकाल कर सूबेदारनी (उसने कहा था, चंद्रधर शर्मा गुलेरी) और दीवानबाई ('रंगमहल में नाची राधा', नीलाक्षी सिंह) के संग बतियाने बैठी हूँ। जानती हूँ एक सीमा पार करने के बाद अंतरंगता जब सम्मोहन बन कर भीतर-बाहर उतरने लगती है, तब हृदय की गुफाओं में टीसते भेद मुक्ति की कामना लिए खुद-ब-खुद बाहर आ निकलते हैं। लेकिन बीच में ही अंधड़ की तरह दौड़ कर सुरभि घोष आन टपकी। एक बड़बोली व्यस्तता के साथ हांफते-हांफते अपने आने का मकसद ही बता डाला- “अपनी एक कहानी में लिखा था (साठ साल की औरत, मृदुला गर्ग), साठ की होने पर औरत निरापद हो जाती है। कुछ भी करे, लोकापवाद नहीं होता। कितनी बेवकूफी की बात थी। जैसे लोकापवाद का न होना औरत को निरापद करने को काफी हो। और जो लोक से इतर अपना मनोजगत् है, उसका क्या? पर उसका अनुग्रह तो साठ की होने पर पता चलेगा न?” सुरभि ने एक पड़ताली नजर मेरी दोनों अतिथियों पर डाली। मैंने देखा, ससुर की खंखार सुन कर कपड़े-लत्ते समेट कर चौकन्नी होती कुलवधुओं की तरह तीनों (जी हाँ, सुरभि घोष भी) ने हृदय के गुफा-द्वारों पर कुंडी लगा दी। ‘मनोजगत्!’ एक-सी बुदबुदाहट के साथ तीनों के चेहरों पर एक-सी टीस पुत गई। पता नहीं, तनाव से सिरजे उस पल में क्या था कि आलोचक के ‘सुरक्षित आसन’ से उतरकर मेरे भीतर की स्त्री भी मनोजगत के कुंडी-तालों की पड़ताल में मशगूल हो गई। और तभी, एक अघट घट गया। हम चारों की आंखें जैसे ही एक ईमानदारी भरी कातर विवशता के साथ

मिलीं, कुंडियां-ताले भरभरा कर गिर पड़े। अब हम सब स्त्रियां थीं- हर तरह के भेद, विभेद और विभाजनों से परे एक ही तरह धड़कती मानवीय अस्मिताएं। जानती थीं इस सत्य को कि उम्र बेटे-बेटियों वाली होने की हो, या पोते-पोतियों वाली होने की, अपने तहखानों में घुस कर प्रेम की कुलांचे भरती अल्हड़ किशोरी को चोरी-चोरी तकने की हिम्मत भी नहीं जुटा पातीं।

“अरे आओ भी, तुम तो खासी दिलेर निकलीं। तहखाने के भीतर-भीतर बसे रंगमहल के द्वारों को जवांमर्दी से खोलना... और फिर तन्मय होकर नाचना...” सूनेदारनी का प्रशंसा मिश्रित उद्गार अंत तक आते-आते हार की गहरी उसांस में तब्दील हो गया, “कभी मैं भी गई थी रंगमहल को टोहने। लेकिन तहखाने में लगे मकड़जालों को साफ करने में ही घिर गई।”

दीवानबाई मुस्करा दी, मानो इस समय भी रंगमहल की ओर प्रस्थान कर रही हो। सुरभि की आंखों में गहरी उत्सुकता पढ़ उसने हम सबको साथ चलने का स्निग्ध निमंत्रण दे डाला। हमने देखा - “रंगमहल शमादानों की लौ से रौशन था। हवा के महीन झोंकों से कक्ष के श्वेत जहीन परदे इस कोने से उस कोने तक लहराते थे। रंगमहल के रंगोली सजे फर्श पर राधा के एक जोड़ी तलुवों की छाया पड़ी और कक्ष के शमादानों की शमा फक से बुझ गई। अब वहां शेष रह गई.. कक्ष के बीचों बीच छत से लटकते फानूस की मद्धम रोशनी। राधा के दाएं तलवे से फर्श पर एक थाप पड़ी और रंगोली के गुलाबी अबीर का धुंआ कक्ष में तैर उठा... मृदंग की थाप और पंजे-एड़ी की लय... रंगमहल अबीरमय हो उठा और एक-एक करके दीवारों के सारे रंग गुलाबी होने लगे... कक्ष की दीवारों के परदे नृत्यरत राधा के शरीर से लिपटने लगे और रंगमहल में कुछ भी न बचा.. सिवा प्रेम और आनंद के गुलाबी आवरण के।”

सम्मोहन का मकड़जाल देर तक अपनी गिरफ्त बनाए रखता है।

असल में सारा दोमदार उसके लौटने की यात्रा पर निर्भर है बंधे-बंधाए रीते हाथ लौटते हैं ? या मुक्त होकर अपने को पैनी नजर से देखने-संवारेने के विवेक के साथ ?

ठीक कहती है सूबेदारनी - रंगमहल में लगे मकड़जालों को साफ करने में ही घिरी रही वह।

“मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया।” सूबेदारनी के स्वर में 77 राइफल्स ब्रिगेड के सूबेदार की पत्नी होने का ठसका है, और पति के अधीन काम करने वाले जमादार लहनासिंह पर ‘कृपा’ करने का भाव भी।

“मुझे पहचाना?” वह पूछती है। पता नहीं, उसके स्वर में उमंग भरी अकुलहाट है या नहीं। पता नहीं, यह सवाल पूछते हुए कलेजा जोर से धड़धड़ाया या नहीं। पता नहीं, आशंकाओं के बादल घिर आए या नहीं कि न पहचाना इसने, तो? पच्चीस साल तक जिन कोंपलों को सींचती आई थी, वे यकायक मुरझा गई, तो?

कहानी में न सूबेदारनी की बॉडी लैंग्वेज है, न अंतर्मन की मुखरा चुप्पियां। सिर्फ शब्द की गूंजती टंकार है, ‘मुझे पहचाना?’ निरपेक्ष टंकार!

“नहीं।” उतना ही निरपेक्ष जवाब।

हो सकता है सपाट जवाब पर बहुत कुछ दरका हो भीतर ही भीतर, लेकिन सूबेदार के ओहदे के ‘औदात्य’ को घूंट-घूंट पीती सूबेदारनी बिना सकपकाए सूबेदार के अधीनस्थ जमादार को स्मृतियों के जंगल में ले चलती है, “तेरी कुड़माई हो गई... धतू... कल हो गई... देखते नहीं, रेशमी बूटों वाला मेरा सालू...”

पच्चीस बरस के अंतराल को पाट कर वह अमृतसर की तंग गलियों में होने वाली मुलाकातों के लिए आतुर दो बच्चों के चित्र लहनासिंह को दिखाती है - आठ बरस की लड़की, बारह बरस का लड़का।

पच्चीस बरस का अंतराल बहुत होता है। धुंधली पड़ती स्मृतियों के एलबम में लगी तस्वीरों के साथ रिश्ता ‘बैठाने’ में जोर लगता है। मनोवेगों की मंजूषा से अति-भावुकता पूरे वेग के साथ बह निकलती है, पच्चीस बरस तक सूखी-दरकी जमीन को सींचने के लिए। “रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आंसू पोंछता बाहर आया।” मैं दोनों को रोते देखती हूं और अपने से ही पूछती हूं, आंसुओं के इस प्रचंड वेग में क्या है - ग्लानि, पछतावा कि एक-दूसरे को याद किए बिना पच्चीस बरस कैसी बेखबरी में काट दिए? या चुस्त चौकस आत्मबोध कि आने वाले बरस इस मुलाकात की गीली जमीन पर लौट-लौट कर पनाह पाते रहेंगे? “वर्तमान को छोड़ कर अतीत में घुसने की जिद या आवश्यक रद्दोबदल के साथ अतीत को भविष्य के फ्रेमवर्क में पुनः अवतरित करने की कोशिश स्मृतियों की स्वायत्तता को भंग कर नॉस्टेलजिया में बदल डालती है।” मैंने अपनी शंका को शब्द दिए।

“नॉस्टेलजिया माने फ्लर्ट अदा... मौकापरस्ती का धारदार हथियार!” सुरभि घोष जितनी बड़बोली है, उतनी ही कंटिली भी।

सूबेदारनी का चेहरा फक् हो गया। जब अपने में लौटी तो बेहद अवांतर सवाल पूछ कर फिर चुप हो गई, “पूरी कहानी में क्या वाकई तुमने मुझे देखा?”

मैं सवाल के वजन के साथ ठिठके उस पल को वहीं छोड़ आगे बढ़ आई। पूरी तैयारी के साथ सवाल से मुखातिब होना ही ठीक रहता है। तब एक साथ कई आयामों को खोलते माकूल जवाब मिल जाया करते हैं।

भीतर के उजालों से आलोकित हुए बिना क्या बाहर के अंधेरों से लड़ा जा सकता है? बनाम “उम्र के इस मोड़ पर ये कैसा भटकाव था। जब उम्र थी, इच्छाएं थीं, भूख थी, तब जो सब नहीं कर पाई, उन चीजों की ओर अब... इतने सालों बाद! ये तो जीवन का अंत करीब आ रहा था। अब फिर से एक नया जीवन जीने की चाह! वह भी इतने दायित्वों में बंधी होने पर...”

यू असलियत यह है कि सूबेदारनी मेरा गंतव्य नहीं है। मैं दीवानबाई को पोर-पोर महसूस कर रही हूं और जान लेना चाहती हूं कि क्या दीवानबाई अकेली ऐसी स्त्री है जो “अग्नि के फेरे लेने के बाद सरद गई” या अमूमन हर भारतीय स्त्री ‘ठंडी सिल’ पर गृहस्थी की शुरुआत करती है? जिस अनुपात में स्कूली छोकरे और कॉलेज के ‘हीरो’ लड़कियों से इश्क फरमाते घूमते हैं, बेवफा हो जाने पर प्रेयसियों पर एसिड अटैक कर दिल की भड़ास निकालते हैं, उससे तो यही लगता है कि पढ़ने-खेलने-खाने के दिनों में इश्किया बुखार का आनंद लेना भी खूब चलन में आ गया है। न, इस मामले में लड़कियों की अनदेखी करना बिल्कुल ठीक नहीं। बराबरी के जमाने में प्यार करने की ‘पुरुष (?) कामनाओं’ से वे भला क्यों वंचित रहें? लेकिन दीवानबाई आज की युवती तो नहीं। वह है नाती-पोतों वाली साठ की वय की छूटी स्त्री। एकदम पारंपरिक विन्यास - आंखों के नीचे-ऊपर काजल... एड़ियों से आलते की लाली... भौंहों के बीच चवन्नी बराबर लाल सिंदूर की बिंदी... और पल्लू के आखिरी छोर में चाभियों का काल्पनिक गुच्छा। क्या ऐसी स्त्री भी प्यार कर सकती है? सवाल दरअसल सवाल है ही नहीं, शंका-असहमति और निश्चयात्मक दृढ़ता के साथ जवाब बन कर गूंजता है कि नहीं, चारों ओर से पातिव्रत्य की मर्यादा से कील दी गई औरत के पास इतना आसमान नहीं होता कि जरा सा उड़ने के बहाने बाहर के आसमान में विलीन हो जाए। विवाह के दुर्ग में प्रवेश करने से पहले भले ही भूलवश प्रेम कर ले, लेकिन अंततः भूल का परिमार्जन भी उसे ही करना है। चंपा (प्रसाद की कहानी ‘आकाशदीप’ की नायिका) की तरह जड़ आकाशदीप होकर लोगों को राह दिखाने की नजीर बन कर, या प्रेम के साथ जीने का हठ पाल ले तो जान्हवी (जैनेन्द्र कुमार की नायिका) की तरह कौओं से तेह नुचवाने की यंत्रणा का ‘लाउड’ निदर्शन करके। फिर ऐसा क्या हुआ कि दीवानबाई भूल (प्रेम) को ‘मन का सम्बन्ध’ बना बैठी? सन बासठ-तिरसठ के

दौरान हाईस्कूल पास करके कितनी ही लड़कियां शहर के इकलौते वीमेंस कॉलेज गई होंगी। आने-जाने के क्रम में पड़ोस के किसी सुदर्शन लड़के से आंखें भी मिली होंगी; संवाद-सिलसिला ज्यादा परवान न चढ़ा हो तो भी बुनियादी सूचनाओं का आदान-प्रदान तो हुआ ही होगा। छुप-छुप कर मिलने/देखने के अवसरों को चुराने की जुगतें भी लगाई ही होंगी। लेकिन यह तो उम्र का उफान है। तब से अब तक कितनी ही प्रेम कहानियां इस 'दुधमुंहे' प्रेम को लेकर लिखी गईं, सराह कर भुला दी गईं। कथा-नायिकाएं कथा से निकल कर असल जिंदगी में बुढ़ा गईं और घर के आंगन में जवान होती बेटियों के पंख कतरने के लिए मुस्तैदी से मोर्चे पर डट गईं। लेकिन ऐसा क्या हुआ कि अपनी तमाम हमउम्रों से बिछड़ कर यह अकेली स्त्री-दीवानबाई-उसी बच्चे दुधमुंहे प्रेम की गंध को लेकर इक्कीसवीं सदी की नई-नकोर दुनिया में निकल आई? निकली तो निकली, अपनी प्रेम कथा सुनाने भी बैठी? किसी हमउम्र कथाकार को नहीं, बेटे और पोती की बीच की उम्र में झूलती नीलाक्षी सिंह को?

जवाब ढूंढने के लिए मुझे ज्यादा दूर नहीं जाना पड़ा सवाल की इसी घुंड़ी में जवाब का सिरा मिल गया है। दीवानबाई ने अपनी कहानी किसी पुरुष - गुलेरी, प्रसाद, जैनेन्द्र - को नहीं सुनाई, स्त्री को सुनाई, वह भी चेतना के स्तर पर इक्कीसवीं सदी में अपनी वैचारिक पहचान बनाती स्त्री को, इस उम्मीद के साथ कि शायद रोमान के धुंधलके और आदर्शीकरण की चौंध से मुक्त हो वह उसके तलघर के सच को फ्रेम दर फ्रेम उभार पाए - एकदम सिनेमैटोग्राफिक इफेक्ट के साथ। मैं देखती हूं, ग्राहकों के कपड़ों पर कसीदाकारी करके पति की गृहस्थी चलाने वाली दीवानबाई की उंगली में सूई चुभी है। मुंह से एक आह निकली, लेकिन इस आह में दर्द सूई की चुभन का नहीं, मायके के तीन घर छोड़ कर चौथे घर वाले उस युवक से बिछुड़ जाने का है। मुट्ठी में बंधी मेहनत की कमाई के रुपयों को छूने का रोमांच 'उस मंगल मूरत सांवली सूरत' के लिए जमाने भर की नियामतें खरीद लेने की ललक में तब्दील हो गया है, लेकिन तभी सारी कोमलताओं को ढांपती बदली की तरह सिर पर दायित्वों का पहाड़ उठा लेने की कठोरता कहीं से चली आई है। पता नहीं क्यों, मुझे सूबेदारनी का अनुत्तरित सवाल दूने वोग से कोंचने लगा है - "पूरी कहानी के दौरान क्या तुमने वाकई मुझे एक बार भी देखा?" न, सूबेदारनी नहीं, दीवानबाई सख्तजान ज़िद के साथ अपने आपको काम में डुबोए दिखती रही ताकि "यादों से, और उन अंधेरों के सपनों से पीछा छुड़ा" सके। फिर भी अपने से लड़ना इतना आसान तो नहीं। मायके जाती तो लाख दृढ़ निश्चय के बावजूद "शाम के

लुकझुके में इसकी आंख तीन घर पार वाली छत से चिपक जाती। कहीं कुछ दिखे। शक्ल न... आकृति सही।”

सूबेदारनी के हिस्से में ‘प्रेम’ को पान की गिलौरी-सा चबाने का ‘सुख’ नहीं है। उसके पास हवा में तैरती स्मृतियां हैं कि दही लेने आया लड़का और बड़ियां लेने आई लड़की जाने क्यों मामा के लिए सौदा-सुलुफ लेने गाहे-बगाहे टकराने लगे हैं। लड़का किसी उम्मीद में बंध कर रोज पूछता है - तेरी कुड़माई हो गई? और वह ‘धतू’ कहकर भाग खड़े होने से पहले देखती है, लड़के की उम्मीद पर फिर एक नई कोंपल खिल उठी है। सूबेदारनी और लहनासिंह दोनों की विडंबना है कि उनके प्रेम को अंकुर जमाने के लिए अपने एक अदद घर की जमीन भी नहीं। ननिहाल का वह अल्पकालिक ठिकाना दोनों की पुख्ता भौतिक पहचान को छुपाता है। यात्रा के दौरान मिले दो अजनबियों की तरह सदा के लिए बिछड़ने को वे अभिशप्त हैं। इसलिए जब लहनासिंह सूबेदारनी को न पहचान पाने की बात करता है तो उसकी असमर्थता तुरंत समझ में आ जाती है। स्मृति जब किसी ठोस पहचान के साथ बंध कर किसी निश्चित देश-काल में जीती है, तभी नित नवा बनी रहती है वरना जिंदगी में आते-जाते यायावरों को याद रख पाना मुमकिन नहीं। इसी तर्क पर चल कर इसके ठीक विपरीत खड़ी सूबेदारनी की जिज्ञासा (‘मुझे पहचाना?’) मन में ढेरों शंकाएं जगाती है। सबसे पहले तो यही कि जिस लहनासिंह के गाम-धाम का उसे ज्ञान नहीं; जिसे जिंदगी में दुबारा वह देख-मिल नहीं पाई, उसे पहचाना कैसे? बारह बरस का बालक उम्र के उस मोड़ के इंतजार में खड़ा होता है जब दाढ़ी और मूँछ का खुरदरा जंगल उसके चेहरे से लड़कियों-सी लुनाई छीन कर मर्दानगी पोत दे। सैंतीस बरस के लहनासिंह का चेहरा-मोहरा, कद-काठी यकीनन बारह बरस के बालक लहना को बहुत दूर कहीं पीछे छोड़ आए हैं।

चलिए, मान लिया, किसी भी विधि से सूबेदारनी ने लहनासिंह को पहचान लिया, लेकिन यह बात गले नहीं उतरती कि उस आकस्मिक मिलन से उपजे संवेदनात्मक तनाव से कैसे अपने को संयमित कर लिया। यही नहीं, भावना में लिथड़ा लंबा सा ‘भाषण’ देकर भीख की झोली भी फैला दी कि “एक काम कहती हूं। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है। आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती। एक बेटा है, फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया... अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग!... इन दोनों को बचाना। यह मेरी

भिक्षा है।”

न! न!! न!!!

दीवानबाई असहमति में जोरों से सिर हिलाती है तो मुझे तीन घर छोड़ कर चौथे घरवाले प्रेमी के साथ उसकी आकस्मिक भेंट याद हो आती है। दोनों को बिछुड़े हुए चालीस साल का वक्फा बीत गया है। डेढ़ साल के पोते के साथ दीवानबाई मायके आई हुई है और प्रेमी कार-दुर्घटना में अपना पूरा परिवार खो चुका है। बातों में मशगूल दादी को चकमा दे पोता घर से बाहर ‘आवारगी’ के लिए निकला है। तीन चार घर छोड़ कर चौथे घर के हरसिंगार के पेड़ ने मानो उसे न्यूता भेजा है। पेड़ के नीचे गिरे फूलों को तल्लीनता से चुनने में मशगूल है वह। ढूँढ़ने आई दादी को वहां पोते के साथ अपना ‘सपना’ अधमुंदी आंखों से सोहता है, जमीन पर आकार ले ले तो व्यक्ति बौरा जाता है। फलतः “दीवानबाई की धड़कानों को होश न था। उसका जूड़ा ढलक चुका और आंचल छितरा पड़ा था। सीना सांसों को लिए-लिए ऊपर जाता और फिर पछाड़ खाता खुद को समेट लेता था। उसके खुले पाषाण चक्षुओं ने महसूस किसी के अपनी ओर तल्लीनता से देख कर बढ़ते आते कदमों की आहट को। इतनी नजदीकी थी कि अगर सामने वाले की आंख से कोई आंसू चूता तो दीवानबाई झटके से चेहरा आगे बढ़ा कर उन आंसुओं को अपनी जिह्वा पर ले सकती थी।”

अपने आप की मौजूदगी से बेखबर सुख में पगे इन पलों को क्या सूबेदारनी ने इतनी ही शिद्दत के साथ जिया होगा? या पुरुष-अहं में डूबे गुलेरी जी को स्त्री बन कर प्रेम की बारीकियों को जीना ‘पुरुषार्थ’ का अपमान लगा होगा? कहीं इसीलिए तो प्रेम-कथा का आभास देती कहानी को वे सायास देर तक युद्ध के मैदान में अटकाए नहीं रखते? प्रेम शुद्धतावादियों के लिए खासी असुविधाजनक शै है, इसीलिए प्रेम से आंख चुरा कर गृहस्थी के दंद-फंद में रोप देना उन्हें अपना नैतिक दायित्व जान पड़ता है। सूबेदारनी और दीवानबाई, इसीलिए, भावना के एक बिंदु से यात्रा शुरू करने के बावजूद दो अलग-अलग दिशाओं की ओर कदम बढ़ा देती हैं। इस प्रक्रिया में एक भीतर के अंधेरो को प्रेम की लौ से आलोकित करते हुए व्यवस्था पर ढेरों सवाल दागती चलती है तो दूसरी व्यवस्था की रक्षा के उद्योग में अंधेरो की गहरी खाई में छलांग लगा देती है।

दीवानबाई की ईमानदारी और भावप्रवणता मुझे आकृष्ट करती है। समझौता और समर्पण से भरी स्त्री-नियति को झेलते हुए भी वह अपने भीतर से उठती आवाजों को अनसुना नहीं करती। नीलाक्षी सिंह की खासियत है कि वे दाम्पत्य

सम्बन्ध और प्रेम दोनों को एक दूसरे की संगति में ही परखती-जांचती हैं। क्या किसी और के प्रेम में डूबी स्त्री समर्पिता पत्नी हो सकती है? या भीतर की प्रेमिका को मारने के बाद ही पत्नीत्व परवान चढ़ता है? नीलाक्षी के पास सवाल नहीं हैं। ये सवाल दरअसल एक पूरी परंपरा की बपौती हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित कर समय को एक ही बिंदु पर रोके रखने की सांस्कृतिक साजिश रचते हैं। वर्चस्वशाली ताकते हर बदलते काल-खंड में इन सवालों को उठाती रही हैं, और 'शुचिता' का फंदा डाल कर लीक तोड़ती स्त्रियों का आखेट करती हैं। अधिकचरे रोमान में डूबी स्त्रियां जब अपने आप को नहीं पहचानतीं, व्यवस्था के षड्यंत्रों को रचती परंपरा के स्वरूप को क्या खाक समझेंगी? बौद्धिक दीनता और भावनात्मक दुर्बलता स्त्री को सॉफ्ट टारगेट बनाते हैं। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' में राजेन्द्र यादव गहरी व्यंग्यात्मकता के साथ आखेट और आखेटक दोनों को बेनकाब कर जाते हैं। जाहिर है नीलाक्षी वक्त के साथ चलते हुए इस सवाल की परिक्रमा करने में वक्त जाया नहीं करतीं, बल्कि भीतर और गहरे उतरती हैं। पति या प्रेमी के रूप में इस या उस विकल्प को चुनने की बाध्यता ही क्यों, जबकि दोनों दो भिन्न-भिन्न जीवन-स्थितियों का यथार्थ हैं? जब जीवन बहु-आयामी और बहु-परती है तो स्त्री का मन ही स्लेट सरीखा सपाट क्यों? इसलिए दीवानबाई और चारित्रिक बुनावट में उनके भीतर-बाहर का सच बराबर का भागीदार रहा है और एक-दूसरे को सतत् प्रभावित करते हुए अपने आपको पुनर्सर्जित करता चलता है। हूक और संतोष, अतृप्ति और तृप्ति, ऐकांतिकता और सामूहिकता - बेशक दो विपरीत-युग्मों में सामने आते हैं, लेकिन क्या एक-दूसरे में लय होकर ही ये किसी भी पक्ष को समझने का समग्र विवेक नहीं देते? सुदामाप्रसाद के साथ बिताए चालीस बरस के सफल दाम्पत्य जीवन के बाद भी यदि कोई पुरानी स्मृतियों का सिरा थाम उसका आंखों में 'कुछ' खोजने का प्रयास करे तो पातिव्रत्य धर्म की पुकारें सुन-सुन अपनी आंख पर पट्टी क्यों बांधे वह?

न, आह्लादजन्य तनाव में कांपती किंकर्तव्यविमूढ़ता के बीच भी उन बीधती आंखों का एकसरे करने का चैतन्य उसमें है। वह जानती है अधेड़ प्रेमी जिस 'कुछ' को उसके भीतर, खोज रहा है, वह उसके चालीस बरस के दाम्पत्य में कमाई सारी भूमिकाओं और प्रसाद को फूंक की तरह उड़ाए जा रहा है; कि उस 'कुछ' को - अपने 'होने' को - तो उसने बचाए ही नहीं रखा, परंपरा-सर्जित बेवकूफी का अनुसरण करते हुए ढेर सारा अन्य-अन्य पाने के लोभ में मूल पूंजी सा अपना होना ही गंवाती रही। "किसी ने तो नहीं किया आज तक ऐसा! बाहर-बाहर जिसे जितना

मिला, उसके आसपास के लोग उतने ही तो मतलब रखते आए थे आज तक। ऐसे भीतर जाकर कुछ खोज निकालना! उसकी इच्छा हुई कि सामने वाले की आंखों को जिस चीज की तलाश थी उसमें, वह उसे और भीतर छुपा ले अपने में ताकि उस चीज की खोज में वे आंखें उसके भीतर तक उतर सकें। आंखों से भी भीतर.... और भीतर...।” खट् से उसकी चेतना पर यह स्थिति-विपर्यय जा टकराता है और सुदामाप्रसाद बनाम अंधेड़ प्रेमी दो विपरीत-युग्म बन कर अवतरित होने लगते हैं। सुदामाप्रसाद के अंतस को वह बाद में ‘पढ़ेंगी’, अभी अंधेड़ प्रेमी के मन के भीतर उतर कर उसके भी ‘मर्म’ को जान लेने की व्यग्रता उसे बनी हुई है। लेकिन वह पाती है कि उत्कट कामना के बावजूद दोनों एक्सप्लोरेशन की यात्रा स्थगित कर एक अभिजात अनुशासन के साथ व्यावहारिक दुनिया में लौट आते हैं। ‘स्व’ से ‘स्वत्व’ के बीच तक झूलती इस यात्रा में स्थगन का यह बिंदु क्या दुविधाजन्य पराजय है? या अपनी ही अधूरी शख्सियत को एक बार और खंगालने की जरूरत? दीवानबाई के सामने सवाल कुछ अलग ही तरह के हैं जहां किसी भी पुरुष या रिश्ते की आड़ लेकर उसे अपनी लाचारगी को जस्टीफाई नहीं करना है, बल्कि सारे स्टीरियोटाइप्स तोड़ कर अपनी छवि और दिशा को तलाशना है।

यह सचमुच चकित कर देने वाली बात है कि रीतिकालीन साहित्य के बाद प्रेम के संदर्भ में स्त्री देह या सेक्सुअल ऑब्जेक्ट के रूप में चित्रित नहीं की गई। वह भावनाओं के उदात्तीकरण और सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या के जरूरी आयामों को विश्लेषित कर मनुष्य के संदर्भ में व्यवस्था और समाज को देखने का परिष्कृत संस्कार देती रही है। हालांकि यह तथ्य भी काबिले-गौर और तकलीफदेह है कि आज समाज ज्यादा आक्रामक ढंग से स्त्री की वैचारिक चेतना को नष्ट करने के लिए उसे सैक्स सिंबल में विघटित कर रहा है, और छद्म आधुनिकता का लबादा ओढ़ कर इठलाती ‘सामंती स्त्रियां’ साहित्य और समाज दोनों जगह अपनी दैहिकता को ही री-इन्फोर्स कर रही हैं जो नहीं जानती कि प्रेम अपनी तासीर में मुक्तिकामी है। वासना की क्षुद्रता और विभेदों की संकीर्णता गला-जला कर वह जब एक लहर की तरह उमड़ता है, तो संवेदनात्मक विवेक में अपने को डाल लेता है। इसलिए पाने-छीनने का टुच्चापन इसके आसपास भी नहीं फटकता; तपने-निखरने का साधक-भाव अनायास इसकी पूंजी बन जाता है। दीवानबाई देखती है अभाग प्रेमी के लिए मन में उठा प्रेम का ज्वार वात्सल्य की फुहार में ढल गया है। ‘क्या औरत एक उम्र के बाद सिर्फ और सिर्फ मां रह जाती है?’ वह सवाल नहीं पूछती, अपनी परंपराग्रस्तता पर घनघोर असहमति व्यक्त करती है। नहीं, प्रेमी को शिशु में ढाल

कर वह प्रेम के स्वायत्त अपरिभाष्य चरित्र को परिभाषाओं की जकड़बंदी में कैद नहीं करेगी। वह सामान्यीकरण के सहारे स्त्री के महिमामंडन की झूठी स्तुतियां भी नहीं पढ़ेगी कि “औरत हर उम्र में सिर्फ और सिर्फ मां होती है।” वह रेखांकित करेगी और बलपूर्वक रेखांकित करेगी कि हजारों पारिवारिक-सामाजिक भूमिकाओं के बीच भी औरत प्रेम में सिक्त एक अनन्य स्वायत्त अपरिभाष्य चरित्र होती है।

“हर औरत के मन के एक कोने में कोई रंगमहल होता है और हर औरत के मन में एक राधा होती है” बनाम “छजली बनाई जाती है, ठहर का नजारा देखने को। ऊपर और नीचे का... और यह दोतरफा गोल जीना? यह क्यों बनाया गया था?”

मैं एक बार फिर सूबेदारनी के पास लौटती हूँ। परितृप्त मुस्कान के साथ वह दीवानबाई को एकटक निहार रही हैं। चेहरे पर तिल भर भी दीवानबाई का विलोम होने की ग्लानि नहीं। मानो वह कोई और ही सूबेदारनी थी जिसने लहनासिंह के भीतर-प्रेम-स्मृतियों के बिरवे रोप कर आगे बढ़ने के उसके पास सारे रास्ते कील दिए थे। तुम्हें याद है एक दिन टांगेवाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने इस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूँ। ‘इन दोनों’ यानी पति और पुत्र। मेरा मन करुणा से भर गया। लगा दीवानबाई के जरिए अपने प्रेम को वह पुनः जी रही हैं। कठोर-हृदय प्रेमिका के आरोपों और सती पत्नी के स्तवनों से मुक्त होकर वह अपने भीतर किसी दीवानबाई को अंगड़ाई लेते देख रही हैं। न, अपने रचयिता से क्या शिकवा-शिकायत करे वह? उनकी अपनी सीमाएं! अपनी दृष्टि! मर्द होकर जो जन्मा है, वह क्या जाने की स्त्री के अनुभव जगत में हीन-अपराधी होने के जो दंश और अपमान हैं, वे दूसरे पलड़े पर बैठे पुरुष के अनुभव-जगत के दर्प, अहं और स्वामित्व भाव से मेल नहीं खाते। भय, असुरक्षा, तनाव और अपराध-बोध साथ लेकर चलने वाली स्त्री में बेचारगी के साथ पसरा कुटिल चौकन्नापन पुरुष की आक्रांत कर देने वाली निर्द्वंदा और आक्रामकता को कभी पा ही नहीं सकता।

कैसी विडंबना है कि स्त्री की सारी दौड़ अपने को स्थापित करने के लिए है, और पुरुष की पूर्वाग्रहों/परंपरा की लाठी से हांक कर सबको एक खास दिशा की ओर दौड़ा लेने की। क्या इसीलिए गुलेरी जी के पुरुष-पूर्वाग्रह सूबेदारनी को मां और पत्नी से अलग विशुद्ध स्त्री के रूप में देखने की संवेदना से वंचित करते हैं? या

किसी भी विवेकशील प्राणी की तरह वे जानते हैं कि स्त्री हो या पुरुष- हर मनुष्य का अंतर्जगत् एक-से संवेगात्मक मनोभावों से सिरजा हुआ है। पुरुष के अंतर्मन का सच स्त्री का सच भी है। फर्क सामाजिक मर्यादाओं और वर्जनाओं का है जो स्त्री और पुरुष को दो विपरीत प्राणियों के रूप में उभारते हैं। साहित्य चूँकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मूलाधारों को पुख्ता करने वाली अनिवार्य संस्था मीडिया का बेशकीमती उपादान रहा है इसलिए स्त्री की सहजात मनोवृत्तियों को अपदस्थ कर उसकी जगह गढ़ी हुई सामाजिक संरचनाएं ट्रांसप्लांट की जाती रही हैं। परकीय प्रेम के प्रति लपलपाते पुरुष की असलियत से वाकिफ होने के कारण स्त्री के लिए 'स्वकीय' प्रेम की अनिवार्यता को नैतिक एवं सांस्कृतिक अर्हता बताया जाने लगता है। प्रेम की बात करते हुए भी गुलेरी जी का सूबेदारनी को खांटी मां-पत्नी के बिंब में प्रतिष्ठित करना उनकी इसी पुरुष-चित्त की कवायद है जिसकी जड़ों का एक छोर तात्कालिक अपेक्षाओं से जुड़ा है तो दूसरा सिरा भीतर ही भीतर परंपरा की उलझी जड़ों में घुलमिल कर अछोर हो गया है। इसलिए उनके यहां प्रेम अहसास की अनुभूति नहीं, इमोशनल ब्लैकमेलिंग का जरिया है। वह चुप्पी में संवाद नहीं करता, शब्दों के कोलाहल में अपने होने के दाम वसूलता है।

मैं चकित हूँ कि इस बड़बोली इमोशनल ब्लैकमेलिंग में कोई कैसे समर्पण और त्याग जैसी उदात्तताएं ढूँढ पाता है? प्रेम में होने की स्थिति को 'जताने' का भाव यहां दोनों तरफ बराबर के अतिनाटकीय अंदाज में मौजूद है। सूबेदारनी लहनासिंह से प्रेम के एवज में प्राणों का बलिदान चाहती है तो लहनासिंह बलिदान के एवज में कृतज्ञता को जीवनपर्यन्त उसकी स्मृतियों के साथ बांध दिए जाने का आश्वासन चाहता है। जंग के मैदान में गोली लगने से घायल लहनासिंह जानता है विदा की वेला निकट आ गई है। अंतिम समय में जीवन का सारा देना-पावना चुकता कर खाली हाथ विधवा के घर जाना चाहता है। इसलिए अंतिम अरदास के रूप में सूबेदार से कहता है - "सूबेदारनी होरां की चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कहना कि जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।"

परंपरागत पति के हृदय में जरा भी शंका या ईर्ष्या नहीं कि पत्नी ने गुपचुप मुलाकात में लहनासिंह से क्या कहा। मैं सारे दृश्य को एक बार फिर बारीकी से गुनने-बुनने लगी हूँ।

लहनासिंह को ड्योढ़ी में बुलाकर सूबेदार हजारासिंह ने कहा है - "सूबेदारनी तुमको जानती है, बुलाती है। जा, मिल आ।" यानी लहनासिंह की 'पहचान' को

लेकर पति-पत्नी में मशवरा हो चुका है। कहानी के पन्नों में वह दृश्य नहीं है। उस दृश्य की परिकल्पना मैं 'रंगमहल में नाची राधा' के जरिए करना चाहती हूँ। रात की निस्तब्धता में छप्पन वर्षीया दीवानबाई बासठ वर्षीय सुदामाप्रसाद से कह रही है - "शादी से पहले किसी और के साथ मेरे सम्बन्ध थे... मन के सम्बन्ध... मैं उसके पास लौटना चाहती हूँ... इस घर के सारे कर्तव्य पूरे कर दिए मैंने.... आपने कहा था आप मुक्ति देंगे मुझे। मुझे मुक्ति चाहिए।" सुदामाप्रसाद को काटो तो खून नहीं। इतना गहरा विश्वासघात ! कल तक जो पत्नी सती-सावित्री की तरह पुरखों का नाम रोशन करने वाली अमूल्य धरोहर लगती थी, आज पुंशक्ती लगने लगी। "मुक्ति तुम्हें मैं देता हूँ" - अपना आप खोकर दीवानबाई का टेंटुआ दबाते सुदामाप्रसाद के चित्र को मैं बीच में ही फ्रीज कर देती हूँ। नहीं, सूबेदारनी के साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। क्या सूबेदार सुदामाप्रसाद की तुलना में ज्यादा सहिष्णु, उदार और प्रगतिशील सोच का 'आधुनिक' इंसान था ? मेरा विस्मय अविश्वास की हदें छू रहा है - उस युग में, लगभग सौ साल पहले ?

नहीं !

दरअसल मुझे दीवानबाई के सहारे सूबेदारनी को पढ़ना ही नहीं चाहिए था। दोनों स्त्रियों के सिरजनहारों की मिट्टी अलग-अलग है। तब जरूर सूबेदारनी ने एक सुरक्षित दूरी बना कर लापरवाही भरे अंदाज में लहनासिंह के साथ किसी उड़ती सी पहचान का जिक्र किया होगा। हो सकता है लहनासिंह के खानदान को अपने पिता-बाबा के अहसान तले दबा भी बताया हो। इससे भरोसा दिलाना आसान रहा होगा कि मेरे मायके का यह जवान लड़ाई के मैदान में तुम्हारी हिफाजत भी करेगा। बस, एक बार अकेले में उसे पुराने दिनों का हवाला दे दूँ।

मैं जानती हूँ दीवानबाई की पारदर्शी निर्भीकता के बरक्स सूबेदारनी का 'तिरिया चरित्तर' समूची स्त्री जाति के आत्माभिमान पर प्रहार कर रहा है, लेकिन सूबेदारनी भी क्या करे। मनुष्य या स्त्री के रूप में कहानी में आई होती तो मुंह खोल कर प्रतिवाद भी करती। वह तो मां और पत्नी की कठपुतली बन कर कहानीकार के निर्देशों पर अपना 'खेल' खेल रही है। इसलिए अंत तक उसका कपट सच्चरित्रता की कसौटी बना रहा और 'स्वामी' (पति और बॉस) होने के अभिमान में सूबेदार पत्नी और लहनासिंह दोनों का भरपूर इस्तेमाल करता रहा। यह गुलेरी जी की पुरुष-दृष्टि का कमाल है कि कहानी लहनासिंह-सूबेदारनी दोनों को अपदस्थ कर सूबेदार को केन्द्र में ले आती है। वर्चस्वशाली वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कुर्बान चढ़ते सम्बन्ध।

हैं तो दूसरे छोर पर मादाम बावेरी के साथ खड़े फ्लाबेयर गुस्ताव मुझे दीख पड़ते हैं। 'उसने कहा था' से बिल्कुल उलट है 'मादाम बावेरी' उपन्यास। विश्वासघात और प्रवंचना के सहारे दाम्पत्य सम्बन्ध की स्निग्धता और गहनता में संध लगा कर बिंदास भाव से परकीय प्रेम को छकती स्त्री। उपन्यास पढ़ती जाती हूं और पृष्ठ-दर-पृष्ठ मादाम बावेरी को लंपट पुरुष के संस्करण में विघटित होते देखती हूं। पति मि. बावेरी करुणा और सहानुभूति की लहरें तीव्रतर करता चलता है। मन में प्रवंचिता पत्नी के सामानांतर प्रवंचित पति के अक्स उभरने लगते हैं। तनाव का बिंदु घनीभूत होने लगता है - विवाह और प्रेम एक-दूसरे के अनिवार्य शत्रु क्यों? लेखक से गंभीर विश्लेषण की अपेक्षा नहीं करती क्योंकि जिस क्रमिक ढंग से विश्वास और पूर्वाग्रह के तंतुओं को बुनते हुए वह मादाम बावेरी और मि. बावेरी के चरित्र-चित्रण में काले-सफेद रंग का प्रयोग कर रहा है, उससे स्पष्ट है कि मादाम बावेरी को नैतिकता के कठघरे में खड़ा होना ही होगा। उसकी तिलमिलाहटें, आकांक्षाएं, जीवन की शून्यता का बोध और उसके पार जाकर अपने को खोजने के अवसरों का अभाव, पुरुष (सफल) को स्त्री जीवन का अंतिम सपना मानने का संस्कार और आरोपित स्त्री-नियति से मुक्त होकर अपना जीवन स्वयं चुनती स्त्री का आग्रह-सब उसकी दुश्चरित्रता के घटाटोप में घिरते चलते हैं। सतह पर शेष रहती है पितृसत्तात्मक व्यवस्था को बचाए रखने की लेखकीय सावधानी। स्त्री द्वारा अपनी निरर्थक दिनचर्या को अपमान भरे भाव के साथ महसूसने और उसके विरुद्ध अपने को अभिव्यक्त करने का स्पेस पाने की तड़प??? में रचित किसी भी रचना में मिलती है तो समझ आता है कि स्त्री को 'मनुष्य' के रूप में देखे जाने की संवेदना हमारे समाज में हमेशा से रही है, लेकिन सामाजिक संरचना को बनाने वाले निहित स्वार्थ उन्हें रचनात्मक परिप्रेक्ष्य और संवाद का बिंदु बनाने का अवकाश नहीं देते। इसलिए जब 'मादाम बावेरी' और 'द डॉल्स हाउस' के काल में जाकर मेरी वॉल्टनक्राफ्ट को 'द विंडिक्टिव?????' रचते देखती हूं तो एक स्त्री-चिंतक द्वारा अपनी अनुभूति को उतनी ही तिलमिलाहट के साथ अभिव्यक्त करने की बेचैनी भी सारे संदर्भों के साथ उजागर हो जाती है।

मैं देख रही हूं कि 'उसने कहा था' से निकल कर सूबेदार ने जैसे ही 'रंगमहल में नाची राधा' की चौहद्दी में कदम धरा, वह सुदामाप्रसाद सिंह बन गया है। पत्नी की मिमियाते देखने की आदत है इस शख्स को। इसलिए दीवानबाई को अपनी जिंदगी की आधार जरूरत समझते हुए भी ठेंगे पर रखता है। संग-संग चलने

की आस में दीवानबाई चालीस बरस के इस तिल-तिल अपमान को भूल भी रही है और संजो कर रख रही है। वह जानती है उसकी निजता और सपनों को बेदखल कर सुदामाप्रसाद ने उसे अपना उपनिवेश बना लिया है, लेकिन वह स्वयं उसकी जिंदगी के किसी भी लम्हे में शामिल नहीं। “न वो, न उसकी परछाई।” और घर की दूसरी-तीसरी पीढ़ी है कि पिता-दादा की परछाई बन कर दीवानबाई की सेवाएं लेना तो मंजूर करती है, अपनी जिंदगी में जगह देना नहीं। यहां तक कि छः साला पोता भी अनजाने ही बाप-दादा की बोली बोलता है। “दादी न रहे तो प्रसाद कौन देगा?” अपने होने को साबित करने के लिए अमूमन हर औरत गाहे-ब-गाहे यह बेहूदा सवाल पूछ अपने को और भी असुरक्षित और वल्लरेबल कर डालती है। सो दीवानबाई ने भी पूछा - प्यार और आश्वासन की मरहम की आस में। पर जवाब में उसके लिए सम्बन्ध या आत्मीयता का कहीं कोई कोना नहीं - “दादी नहीं रहेगी तो हम पूजा करेंगे और प्रसाद और किसी को नहीं देंगे।”

दीवानबाई के लिए हर ठोकर अपनी मंजिल के और अधिक नजदीक पहुंचने की डगर है।

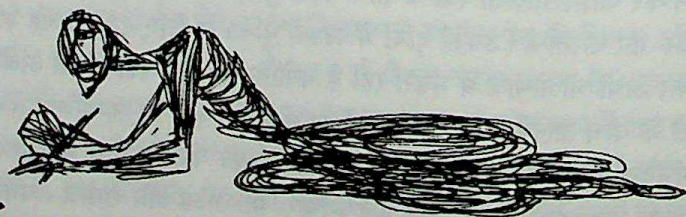
जाहिर है सतीत्व की प्रतिष्ठा के लिए रची गई सूबेदारनी जितनी कृत्रिम और जड़ लगती है, दीवानबाई उतनी ही प्रामाणिक, ठोस और प्रखर। दरअसल यह कहानी कुछ एक मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए रची गई है - जैसे सबसे पहले वह दाम्पत्य सम्बन्ध और प्रेम को दो विपरीत-युग्मों (अपोजिट बाइनरी) में बांट कर देखने की बजाय इस सवाल से दो-चार होना चाहती है कि क्यों दाम्पत्य प्रेम स्त्री को वह ऊर्जा, आत्मसम्मान और गति नहीं दे पाता जहां निर्द्वंद्व भाव से अपने होने को महसूस कर सके? क्यों दाम्पत्य सम्बन्ध दायित्व की यांत्रिकता में सिमट जाता है जहां न अपने को एक्सप्लोर करने की दिशाओं का ज्ञान रहता है, न हृदय तक उतरती संवाद की भाषा? साथ ही यह सवाल भी मानीखेज है कि सम्बन्धजनित ऊब और थकान अत्यधिक सुरक्षा के कारण है या आदत-अभ्यास के कारण? देह की संतति के इर्द-गिर्द बुने इस सम्बन्ध में मन के तार क्यों नहीं जुड़ते? या इसे ही पलट कर कहा जाए तो प्रेम में ऐसा क्या विलक्षण है जो प्रिय के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बनाता है, अपने प्रति भी उतना ही चैतन्य करता चलता है? एक साथ आत्मविस्मृति और आत्म-चैतन्य की इस अवस्था को दाम्पत्य सम्बन्ध में पाना इतना कठिन क्यों है? या प्रेम के नाम पर जिस कसकते रोमांच को व्यक्ति अपने अंतःस्थल में सजाता है, वह दरअसल प्रेम नहीं, प्रेम की स्मृतियां हैं; व्यक्ति अपने से बाहर किसी भौतिक प्राणी को प्रेम नहीं करता, उस प्रिय के प्रेम में डूबी अपनी खुमारी को

ही प्रेम करता रह जाती है ? इस सवाल की समाज का संदेह देने पर धू भी पूछा जा सकता है कि क्या प्रेम में आत्माभिव्यक्ति का अवसर न मिलने के कारण ही स्त्रियाँ किशोरावस्था के 'क्रश' को प्रेम, प्रेम को सपना, सपने को मनोग्रंथि में तब्दील कर अपराध-बोध से संकुचित होती रहती हैं ? नीलाक्षी सिंह के सामने सवाल की यही टंकार है। जमीनी यथार्थ के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त हो वे फैंटेसी के स्तर पर इस सवाल से मुठभेड़ करती हैं। उनकी नजर में प्रेम का सम्बन्ध प्रिय और प्रिय के सान्निध्य-सुख से बाद में है, पहले यह अपने आप को प्यार करने और अपने से अंतरंग मुलाकात करने की लालसा में व्यक्त करता है। अपने से प्यार करना आत्मरतिग्रस्तता नहीं, अपने को मुकम्मल इंसान के तौर पर जानना है जहां रिश्तों और दायित्वों की लंबी फेहरिस्त के बाद एक अदद नाम और व्यक्तित्व के साथ अपनी पहचान महत्वपूर्ण है। दीवानबाई का बरसों की लापरवाही को परे फेंक कर झांवे में फटी एड़ियां रगड़ना, दर्पण के सामने आंख में आंख डाल कर भीतर तक अपने को निरख लेना दरअसल आत्मसाक्षात्कार की जरूरी कोशिशें हैं जो नई दृष्टि के साथ समय को देख लेने का विवेक देती हैं। दीवानबाई के इस नए व्यक्तित्व के बिना नीलाक्षी फैंटेसी का सृजन नहीं कर पाती हैं। इस फैंटेसी में पाने-पजेशन- का भाव प्रमुख नहीं है, समाज की वर्जनाओं से दोहरी जिंदगी जीती स्त्री की मुक्ति-कामनाएं हैं। नीलाक्षी सिंह यहां दीवानबाई को अपदस्थ कर केन्द्रीय महत्व उसकी दिवंगत सास को देती हैं जो अपनी पहचान, भूमिका, श्रम और ज़िद को पढ़ाती रही; और रात के अंधेरे में रेलगाड़ी में मूंगफली-भूँजा बेच कर भौतिक जरूरतों के लिए पैसा कमाती रही। "निम्नमध्यवर्ग की हकीकतें कभी-कभी बड़ी चौंकाऊ हुआ करती हैं"- नीलाक्षी लिखता हैं और उन हकीकतों को त्रासदियों में बदलती हड़बड़ाहटों को रेखांकित करती हैं। गाड़ी के डिब्बे से नीचे उतरते वक्त संतुलन न साध पाने के कारण रेल के नीचे कट कर जान गंवाई है सुदामाप्रसाद की मां ने। रात के अंधेरे में शहर के रेलवे स्टेशन की पटरियों पर कुलीन स्त्री की कटी लाश-संदेह क्यों न करे कोई। नीलाक्षी स्त्री के साथ चस्पां कुलीनता और निष्क्रियता के मिथक को तार-तार करती हैं। उनकी दृष्टि में अपनी मुक्ति के लिए तड़पती यह स्त्री प्रेत बन कर अभी भी समाज में मंडरा रही है क्योंकि वह देख रही है कि अंधेरे और उजाले के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश में स्त्रियां अब भी सामाजिक वर्जनाओं को मजबूत किए जा रही हैं। जिस पल गला दबाते पति के हाथ को झटक कर दीवानबाई उठ खड़ी होती है, वह पल आचार-संहिताओं और समाज-व्यवस्थाओं की जड़ता को तोड़ कर अपने को मुक्त कर लेने का पल है। सास की प्रेतात्मा का

दीवानबाई को मायके के घर से चौथे घर की चौखट पर छोड़ कर आना और फिर स्वयं मुक्त हो जाना बेहद सांकेतिक ढंग से स्त्री को एक नया व्यक्तित्व देने की कोशिश है जहां आत्म-निर्णय की स्वतंत्रता उसके भीतर जिजीविषा, उमंग और आत्माभिव्यक्ति की दृढ़ता का संचार करती है। यह ठीक वह स्थल है जो “साठ साल की औरत” कहानी में डॉ. चंद्र के साथ अलग-अलग दिशा से जीना चढ़ती सुरभि को जीवन और प्रेम के संदर्भ में अपने ठोस वजूद की पहचान कराता है।

एक कहानी जब अपने भीतर बहुत सी कहानियों की स्मृति और छाया ले आए तब वक्त को सीमित प्रेम से मुक्त कर अखंडता और अनवरतता में देखना आसान हो जाता है। मुझे ‘रंगमहल में नाची राधा’ बेहद पसंद है क्योंकि यह प्रेम को परिभाषित करने वाले क्लीशे नहीं गढ़ती, प्रेम के इर्द-गिर्द लिपटे पूर्वाग्रहों के मकड़जाल हटा कर दोनों को एक-दूसरे की आंख की सीध में देखने का संस्कार देती है।

मैं देख रही हूँ सधे पांवों से चलती सूबेदारनी इस बार अपने रंगमंडल में प्रवेश कर गई है। न, आत्मलीन भाव से नाचने का होश नहीं उसे। वह फूट-फूट कर रो रही है - शायद आंसुओं के सैलाब में आरोपित स्वार्थपरता और काइयापन बहा सके। लहनासिंह को श्रद्धांजलि देने की पात्रता वह इसके बाद ही जुटा पाएगी।



प्रियम अंकित

भूत जो कुछ चाहते थे वह पूरा हो चुका था..

हम लोग खैरियत से पहुंच गये हैं। नयी जगह है। नया माहौल है। नये सिरे से जमने का मसला है। इसमें कुछ वक्त तो लगेगा ही। लेकिन दिल को यहां बहुत सुकून है। दंगे फसाद का कोई खौफ नहीं। किसी गैर की गुलामी नहीं है। जो कुछ है, सब अपना है, मुसलमानों का है। बंगाली मुसलमानों का रहन-सहन और तौर-तरीके हम लोगों जैसे नहीं हैं। इन पर हिंदुओं का बहुत असर है। नमाज़-रोज़े के पाबंद जरूर हैं। पहचानना मुश्किल हो जाता है कि कौन हिंदू है और कौन मुसलमान है। उर्दू ये बिल्कुल नहीं जानते। कल्चर के लिहाज से, इन्हें हिंदू कहना ज्यादा सही होगा। हिंदुओं के दबाव ने इन्हें इस्लामी तहजीब से बिल्कुल अलग कर दिया है। खैर, अब गैर-बंगाली मुसलमानों के आ जाने की वजह से इनकी हालत भी सुधर जायेगी।

- छाको की वापसी

बदीउज़्ज़मा का उपन्यास छाको की वापसी, कई स्तरों पर, पाकिस्तान बनने के पहले और बाद में, मुस्लिम समाज के निम्नमध्यम वर्ग में, साम्प्रदायिक तंगनज़री द्वारा निर्मित विभाजन के रुमानी ख्वाबों की निरर्थकता को अभिव्यक्त करता है। पूरे उपन्यास में 'एब्सर्डिटी' या 'निरर्थकता' का बोध हावी है। ऐसा नहीं है कि यह निरर्थकता विभाजन के कारण है। मुसलमानों के बीच प्रबोधन की जो परंपरा सर सैय्यद अहमद खान से शुरू हुई, वह आखिर तक मुस्लिम अभिजातवर्ग और उच्चमध्यवर्ग तक ही सीमित रही। मुस्लिम लीग का 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' भी मुस्लिम अभिजातवर्ग के हितों द्वारा ही अनुशासित था। अतः 'प्रबोधन' और 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' मुस्लिम जनसंख्या के बड़े हिस्से, यानि निम्न-मध्यवर्ग और निम्न वर्ग, के लिए ऐसे रुमानी ख्वाब की तरह रहे, जिन्हें हर कदम पर ज़मीनी सच्चाईयों से

टकराकर चकनाचूर होना था। बदीउज़्ज़मा का यह उपन्यास मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज के ठहरे हुए जीवन में विभाजन के विशोभ द्वारा उत्पन्न हलचलों, इन हलचलों द्वारा लाये गये परिवर्तनों को दर्ज करता है। मगर इस तरह कि, इन परिवर्तनों की सतह दिखने वाली गति अंततः भ्रम साबित होती है। जो हाथ आता है, वह है चिर-परिचित ठहराव, और परिवर्तन की निरर्थकता।

इयान स्टीफेंस ने अपनी पुस्तक **पाकिस्तान** में यह ध्यान दिलाया है कि विभाजन की हिंसा में भारतीय उपमहाद्वीप में हलाक हुए लोगों की संख्या की तुलना द्वितीय विश्व-युद्ध में संपूर्ण ब्रिटिश कॉमनवेल्थ में मारे गये लोगों की संख्या में की जा सकती है। विभाजन बीसवीं सदी के भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास का सबसे क्रूर, हिंसक और त्रासद यथार्थ था। लेकिन यथार्थ को अंजाम दिया सांप्रदायिक घृणा और विद्वेष के रूमानी ज्वार ने। *छाकों की वापसी* घृणा और नफरत के ज्वार से उपजे यथार्थ को यों दर्ज करता है, *“बहुत थोड़े से लोग थे जो कह रहे थे कि यह सब गलत हो रहा है। लेकिन उनकी कोई सुनता नहीं था। सबके सिरों पर जैसे भूत सवार हो गये थे और सब भूतों की जबान में ही बोल रहे थे। लेकिन पाकिस्तान बनने के बाद एकाएक भूत जैसे उन्हें छोड़कर अलग हो गये थे। भूत जो कुछ चाहते थे वह पूरा हो चुका था और उन्हें, इन लोगों की अब कोई ज़रूरत नहीं थी।”*

छाकों की वापसी में जो मुस्लिम समाज है, वह देश के उस सीमावर्ती भाग का हिस्सा नहीं है, जहां विभाजन की हिंसा का खूनी खेल सीधे-सीधे खेला गया था। यह गया शहर की मुस्लिम आबादी की दास्तां है जिसने सांप्रदायिक उन्माद के ज़हर और बंटवारे की हिंसा के खूनी छोटों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया था। पाकिस्तान के स्वप्न को एक जुनून की तरह हाथों हाथ लिया गया था। देश के जो आम मुस्लिम जन सांप्रदायिकता के उन्माद में शरीक थे, वे इससे अंजान थे कि बंटवारा अपने साथ विस्थापन लायेगा, अपने पुरखों की ज़मीन-जायदाद छोड़कर दर-बदर होना पड़ेगा। यह विस्थापन संशय और अविश्वास के माहौल के बीच उन्हीं के गले की हड्डी बन जायेगा - *“पाकिस्तान तो बन गया, अब क्या करें? यह सवाल हर दिमाग में उभरता था लेकिन किसी के पास भी इसका माकूल जबाब नहीं था। कोई कहता, पाकिस्तान चले जाना चाहिये लेकिन घर बार छोड़कर नयी जगह जायें तो कैसे जायें? जाने कैसे लोग हों, कैसी आबोहवा हो, कैसी ज़बान हो, कैसी तहजीब हो? कोई कहता, हिंदुस्तान में ही रहना चाहिये। हमारा मकसद पाकिस्तान बनवाना था। वह पूरा हो गया। मुसलमानों को एक मुल्क मिल गया। हमारे लिये यही बड़ी बात है। हमारा वहां जाना क्या*

ज़रूरी है ? लेकिन दूसरे ही क्षण उसका दिल आगे बढ़ने खतरों के खौफ से भर जाता। हिंदुस्तान में जान-माल की हिफाज़त हो भी सकेगी या नहीं ?”

पाकिस्तान को मुसलमानों के लिये एक जन्नत के रूप में परिकल्पित किया गया था। यहां उन जन्नत की हकीकत नमूदार होती है। मज़हबी बुनियाद पर मिलने वाली मुक्ति का रूमान तार-तार होता है।

पाकिस्तान नयी जन्मी एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं था। इसे एक राष्ट्र के रूप में कल्पित किया गया था - मुस्लिम राष्ट्र के रूप में। हर भौगोलिक इकाई को वैधता मिलती है राष्ट्रवाद की सिद्धांतबद्ध प्रेरणाओं द्वारा। ये राष्ट्रवादी प्रेरणायें अपने बरक्स किसी विदेशी और अपने से विषमांगी ‘अन्य’ को गढ़ती हैं। इस ‘अन्य’ के प्रति असहिष्णुता जितनी अधिक होगी, राष्ट्रवादी प्रेरणायें उतनी ही पुष्ट होंगी। पाकिस्तान के संदर्भ में यह ‘अन्य’ हिंदू था। बदीउज़्ज़मा पूरी साफगोयी से इसे स्पष्ट करते हैं कि पाकिस्तान बनने के बाद हिंदू-मुस्लिम विद्वेष का अंत नहीं होना था, बल्कि एक राष्ट्र के रूप में हिंदुस्तान और पाकिस्तान का अस्तित्व ही इस द्वेष के तीव्र होने, खिंचने और गहराने पर ही निर्भर था। तब से लेकर आज तक यह विद्वेष लगातार बढ़ा है। सैंतालीस के बाद भारत और पाकिस्तान की राजनीति में उग्र राष्ट्रवादी फासीवादी हस्तक्षेप लगातार बढ़ा है। आज़ादी के पैंसठ साल बाद भी विभाजन अब भी बदस्तूर जारी है। भारत में रहने वाले मुसलमानों में खौफ भरा जा रहा था हिंदुओं के प्रति। मगर इस खौफ की असली वजह थी एक राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का निर्माण, जिसने भारत में रूके मुसलमानों के मन में असुरक्षा का बोध उत्पन्न कर दिया था - “हबीब भाई को हाल ही में रेलवे की नौकरी मिली थी। बनारस में रेलवे ट्रैफिक अकाउंट्स में काम करते थे। छोटे अब्बा रोज़ अपना फैसला बदल रहे थे। छोटी अम्मा का असर जब हावी हो जाता तो वह हिंदुस्तान में ही रहने की ठान लेते। लेकिन आफिस के बहुत से मुसलमान साथी, जब हिंदुस्तान में मुसलमानों को पेश आने वाली मुसीबतों का बड़ा ही खौफनाक और डरावना नक्शा खींचते तो छोटी अम्मा का असर भाप की तरह उड़ जाता।”

छोटी अम्मा की तरह बहुत से लोग थे, जो सांप्रदायिक उन्माद के ज्वार से अछूते तो नहीं थे, मगर उसके असर से इतना प्रभावित भी नहीं थे कि इस ज्वार का हिस्सा बन सकते। मुस्लिम निम्नमध्यवर्ग में से कई लोग पाकिस्तान जा चुके थे, लेकिन, “जुलाहे, दर्जी, राज मज़दूर, कसाई और इस तरह के निचले तबके, वे दूसरे लोग मुहल्ले में वैसे ही मौजूद थे, जैसे पहले थे। इतनी तादाद बढ़ी ही थी, घटी नहीं थी।” छाको इन्हीं में से एक है। वह मुस्लिम निम्न वर्गीय परिवार से है और

पेशे से दर्जी है। कपड़े सिलना उसका खानदारी पेशा है, लेकिन अपने अब्बा से उसकी नहीं बनती। वह देश के अलग-अलग शहरों में कुछ-कुछ दिन ठहर कर दर्जी की दुकानों में काम करके जो कुछ भी कमाता है, उसमें से वह अपनी बेवा बहन जनवा को कुछ भेजता रहता है।

मुस्लिम लीग के 'पाकिस्तान' का जो अभिजातवर्गीय मिजाज था, वह सीमावर्ती क्षेत्रों में मुस्लिम निम्न वर्ग पर कहर बनकर टूटा, उसे ज़बरदस्ती वतनबदर होना पड़ा। लेकिन दूसरी तरफ, अन्य हिस्सों में यह 'पाकिस्तान' निम्नवर्गीय मुसलमानों को अपने से जोड़ नहीं पाया। देश के वह हिस्से जो विभाजन के नाटक में सीधे-सीधे शरीक नहीं थे, वहीं इससे प्रभावित होने वाली जो मुस्लिम जनसंख्या थी, उसमें उच्च और मध्यमवर्ग के लोगों की संख्या ही अधिक थी। उपन्यास इसकी तस्दीक यों करता है - *"जानेवालों में तकरीबन सब के सब पढ़े-लिखे नौकरी-पेशा लोग थे या फिर वे लोग थे जिनके पास काफी रूपया-पैसा था। हमारे मुहल्ले के हाजी अब्दुल करीम पाकिस्तान बनने के तुरंत बाद ही ढाका चले गये थे और सुनते हैं कि वहां उनका लाखों का कारोबार है। वैसे हिंदुस्तान में भी उन्होंने कुछ कम तरक्की नहीं की थी।"* इसलिये छाको के खत का पाकिस्तान से आना और यह पता चलना कि वह वहीं पहुंच गया है, 'अजीब-सा' लगता है - *"जैसे कोई ऐसी घटना घटी हो, जिसकी उमीद न हो।"*

उपन्यास इसका विश्वसनीय साक्ष्य देता है कि विभाजन दरअसल भूगोल से लेकर मानव-संस्कृति के अनेकानेक स्तरों पर चलने वाली प्रक्रिया है। मुहल्ले और फल्गू नदी के घाट का बंटवारा भयानक सच्चाई है। मुहल्ले और नदी के घाट, सहिष्णुता की मानवीय सांस्कृतिक विरासत पर आधारित सामूहिकता हो, साकार करते हैं - *"ख्वाजा खिजर की फातिहा सिर्फ मुसलमान ही नहीं दिलाते थे। हिंदू मल्लाह और हिंदू धोबी भी यह फातिहा कराते थे। वे भी फल्गू नदी में ख्वाजा खिजर के बड़े बहाया करते थे।"* फिर भी मोहल्ला दो अलग-अलग हिस्सों में बंट गया, फल्गू नदी के भी दो घाट बन गये - एक हिंदुओं का और दूसरा मुसलमानों का। मोहल्लों और नदी-घाटों के बंटवारे से शुरू हुआ यह सिलसिला देश के बंटवारे तक चला, और आज भी चल रहा है - बाबरी विध्वंस और गोधरा दंगों में।

छाको की वापसी मानव जीवन में धर्म की अहमियत के रूमान को भी ध्वस्त करता है। उपन्यास यह सवाल उठाता है कि धर्म की रचनात्मक भूमिका का सदियों पुराना बखान क्या आज के संदर्भों में सही साबित हो रहा है? यदि धर्म की रचनात्मक भूमिका आज के संदर्भों में वास्तव में प्रासंगिक होती तो क्या विभाजन

अपने खूनी नरसंहार के साथ अस्तित्व में आ पाता ? कौन हैं भारतीय उपमहाद्वीप के वे मुसलमान जिनके लिये पाकिस्तान बना ? क्या उनके और हिंदुओं के पुरखे एक नहीं थे ? क्या मजहब बदल जाने से इंसानी रिश्ते खत्म हो जाते हैं । उपन्यास चेतना-प्रवाह शैली में इन प्रश्नों को संबोधित करता है । ढल्लनसिंह का चरित्र, जिसने मुस्लिम स्त्री निजयनी से प्रेम में पड़कर इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था, वाचक के इन्हीं प्रश्नों के बीच आकार लेता है - “कभी-कभी उस स्थिति की कल्पना मुझे खासी दिलचस्प लगती है, जब कुछ लोगों ने अपना मजहब छोड़कर, दूसरा मजहब अपना लिया होगा । इनकी बिरादरी के बहुत सारे लोग, अपने पुराने धर्म को ही मानते रहे होंगे । नये मुसलमान, जो अब उनके सहधर्मी नहीं थे, उनसे किस तरह मिलते जुलते होंगे ? क्या ये अपनी बिरादरी से बिल्कुल कट गये होंगे या उनसे संपर्क बना रहा होगा ? शायद इनका संपर्क तो बना रहा होगा लेकिन दोनों के बीच एक तरह की दूरी भी जरूर आ गयी होगी । और कुछ नहीं तो शादी ब्याह के संबंध तो जरूर ही खत्म हो गये होंगे । धीरे-धीरे यह दूरी और भी बढ़ती गयी होगी और कई पीढ़ियां गुजर जाने जाने पर दोनों बिल्कुल भूल गये होंगे कि दोनों एक ही नस्ल और एक ही बिरादरी के हैं । धर्म बदल जाने की वजह से दोनों इस हद तक एक दूसरे से दूर चले गये होंगे । लेकिन इस अलगाव के बावजूद कुछ ऐसे तत्व बाकी भी रह गये होंगे । जिसकी हैसियत दोनों की सम्मिलित विरासत की रही होगी, चाहे दोनों में से किसी को भी ऐसा एहसास न हो ।”

उपन्यास इस कड़वी सच्चाई का साक्षात्कार कराता है कि धर्म का जुनून ऐसी दीवारें पैदा करता है जो नस्ल और बिरादरी के नैसर्गिक संबंधों पर किस कदर भारी पड़ती हैं और इंसान, इंसान का दुश्मन बन जाता है । लेकिन सबसे बुनियादी सवाल यह है कि क्या धर्म मनुष्य को मनुष्य से दूर करके, उसे नफरत के ज्वार में उलझा कर, उसकी आकांक्षाओं को तृप्त कर पाता है - “एक दूसरे से निरंतर अलग होते जाने की यह प्रक्रिया कितनी पेचीदा और उलझी रही होगी । जो चहारदीवारी सदियों से चली आ रही थी, उससे बाहर निकलकर इन नये मुसलमानों ने कैसा महसूस किया होगा । उन्होंने अपने लिये जो नयी चहारदीवारी बनाई थी, वह किस हद तक उनकी पुरानी चहारदीवारी से मेल खाती थी ? क्या सचमुच नये धर्म में उनकी आकांक्षाओं को तृप्त किया होगा या एक छलावे की तरह अपनी चमक-दमक दिखाकर उन्हें हताश कर दिया होगा ?”

मुस्लिम भाईचारे के जिस स्वप्न को पाकिस्तान अवधारित करता था, क्या वह भारतीय महाद्वीप के मुसलमानों के सामाजिक संदर्भों में प्रासंगिक था ? ऊंच-

नीच और वर्गीय अंतर्विरोधी की जो दीवारें भारतीय मुसलमानों के मानस में पहले से मौजूद थीं, उनके रहते मुस्लिम भाईचारे का वह उग्र तेवर, जिसका इस्तेमाल अन्य संप्रदायों के खिलाफ मुसलमानों को एकजुट करने के लिये किया गया था, क्या एक छलावा या भ्रम के अलावा कुछ और साबित हो सकता था ? जिस दौरान मुस्लिम भाईचारे का नारा देकर पाकिस्तान को संकल्पित किया जा रहा था, उसके संदर्भ में वाचक के अब्बा का यह विचार एक तलख सच्चाई को प्रस्तावित करता है - *“खून और जात बेबुनियाद चीजें नहीं हैं। जानवरों तक की नस्ल देखी जाती है। इंसान क्या जानवरों से भी गया-गुजरा है ? जब जानवरों की कद्र भी, उनकी नस्ल के लिहाज से की जाती है तो इंसान की नस्ल को अहमियत देना किस तरह गलत हो सकता है।”* ये अब्बा के निजी विचार हैं जो उनके व्यक्तित्व का अटूट हिस्सा बन चुके हैं। वे स्पष्ट मानते हैं कि जुलाहे, जुलाहे ही रहेंगे, और सैयद, सैयद ही रहेंगे। लेकिन यह बातें, वह मोहल्ले के लोगों के सामने नहीं किया करते। उनके सामने तो वह मुस्लिम भाईचारे की दिखावटी और लुभावनी बातें ही करते, जैसे कि नीची जाति के महमूद खलीफा से यह कहना कि “आदमी की असली बड़ाई तो उसके अमल में है। अच्छे काम करने से ही, इंसान अच्छा माना जाता है। वली के घर में शैतान पैदा हो जाये तो वह वली तो नहीं हो जायेगा। इस्लाम ने तो सबको बराबर दर्जा दिया है। कोई बड़ा है न छोटा। बस आमाल अच्छे होने चाहिए।” हबीब मियां जिस नज़र से पाकिस्तान के बसने का ख्वाब देख रहे हैं वह तो इस तथाकथित मुस्लिम भाईचारे की पोल ही खोल देता है - *“उनका खयाल था कि जाहिल और गंवार मुसलमान पाकिस्तान ही जायें तो अच्छा है। पढ़े-लिखे मुसलमानों को ही वहां जाना चाहिये। ये लोग पाकिस्तान के लिये मुफीद होंगे और इनको भी पाकिस्तान से फायदा पहुंचेगा। छाको जैसे लोग वहां पहुंचने लगे तो मुसलमानों का यह नया मुल्क क्या खाक तरक्की करेगा। इस तरह के लोग हिंदुस्तान में ही रहें तो अच्छा है।”* ऐसी स्थिति में यदि पाकिस्तान बनने के बाद भी चटगांव (पूर्वी पाकिस्तान) में बिहारी मुसलमानों और बंगाली मुसलमानों के बीच दंगा भड़क उठता है तो कैसा आश्चर्य!

मुस्लिम भाईचारे से ही जुड़ा हुआ रूमान है जेहाद का। मुसलमानों को विधर्मियों के खिलाफ उग्र रूप से लामबंद करने में जेहाद की भावना का इस्तेमाल किया जाता है। सदियों पुराने धर्मयुद्ध के अरबी जेहादियों की रूमानी मूर्तियां गढ़ी गयीं। उपन्यास अरबी जेहादियों से जुड़े रूमानी मिथकों पर ऐतिहासिक यथार्थ के हथौड़े से करारी चोट करता है - *“...अरब जब किसी शहर या मुल्क को फतह करते थे तो गनीमत का माल सिपाहियों में बांट दिया करते थे। सोना-चांदी,*

हीरे-जवाहरात खूबसूरत औरतें, - ईमा की कूवत के अलावा, इन चीजों की हवस भी उन्हें नयी दुनियाओं की तरफ खींचकर ले जाती थी। लेकिन हमेशा फतह और कामयाबी के फूलों से ही इनके दामन नहीं भरते थे। शिकस्त और पसपाई के कांटे भी, इनके जिस्म और चेहरे को लहलुहान कर देते थे। पराजित होकर, जब ये अपने घर को लौटते थे तो इनके चेहरों पर निराशा, अपमान और क्षोभ की अमिट रेखायें दिखाई देती थीं...।''

पाकिस्तान बनने के बाद भी क्या आम मुसलमान को इसी शिकस्त और पसपाई का सामना नहीं करना पड़ा ? उसके चेहरे पर भी निराशा, अपमान और क्षोभ की अमिट रेखायें नहीं दिखाई पड़ीं।

उपन्यास विभाजन के दौरान मुस्लिम राजनीति की यथार्थ पड़ताल करता है। यह लीग के मुस्लिम भाईचारे वाले उन्मादी रूमान की ही पोल नहीं खोलता, वरन कांग्रेस की हिंदू-मुस्लिम भाईचारे की दोगली राजनिति का भी भंडाफोड़ करता है। गांधी भाई का चरित्र इसी प्रसंग में महत्वपूर्ण है। गांधी भाई हैं तो मुसलमान, मगर कांग्रेस का सदस्य होने के कारण और लीग का विरोध करने के कारण उन्हें व्यंग्य में यह नाम दिया गया है। गांधी भाई हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर हैं और इसके लिये अपनी जान भी दे देते हैं। कांग्रेस ऐसे ईमानदार जज्बातों वाले मुसलमानों का इस्तेमाल अपनी हिंदू-मुस्लिम भाईचारे की छवि गढ़ने के लिये बड़ी कुशलता से करती है। लेकिन ऐसे ईमानदार लोगों के हाथ आती है मुफसिली, जिल्लत और अपने सहधर्मियों की गालियां। वहीं दूसरी तरफ "और भी तो कांग्रेसी लोग थे। कोई भी तो ऐसा लापरवाह और बेफिक्र नहीं था। सब राजनीति में हिस्सा लेते थे और जेल भी जाते थे। लेकिन बीवी-बच्चों को भूखों मारकर नहीं। सबने ही खानदान के लोगों के लिये अच्छा इंतजाम कर रखा था। सत्यानंद सिन्हा को ही देख लीजिये। गांधी के अच्छे दोस्त थे। पक्के कांग्रेसी थे। हमेशा खादी के कपड़े पहनते थे और कई बार जेल जा चुके थे। लेकिन क्या मजाल जो बीवी-बच्चों को उनकी गैरमौजूदगी में रोटी कपड़े की कोई दिक्कत हो। थोड़े दिन के लिये ही जिला बोर्ड के चेयरमैन बने थे। लेकिन इस थोड़े से अरसे में ही इतना कुछ जोड़ लिया था कि बीवी बच्चे आराम से रह सकते थे। बिसार तालाब पर कितनी बड़ी दो मंजिला कोठी बनवा ली थी। ऊपर का हिस्सा किराये पर उठा रखा था। नकद था सो अलग। लीडरी भी चल रही थी और बाल-बच्चे भी मजे से पल रहे थे।''लीगी और कांग्रेसी भ्रष्टाचार की पूरी बानगी मौजूद है उपन्यास में।

उपन्यास में वाचक के नितांत निजी अनुभवों और चेतना-प्रवाह शैली द्वारा

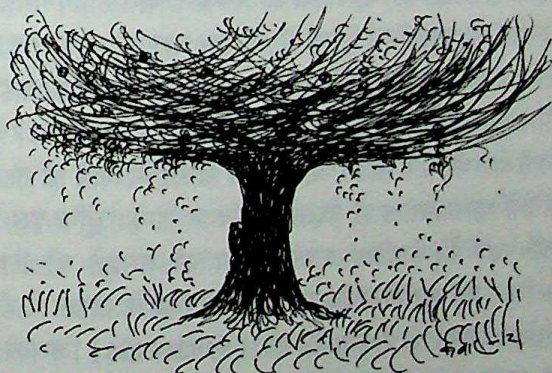
संपूर्ण कथा का ताना-बाना बुना गया है। वास्तव में निजी अनुभवों और चेतना-प्रवाह द्वारा कथा को गढ़ना आधुनिकतावादियों और अस्तित्ववादियों की मनपसंद तकनीक है। लेकिन उपन्यास में बदीउज़्ज़मा ने इस तकनीक का इस्तेमाल इस तरह किया है कि 'वाचक के यह निजी अनुभव और चेतना प्रवाह शैली, उस पूरे सामाजिक संदर्भ को जीवंत कर देती है जिसमें विभाजन की प्रक्रिया होकर गुजरते मुसलमानों के जीवन की नीयति का साक्षात्कार किया जा सकता है। चेतना-प्रवाह शैली के कुशल इस्तेमाल द्वारा लेखक मध्यवर्गीय मुसलमानों की जड़ता और आत्मग्रस्तता के बरक्स छाको जैसे निम्नवर्गीय मुसलमानों की जीवंतता और बहिर्मुखता को आमने-सामने ('जक्सटापोज') रख देता है। छाको को धोखे से पाकिस्तान पहुंचाया जाता है, अपने अंजाने ही वह पाकिस्तान का नागरिक बन जाता है। लेकिन वह पाकिस्तान में रहना नहीं चाहता। वह अपने मोहल्ले के प्रति जीवंत लगाव को कभी कम नहीं होने देता। अपने खतों में वह अपनी मिट्टी के लिये बिलखता है, एकदम बच्चों की तरह मोहरम के जुलूस की यादों का जिक्र करता है। लेकिन राष्ट्र के रूप में उभरते भारत और पाकिस्तान को उसका यह बचपना अखरता है। भारत और पाकिस्तान दोनों ही अपने नागरिकों से समझदारी बरतने की अपेक्षा रखते हैं। समझदार वही हैं जो वीजा और पासपोर्ट के कानूनों से इत्तेफाक रखते हैं। जो समझते हैं कि अपनी संवेदनशील मनःस्थिति के अनुसार काम करना भावनाओं में बह जाना है। जो इस मनःस्थिति पर काबू पाकर अपने दिल और दिमाग को आश्वस्त करते हैं कि वीजा की मियाद खत्म होने के बाद भी रूक जाना, 'फारेनर्स एक्ट' का उल्लंघन है, और इसकी सजा कानून के मुताबिक दी जानी चाहिये - "छाको का पासपोर्ट मेरे सामने खुला रखा है। वह पाकिस्तान का नागरिक है। कानून मेरे दिल और दिमाग पर हावी हो चुका है। मैं बड़ी रूखाई से कहता हूँ - 'नहीं भाई यह कैसे मुमकिन है? तुम इस मुल्क के बाशिंदे अब नहीं हो। हां, वीजा लेकर तुम जरूर आ सकते हो। लेकिन मुल्क तुम्हारा पाकिस्तान ही है।' लेकिन छाको कहता है - "जेहल दे दे चाहे फासी, हम तो छोड़ के न जैबई अपन घरवा।" इसे छाको का बचपना माना जाता है, मगर यह 'बचपना' उस 'समझदारी' के मुँह पर तमाचे की तरह पड़ता है जो भारत और पाकिस्तान को मानवीय नज़रिये से निहायत संकीर्ण सीखचों में कैद करके राष्ट्रों के रूप में विकसित करना चाहती है। उपन्यास का एक अंश है -

"लेकिन यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि इस दीवार ने पुराने, अविभाजित घाट के अस्तित्व को ही खत्म कर दिया था। दीवार यह अहसास जगाये बगैर नहीं रहती थी कि कभी एक ही घाट था, जो अब दीवार की वजह

से दो हिस्सों में बंटा नजर आता है।

घाट दो हिस्सों में बंट ज़रूर गया था लेकिन अक्सर यह विभाजन अपना असर खोने लगता था। एक घाट के लोग नदी के लंबे चौड़े सीने पर तैरते हुए अक्सर दूसरे घाट पर पहुंच जाते थे। लेकिन जब झगड़े फसाद का डर होता तो लोग अपने-अपने घाट पर ही जमे रहते, दूसरे घाट पर कदम न रखते। ऐसी स्थितियों में घाट को बांटने वाली दीवार सचमुच बहुत कारगर और सार्थक साबित होने लगती थी।''

यह अंश हमारी साझा विरासत की नदी, जिसके सीने लंबे चौड़े हैं, पर बने भारत और पाकिस्तान रूपी घाटों की व्यंजना करता है। रैडक्लिफ रेखा नाम की दीवार को कितनी बार मानवीय संवेदना की लहरों में धुंधलाया है, और कितनी बार मजहबी तंगनज़री ने नफरत की कुदालें चला-चला कर इस रेखा को और गहरा बनाया गया है।



राहुल सिंह

देह, धर्म और राज्य के इलाके में

एक सुदीर्घ रचनाकाल जो साढ़े तीन दशकों (1980-2014) तक फैला हो, और विकासशील भी हो, का मूल्यांकन अलग किस्म की दुश्वारियां लेकर आता है। पहली मुश्किल तो यह कि उसकी शुरुआती कमजोर कहानियों के साथ क्या सुलूक किया जाये? दूसरी यह कि वही कमजोरियां रचनाकार के बतौर स्थापित हो जाने के बाद दिखाई पड़े तो क्या किया जाये? और इस बीच उसने इतनी उम्दा कहानियां लिखी हों कि उनके सौ गुनाह माफ कर दिये जायें तो बातचीत की बुनियादी टेक क्या होनी चाहिए? समझदारी यह कहती है कि शुरुआती कमजोरियों को दरकिनार किया जाये, बाद की कमजोरियों की दरियाफ्त की जाये और उम्दा कहानियों की मुफ्त कंठ से प्रशंसा की जाये।

बतौर कहानीकार प्रियवंद पर बात करने की राह में सबसे बड़ी मुश्किल उनकी सुदीर्घ कथा-यात्रा है, जो 1980 से अनवरत जारी है। गनीमत इतनी है कि इन वर्षों में उन्होंने 40 कहानियां लिखी हैं, जो इस बात की भी सूचक है कि उन्होंने फरमाइशी लेखन को तरजीह नहीं दी है। (प्रियवंद की सारी कहानियां संवाद प्रकाशन से 'आईना घर' के दो खण्डों में प्रकाशित हैं)। उनकी इस रचनागत निष्ठा के कौन से नतीजे उभर कर सामने आये? इसे जानने के लिये यों तो जरूरी है कि उनकी कहानियों का समग्रता में विश्लेषण किया जाये। चूंकि इस बात का पूरा अवकाश यहां नहीं है। इसलिए उनके लेखन को समझने की लिहाज से एक सुविधाजनक विभाजन कर लेना बेहतर होगा। प्रियवंद के लेखन में तीन चरणों को सहजता से लक्षित किया जा सकता है। एक (1980-1985) जिसको उनके लेखन का आरंभिक चरण कहा जा सकता है। 1986 में उनके लेखन में आये शिफ्ट के

मद्देनजर इसे उनके लेखन के प्रस्थान बिन्दु के बतौर देखा जा सकता है। (1987-1997) के बीच प्रियंवद अपने सबसे बेहतर फार्म में दिखते हैं और (1997-2007) उनके लेखन की ढलान है।

1980 में 'बोसीदनी' के साथ उन्होंने हिन्दी कहानी की दुनिया में दस्तक दी। 'सारिका' की कहानी प्रतियोगिता में इसे तृतीय पुरस्कार से नवाजा भी गया। पर आज 'बोसीदनी' को पढ़ें तो उसके शीर्षक से इतर कुछ याद करने लायक नहीं लगता है। एक किस्म की अस्पष्टता से कहानी आक्रांत लगती है। भ्रूण हत्या और उस पर भी स्त्री शिशु भ्रूण हत्या से जुड़ी यह कहानी, कहीं से भी भ्रूण हत्या की संवेदना से सम्बद्ध कहानी नहीं जान पड़ती है। मातृत्व को यह कहानी जरूर कटघरे में खड़ा करती है। लेकिन अपनी बाद की कहानियों (बसंत-सा, 1986) में प्रियंवद मातृत्व को पूरा सम्मान देते नजर आते हैं। इसी साल आई एक दूसरी कहानी 'होंठों के नीले फूल' में भी पहली कहानी-सी अस्पष्टता व्याप्त है। बल्कि इसमें एक किस्म की बनावटीपन को भी लक्ष्य किया जा सकता है। बूबा नाम की स्त्री और जिस पतंग लूटने वाले बच्चे के मध्य यह कहानी घटित होती है, उस बच्चे की पृष्ठभूमि के बारे में प्रियंवद का मौन कहानी को कमजोर करता है। प्रियंवद पूरी कहानी में एक पतंग लूटने आये बिन मां के बच्चे को जिस कलात्मक आस्वाद, मानसिकता परिपक्वता और भाषागत अधिकार से सम्पन्न दिखलाते हैं, वह बात हजम नहीं होती है। कहानी में प्रियंवद की यह हरकत कहानी की कृत्रिमता को पुष्ट करती है। पर साल भर के भीतर ही प्रियंवद की कहानियों में एक बदलाव देखने को मिलता है। 1981 और 1983 में क्रमशः प्रकाशित उनकी कहानियों 'कैक्टस की नाव देह' और 'एक पीली धूप' को पढ़ें तो एक किस्म की रोमानियत और भावुकता के दर्शन होते हैं, जिसके लिए बांग्ला साहित्य रहा है। यह दोनों कहानियां एक ही भाव दशा की कहानियां हैं। 'एक पीली धूप', 'कैक्टस की नाव देह' का एक विस्तारित अंश जान पड़ती है। 'कैक्टस की नाव देह' में बनि की पुत्री यह पूछ कर लौट जाती है कि 'मैं आपकी बेटी क्यों नहीं हुई?' 'एक पीली धूप' में मानो मद्रिमा ही उसकी बेटी के रूप में शाश्वती की कोख से पैदा होती है और मद्रिमा की तरह छुट्टियों में लौटती नहीं है बल्कि ठहर जाती है। इन दोनों कहानियों में प्रकृति एक आलम्बन के बतौर बहुत मजबूती से प्रियंवद की कहानियों में अपनी जगह बनाती दिखती है। आगे चलकर प्रकृति प्रियंवद की कहानियों में एक महत्वपूर्ण घटक के तौर पर उभरती है। इसके साथ ही पात्रों के मुख से रोचक जानकारियों को बयां कराने का एक टोटका भी इन कहानियों में लक्ष्य किया जा सकता है। इसके बाद

‘जुगली का रथ’ (1983) प्रियंवद की कहानी यात्रा में एक विचलन-सा प्रतीत होता है। नक्सलवादी विचारधारा के प्रति सहानुभूति व्यक्त करती यह कहानी, बहुत प्रभावी नहीं जान पड़ती है। ‘दो बूढ़े’ (1984) जीवन दर्शन को लेकर गढ़ी गयी कहानी है, जो जीवन के प्रति दो नज़रिये के मूल में उनके जीवन अनुभवों को रख कर जीवन की सापेक्षता को उजागर करती है। ‘आक्रांत’ (1984) पुनः अस्पष्टता के साथ नमूदार होने वाली कहानी है। जंगल एक प्रतीक, एक रूपक के बतौर कहानी में व्यवहृत होती तो जरूर है, पर कहानी को पढ़ते हुए बात कुछ बनती-सी नहीं जान पड़ती। ‘बूटी बाई की नथ’ (1985) राजनीति और अपराध की आपसी सांठ-गांठ की कहानी है, जिसका सबसे पठनीय अंश उसका आखिरी वाक्य है कि “‘देश का नक्शा नथ में झूल रहा था।” 1980 से 1985 के बीच छपी इन कहानियों की तुलना में इसके बाद की छपी कहानियों में प्रियंवद बहुत बदले और सधे हुए कहानीकार के तौर पर उभरते हैं। पिछली कहानियों की कमजोरियाँ अप्रत्याशित रूप से कम होनी शुरू होती हैं, उनकी खूबियों को सहेजने का एक उपक्रम भी दिखने लगता है। ‘बच्चे’ (1985) में वे अपनी पिछली कथा भूमि के अतिक्रमण का प्रयास करते नजर आते हैं। अब तक की कहानियों में बूढ़े और बच्चों के जो रेखाचित्र प्रियंवद खींचते आ रहे थे, उसके सम्यक दर्शन पहली मर्तबा ‘बूढ़ा काकुन फिर उदास है’ (1985) में देखने को मिलता है। यह एक मर्मस्पर्शी कहानी है। इसमें गढ़न की अतिरिक्त कोशिशें नहीं हैं। यह प्रियंवद की उन कहानियों में से है जिनकी केन्द्रीय संवेदना इकहरी हैं। इकहरी संवेदना वाली ऐसी बेहतरीन ‘प्वाइंटेड कहानियाँ’ प्रियंवद ने आगे चलकर दी हैं। इस कहानी में वैसी कहानियों के उत्स को देखा जा सकता है। इस तरह से देखें तो 1985 तक प्रियंवद की उपरोक्त दस कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इन कहानियों में यों तो साहस के अभाव में उपजी एक किस्म की अस्पष्टता, बंगला साहित्य की रोमानियत को हिन्दी में संभव कर सकने की ललक, रोचकता को कहानियों में घुला देने की जद्दोजहद, प्रकृति को एक विश्वस्त साझीदार के तौर पर उभारने की कोशिशें दिख रही थीं। पर इन कहानियों में जो सर्वाधिक ध्यानाकर्षक थी, वह थी प्रियंवद की भाषा। संभव है कि इसका एक कारण प्रियंवद का 1975-76 से कविता में हाथ आजमाने का उपक्रम रहा हो। कहानियों में जुटायी इसी शुरुआती जमा-पूँजी को राह-खर्च के बतौर रख कर प्रियंवद किस्सागोई के अपने सफर में निकल पड़ते हैं।

1986 में प्रियंवद की तीन कहानियाँ प्रकाशित होती हैं। ‘उस रात की वर्षा में’, ‘बसंत-सा’ और ‘आर्तनाद’। इन कहानियों और इस वर्ष की उनकी कहानी के

सफर में एक प्रस्थान बिन्दु की तरह प्रस्तावित करने की प्रमुख वजह प्रियंवद की इन कहानियों में खुद को कहानीकार से किस्सागो में कुशलतापूर्वक रुपांतरित करने की प्रक्रिया भी है। कहानीकार से किस्सागो में तब्दील होने का आशय यह है कि वे रोचकता पर पठनीयता के नये उपादानों को कुशलतापूर्वक अपनी कहानियों में आत्मसात कर कामयाबी हासिल करने लगते हैं। इसे उनकी इन तीन कहानियों में देखा जा सकता है। वैसे तो यह तीनों अलग-अलग स्वभाव की कहानियाँ हैं। इनमें से पहली कहानी का मिजाज थोड़ा इश्किया है। दूसरी में वे कुछ विचित्रताओं के समावेश से कहानी को अप्रत्याशित रूप से पठनीय बनाने का काम करते हैं। तीसरी उनकी राजनीतिक निहितार्थ वाली कहानियों के अंतर्गत आती है। इससे एक ओर तो उनकी कहानी के बढ़ते परास का पता चलता है। इसलिए यहां से उनकी कहानियों के प्रति एक आलोचनात्मक रुख अपनाया जा सकता है और इससे पहले की कहानियों पर उनको रियायत दी जा सकती है। तो 1986 को एक विभाजन बिन्दु मानते हुए प्रियंवद के लेखे का जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है। 1987 में पुनः तीन कहानियाँ 'सूखे पत्ते', 'केंचुल' और 'धूर्त'। इनमें से कोई कहानी 86 में प्रकाशित इनकी तीन कहानियों के मुकाबले खड़े होने की स्थिति में नहीं है। किस्सागोई वाले नुक्ते पर 'धूर्त' जरूर ध्यान खींचती है। विशुद्ध किस्सागोई पर टिकी यह कहानी गजब का समां बांधती है। दरअसल प्रियंवद जिन और जैसी कहानियों की वजह से जाने जाते हैं, यह कहानियाँ बुनावट के स्तर पर उसी गारे-मिट्टी से बनी तो होती हैं पर उसमें वह 'प्रियंवदपना' नहीं दिखता है। इन कहानियों को दरकिनार भी किया जा सकता था। पर एक नियमित अंतराल पर इस ढब की दो-तीन कहानियाँ वे लिखते रहे हैं। अब तो ऐसा लगता है कि यह कहानियाँ पाठकों को गुमराह करने का एक बहाना भर रही हैं। ऐसा कहने की वजह यह है कि प्रियंवद की कहानियों का अपना एक 'कंफर्ट जोन' है। इस किस्म की दो-तीन कहानियों के बाद वे बारहा अपने उसी अखाड़े में लौटते हैं। गुमराह करने के इन पैतरों के पीछे बुनियादी वजह यही जान पड़ती है। प्रियंवद की वे कहानियाँ ज्यादा दमदार और असरदार हैं, जो 'प्वाइंटिड' हैं। मतलब इकहरी संवेदना वाली हैं। इन इकहरी कहानियों से इतर प्रियंवद के यहां 'बाइफोकल' कहानियाँ भी मिलती हैं, पर 'मल्टीफोकल' कहानियों की तुलना में काफी कम संख्या में इनके यहां देखने को मिलती है।

प्रियंवद की खासियत यह 'प्वाइंटिड कहानियाँ' हैं। प्रियंवद की इस किस्म की कहानियों को पढ़ते हुए यह बात बेहद शिद्दत से महसूस होती है कि हाल के दिनों की कहानियों में कुछेक तत्व हैं, जो लापता हैं। और जो कहीं न कहीं उनके

कहानी-पन के लिए नुकसानदेह हैं। वह लापता-सी चीज कहानी का प्रवाह है। वह गुमशुदा-सी लगती चीज कहानी का मुकम्मल होना है। वह खोयी हुई खासियत कहानी को अंत तक पहुंचाने की अदा है। प्रियंवद की कहानियों में कथाप्रवाह को उद्गम से मुहाने तक बहता हुआ महसूस किया जा सकता है। कहानी में प्रवाह की इस परिणति को साकार करना कहानियों की वह आदिम विशिष्टता है, जो अब भी हमारे भीतर कथागत संस्कार के रूप में मौजूद हैं। और चाहे-अनचाहे हर पाठक की यह मुराद होती है कि कहानी उसके इस चाह को पूरा करे। इस चाहना का पूरा होना ही कथा का रस लेना है। कहना न होगा कि प्रियंवद की इन इकहरी कथावस्तु वाली कहानियों में यह सभी विशिष्टतायें कूट-कूट कर भरी हैं। कहानी को बरतने की प्रियंवद की इस अदा का पाठकों पर गहरा असर पड़ता है। प्रियंवद में कहन की अद्भुत क्षमता है (इसे देखना हो तो 'बूढ़े का उत्सव' 1997, अकेले पर्याप्त है)। कहानी की अपनी इस भंगिमा से वह पाठकों को बहा ले जाने में सक्षम हैं। यहां वे निर्मल वर्मा के समकक्ष कई मौकों पर नजर आते हैं। इन 'प्वाइंटिड कहानियों' में व्याप्त इकहरापन प्रियंवद की सीमा का नहीं सामर्थ्य का उदाहरण है। जैसे किसी पौधे की बहुत-सी-कलियों को केवल इसलिए एक अनुभवी माली छांट देता है कि एक ही पुष्प को संपूर्ण पोषण प्राप्त हो और उसकी सुंदरता का कोई ध्यान बंटाने वाला दूसरा साझीदार न हो। वैसे ही प्रियंवद अपनी इन 'प्वाइंटिड कहानियों' में उन कहानियों की दूसरी संभावनाओं का निर्ममता से हनन करते हैं। (एक रचनाकार में अपनी रचना के संपादन का विवेक कितना अनिवार्य है, इसे स्टिफन ज्वाइंग की आत्मकथा 'वो गुजरा जमाना' को पढ़ कर अनुभूत किया जा सकता है।) बल्कि ऐसी किसी भी समांतरता या द्वि-ध्रुवीयता को वे अपने तई कोई प्रोत्साहन देते नहीं दिखते। बल्कि गर ऐसी कोई समानांतरता महसूस होती है तो उसी संवेदना को वो दूसरी स्वतंत्र कहानी के बतौर बुनते हैं। उनके यहां बारीकी से देखें तो कई बार मालूम होता है कि एक ही कहानी को वे कई किशतों में बयां करते आये हैं। कई बार तो ऐसा करते जान पड़ते हैं कि गर ऐसा हुआ तो क्या होता? खासकर अपनी इशिकया मिजाज की कहानियों में तो इस अनुमेयता की छठा देखने लायक है। वे उस भाव दशा या मनोदशा की तमाम संभावनाओं का दोहन करते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि एक ही कहानी में वे ऐसा नहीं करते हैं। उनको तोड़-तोड़ कर एक स्वतंत्र कहानी में इस क्रिया को दुहराते हैं। और बीच-बीच में वही विचलन वाली कहानियां लिख कर पाठकों का ध्यान बंटाने की कोशिश करते हैं। जैसे 'कैक्टस की नाव देह' और 'एक पीली धूप' एक ही

कहानी की दो अलग परिणतियां मात्र हैं। और इनके बीच उस बुढ़ाते व्यक्ति की एक अंतर्कथा 'रेत' भी हो सकती है। इसी ढंग से 'उस रात की वर्षा में' और 'दर्शक' में जो साम्यता है, वह एक ही कहानी को थोड़ी फेरबदल के साथ फिर से संभव करने का अच्छा उदाहरण है। 'खरगोश' कहानी में व्याप्त घटना बहुलता को ध्यान में रखें तो 'एक अपवित्र पेड़' उसकी एक आनुपंगिक कहानी-सी जान पड़ती है, खरगोश की घटना बहुलता में वह गुम हो जाती। ऐसे ही 'नदी होती लड़की' और 'अधेड़ औरत के प्रेम' के बीच भी उस बुनियादी संवेदना को भांपा जा सकता है, जो इन दोनों कहानियों के मूल में है। 'पलंग' और 'बूढ़े का उत्सव' क्या एक ही कथास्थिति का विपर्यय रचती कहानियां नहीं हैं? ऐसा नहीं है कि यह सलूक प्रियंवद ने सिर्फ अपनी प्रेम कहानियों के साथ किया हो। बल्कि गहरे राजनीतिक निहितार्थों वाली कहानियों के साथ भी उन्होंने ऐसा ही बर्ताव किया है। 'कहो रिपुदमन' और 'आर्तनाद' में निमाई और रिपुदमन एक ही हालत में अपनाये गये दो जीवन दर्शन की अलग-अलग परिणतियां भर हैं। 'बूटी बाई की नथ' और 'लाल गोदाम का भूत' इन कहानियों की अंतर्कथायें भर हैं। ऐसी अनेक समरूपताओं से प्रियंवद का कहानी संसार अटा-पड़ा है। 'दूसरा अलीबाबा', 'केंचुल' का विस्तार जान पड़ती है। 'बोधि वृक्ष' के असगर मेंहदी और 'फ्लड लाईट' के नब्बन अली के अकेलेपन की अनुगूंजें एक-सी हैं। 'बहुरूपिया' के लाइब्रेरियन और 'चूहे' के पलुस्कर मैडम के डर का रंग एक-सा है। इस पर स्वतंत्र लेख लिखा जा सकता है, पर जो बात इन कहानियों के स्तर पर ज्यादा महत्वपूर्ण है, वह है इन कहानियों को संभव कर सकने का शिल्प।

बुनियादी रूप से प्रियंवद की कहानियों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहली प्रेम कहानियां; दूसरी, सांप्रदायिकता विरोध की कहानियां; तीसरी, राजनीतिक निहितार्थवाली कहानियां और चौथी अलग-अलग जीवन दर्शन की धारणा करने वाली कहानियां। तो शुरुआत उन कहानियों से प्रियंवद जिनके उस्ताद हैं अर्थात् उनकी तथाकथित प्रेम कहानियों से। इस संदर्भ में उनकी जोड़ का दूसरा मुश्किल है। प्रेम कहानियों में प्रियंवद एक सपेरे की तरह फनकार में तब्दील हो जाते हैं। जैसे हर पिटारे में होता तो सांप ही है, पर देखने से पहले की प्रत्याशा और सपेरे के द्वारा परोसे जानेवाली अप्रत्याशा के बीच रोमांच और आकर्षण का जो मिला-जुला भाव होता है, प्रियंवद की तथाकथित प्रेम कहानियों को पढ़ते हुए कमोवेश हम उसी मनःस्थिति के शिकार होते हैं। कई बार सबसे बड़ी पिटारी को खोलने के पहले सपेरा कोई बिच्छु या नेवला निकाल लेता है, प्रेम कहानियों के

बीच प्रियंवद की बिल्कुल अलग मिजाज की कुछ कहानियां वैसी हैं। प्रियंवद ने जिस ढंग से एक के बाद एक यादगार प्रेम कहानियां दी हैं, वह कामयाबी हतप्रभ करने वाली हैं। 'उस रात की वर्षा में', 'ये खंडहर नहीं है', 'नदी होती लड़की', 'एक अपवित्र पेड़', 'खरगोश', 'दर्शक' जैसी आधा दर्जन यादगार कहानियों से इतर भी उनके यहां कई और प्रेम कहानियां मौजूद हैं। इनमें से 'एक अपवित्र पेड़' और 'खरगोश' को छोड़ दें तो बाकी कहानियां अवैध प्रेम संबंधों पर आधारित हैं। अवैध प्रेम संबंधों की इस अतिशयता के मूल में प्रियंवद की यह सोच है कि "जितनी देर आप तथाकथित अवैध संबंध को जी रहे होते हैं, कम-से-कम उतनी देर तो आप अपनी स्वतंत्रता का उपयोग उपभोग कर रहे होते हैं। समाज के बनाये दायरों को ठेंगा दिखा रहे होते हैं।" (पृ. 262 आईनाघर, भाग-2) इस सोच से उनकी अवैध संबंधों पर आधारित कहानियों का दर्शन निर्मित होता है। इस बिन्दु पर आकर देखें तो प्रियंवद की प्रेम कहानियों और अवैध संबंधों पर आधारित कहानियां दो अलग-अलग चीजें जान पड़ती हैं। वे साफ-साफ लिखते हैं कि "अवैध संबंधों का प्रेम मुझे आकर्षित करता है। मेरा विश्वास है कि प्रेम अपनी पूरी चमक, पूरे आवेग के साथ ऐसे संबंधों में ही रहता है... ऐसे संबंधों का प्रेम बहुत गंभीर और अर्थपूर्ण होता है। प्रेम के इन्हीं क्षणों में मनुष्य अपनी असली और पूरी स्वतंत्रता का उपभोग करता है।... शेष संबंधों में तो वह एक लगातार दुहराई जाने वाली ऊबी हुई गुलामी होती है, जो जरा सी ऊपर की पर्त खुरचने पर दिखाई देने लगती हैं। यह गुलामी, गुलामों को धीरे-धीरे तर्कपूर्ण और नैतिक लगने लगती है। यही उनकी अंतिम शरण बन जाती है। इससे मुक्ति की कल्पना पाप और भय को जन्म देती है।" (पृ. 205, अंधेड़ औरत का प्रेम, आईनाघर भाग-1) प्रियंवद का यह दर्शन एकांगी है, जिसमें अपने हिस्से के सच को पूरे समाज का आधिकारिक सच बताने की कोशिश है। इस सोच को क्रियान्वित करने पर एक किस्म की जो सामाजिक अराजकता पैदा होगी उसके बारे में प्रियंवद का मानना है कि "सामाजिक अराजकता का कारण होने के बावजूद मैं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्षधर हूं।" (पृ. 263, आईनाघर, भाग-2) यों तो प्रियंवद की प्रेम कहानियों में कहीं भी 'प्रेम' और 'अवैध संबंध के प्रेम' के बीच की विभाजक रेखा उपलब्ध नहीं है। पर इस संदर्भ में उनका यह मानना है कि "देह के साथ प्रेम हो यह जरूरी नहीं है। मगर प्रेम के साथ देह का होना जरूरी है। वैसे प्रेम बिना देह के भी संभव है लेकिन उसकी संपूर्णता देह के साथ आती है।" इस तरह देखें तो प्रियंवद की प्रेम कहानियां व्यक्तिवाद और देहवाद की पक्षधर हैं। इस 'व्यक्तिवाद' और 'देहवाद' में उनकी

‘कलात्मकता’ को शामिल कर लिया जाये तो यह हिन्दी में एक नये किस्म के रीतिवाद का पर्याय बनता दिखता है, जिसे कायदन ‘नव रीतिवाद’ कहा जा सकता है। अवैध संबंधों पर आधारित इन कहानियों को एक-एक करके बारीकी से पढ़ें तो इस ‘नव रीतिवाद’ को ज्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। जैसे रीतिकाल में नायिका भेद के अंतर्गत भांति-भांति की नायिकाओं की सर्जना की गई थी, वैसे ही प्रियंवद की कहानियों में भी भांति-भांति की किशोरियों, नवयौवनाओं, नवविवाहिताओं, विवाहिताओं की पूरी रेन्ज है। प्रियंवद की नायिकायें भी काम्य हैं। लालसाओं और ऐषणाओं को जन्म देनेवाली हैं। एक दिपदिपाती-सी कामुकता को रचती यह यौन फंतासियां मूल रूप में स्त्री को एक देह के रूप में ही प्रस्तावित करती हैं। प्रियंवद की इन प्रेम कहानियों में देह एक जरूरी संदर्भ है, लेकिन स्त्री-देह। (“गहरे दुख में स्त्री देह एक शरण है। चूल्हे की आंच में जैसे कोई कच्ची चीज परिपक्व होती है... उसी तरह पुरुष के क्षत-विक्षत, खंडित अस्तित्व को वह देह सम्हालती है... धीरे-धीरे अपनी आंच में फिर से पका कर जीवन देती है। स्त्री देह कितनी ही बार, चुपचाप, कितनी तरह से पुरुष को जीवन दे देती है, पुरुष को नहीं पता होता।” पृ. 278, दर्शक, आईनाघर, भाग-1) कहानियों के बीच में आने वाली कामशास्त्र की टीपें स्त्रियों की होंठ की मांसलता के बेहतर उपयोग के बाबत हैं, उनके पेट पर पड़नेवाली त्रिवली के निमित्त हैं। मर्दाने देह के सौष्ठव को कहीं उस रूप से, चाव से चित्रित नहीं किया गया है। प्रियंवद की इन प्रेम कहानियों में व्याप्त देश-काल को महसूसना चाहें तो वह नितान्त वायवीय जान पड़ती हैं। रीतिकाल के बारहमासे की तरह यहां भी ऋतुयें आलम्बन और उद्दीपन की उसी शास्त्रीय भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। परिवेश के नाम पर देश-काल से मुक्त एक ऐसा यूटोपिया रचा गया है, जहां भोग की निर्बाध छूट है। ‘एक अपवित्र पेड़’ और ‘खरगोश’ जैसी प्रेम कहानियों को छोड़ दिया जाये तो अवैध संबंधों वाली इन कहानियों का नायक हर जगह एक ही व्यक्ति है, जो अपनी बौद्धिकता के बूते स्त्रियों के आखेट में रमा हुआ है। मानो प्रियंवद ने इस पुरुष सूत्रधार के लिए ही स्त्रियों के आखेट का एक उत्सव रच डाला है। दरअसल, सामाजिक अराजकता की कीमत पर प्रियंवद जिस व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रति पक्षधरता प्रदर्शित कर रहे हैं, उस दावे की पोल यह कहानियां खोलती हैं। अवैध संबंधों पर आधारित इन कहानियों में अधिकांश मौकों पर व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर एक ‘प्रच्छन्न मर्दवाद’ की व्याप्ति देखी जा सकती है। वर्जनाओं से मुक्ति के नाम पर देह मुक्ति के इस अनुष्ठान में प्रियंवद राजेन्द्र यादव के असल साझीदार जान पड़ते हैं। चूंकि प्रियंवद

के पास एक समर्थ भाषा है। प्रियंवद की कहानियों में व्याप्त 'प्रियंवदपने' में भाषा के इस सामर्थ्य की बड़ी भूमिका है। इसलिए यह पूरा अपराध उसी भाषा में किया जाता है और उसी भाषा के जरिये उसे छिपाया भी जाता है। कहानी का सारा क्रिया-व्यापार इसी भाषा के धरातल पर घटित होता है। कई बार इस भाषिक कौंध के आगे अन्तर्वस्तु के स्तर पर व्याप्त अंतर्विरोधों की ओर हमारा ध्यान नहीं जा पाता है।

अवैध संबंधों पर आधारित प्रेम कहानियों की इस निर्मम शल्यक्रिया से इतर उनमें व्याप्त कुछ खूबसूरत पहलुओं पर भी बात करना लाजिमी है। गर कहानी के स्तर पर बात की जाये तो अवैध संबंधों पर आधारित प्रियंवद की यह प्रेम कहानियां उनके स्वीकार के साहस के कारण बेजोड़ हो सकती हैं। उनकी शुरुआती कहानियों में इसी साहस के अभाव के कारण एक किस्म की अस्पष्टता देखने को मिलती है। इसी कारण कई कहानियों को उन्होंने थोड़े फेर-फार के बाद एक तरह से दोबारा लिखा है। विचारधारात्मक स्तर पर आलोच्य इन कहानियों में व्याप्त चमक से इनकार नहीं किया जा सकता है। वह चमक सार्वजनिक स्तर पर इसी स्वीकार के साहस से इन कहानियों में आ पाया है। जिसे ओमा शर्मा ने बिलकुल सही नोटिस किया था कि "सेक्स और प्रेम को लेकर प्रियंवद की कहानियां एकदम विशिष्ट हैं। इन्हें लेकर उनके यहां जो खुलापन है, न सिर्फ सहज है बल्कि उनके पात्रों में किसी प्रकार का कोई गिल्ट या गांठ नहीं है।" (पृ 261, आईनाघर भाग-2) स्वीकार के इस साहस से इतर इन कहानियों में जिस अदा से मन की खोहों और परतों को उकेरा गया है, पौराणिक मिथकों और ऐतिहासिक प्रसंगों को जिस कुशलता से पिरोया गया है, रोचकता और दिलचस्पी बनाये रखने के लिए अप्रत्याशाओं और असामान्यताओं से लेकर शॉक, थ्रिल के जरिये जिस कदर रोमांच को बनाये रखा गया है, अन्तर्वस्तु से लेकर शिल्प के मोर्चे पर जो मेहनत की गयी है, उससे किस्सगोई की उस शैली का जन्म हुआ है, ऊपर जिसे 'प्रियंवदपन' कहा गया है।

जैसा कि ऊपर साल 1986 को प्रियंवद के लेखन के एक प्रस्थान बिन्दु के बतौर रेखांकित करते हुए कुछ बातें निवेदित की गई हैं, उसी सिलसिले के एक दूसरे सिरे अर्थात् गहरी राजनीतिक निहितार्थ वाली कहानियों की बात करें तो 'आर्तनाद' में उसका उत्स दिखता है। 1952 में जन्में प्रियंवद 1986 में चौतीस साल के हो चुके थे और यह माना जा सकता है कि बतौर रचनाकार वे इतने परिपक्व हो चुके थे कि साल 1986 से कहानियों में व्यक्त उनके विचारों को गंभीरता से लिया जाये। 1986 में प्रकाशित 'आर्तनाद' में प्रियंवद राज्य, धर्म और समाज को वर्जनाओं

का आधार बताते हैं। जिसे वे मई 2003 (कथादेश) में पुनः ओमा शर्मा को दिये गये साक्षात्कार में बल देकर दुहराते हैं कि 'वर्जनायें मूलतः मनुष्य की स्वतंत्रता पर आघात करती है। वर्जनायें ही मनुष्य की बुनियादी मानवीय गरिमाओं को नष्ट करती हैं। वर्जनायें मनुष्यों को गुलाम बनाने का एक उपक्रम भी हैं। राज्य, धर्म और समाज तीनों ने अनेक किस्म की वर्जनायें मनुष्यों पर थोपी हैं। कुछ मनुष्यों को गरिमाहीन रखना समय का स्थायी भाव है। और पतन के इस युग में आज मनुष्य सर्वाधिक गरिमाहीन है। इसके मूल में राज्य, धर्म और समाज की बर्बर, अमानवीय और पाशविक क्रियायें हैं।' तो सवाल उठता है कि 1986 से 2003 के मध्य राज्य, धर्म और समाज की वर्जनाओं के प्रति वे किस प्रकार अपनी कहानियों में 'रेस्पांड' करते हैं? दरअसल राज्य, धर्म और समाज वे संरचनायें हैं, जिनका आपसी गठबंधन हमारे समय की शक्ति संरचना को निर्मित करता है। शक्ति की यह संरचना अशक्तों के प्रति बर्बर, अमानवीय, पाशविक, हिंसक और संवेदनहीन रही है। प्रियंवद की कहानियों का एक हिस्सा राज्य, धर्म और समाज के आपसी गठजोड़ से उपजी बर्बरता, अमानवीयता, पाशविकता, हिंसा और संवेदनहीनता को अपना संबोध्य बनाती है। इन कहानियों में 'बसंत-सा', 'आर्तनाद', 'कहो रिपुदमन' और 'बोधिवृक्ष' प्रमुख हैं। इनमें से 'कहो रिपुदमन' (1988) और 'बोधिवृक्ष' (1997) सांप्रदायिकता पर लिखी बेहतरीन कहानियां हैं। एक रचनाकार को प्रतिरोध की समझदारी भले परंपरा से मिलती हो, पर प्रतिरोध के आख्यान-उपाख्यान के लिए उसे अपनी जमीन स्वयं तैयार करनी होती है। इन दोनों कहानियों की खूबसूरती उस जमीन के कारण है, जहां से प्रियंवद प्रतिरोध दर्ज करते हैं। आत्मा का हिस्सा हुए बौरे सर्जना के यह क्षण संभव नहीं हैं। यह दोनों कहानियां गहरी व्यंजनाओं से युक्त हैं। उन व्यंजनाओं को जिस कलात्मक रचाव के साथ अंजाम दिया गया है, उसकी समझ प्रियंवद की विधागत पकड़ को उजागर करने में सक्षम है। 'कहो रिपुदमन' अल्पसंख्यक की 'प्रचलित समझदारी' (कन्वेंशनल विजडम) को संशोधित करनेवाली कहानी है। रिपुदमन की परिणति में कहानी का मर्म निहित है। सतही तौर पर कहानी में एक हत्या (मुल्लाजी) और एक आत्महत्या (मूमल) सहजता से लक्षित होती हैं। दरअसल, चाहे वह मुल्लाजी की हत्या हो या मूमल की आत्महत्या यह क्रमशः शताब्दियों में अर्जित सामासिकता और सहज रूप से बचती आई निरीहता की आत्महत्या है, जिसे इस देश की राज्य-समाज-धर्म समाजों की आपसी गठजोड़ ने अब सहज सुलभ कर दिया है। पर असल त्रासदी रिपुदमन की है, जो इस हत्या और आत्महत्या के बीच क्रमिक आत्महत्या की स्थितियों को भोगते हुए जीते जी मुर्दा-

सा हो गया है। उसका गुनाह उसकी संवेदनशीलता है। अपने 'संवेदनात्मक ज्ञान' के कारण वह अल्पसंख्यक है। अपनी सोच के कारण वह अल्पसंख्यक है। और इस कारण हिन्दू होने के बावजूद उसकी यह परिणति है। इस कारण 'रिपुदमन' अर्थात् शत्रुओं का दमन करनेवाले की एक विडम्बनात्मक परिणति इस कहानी में है। गौरतलब है कि एक अल्पसंख्यक की मानसिकता या एक अल्पसंख्यक के भय को एक बहुसंख्य कैसे जी या महसूस सकता है? और चूंकि वो इसे जी या महसूस नहीं सकता है, इसलिए उसे आधिकारिक रूप से बयां भी नहीं कर सकता है। 'कहो रिपुदमन' इसलिए भी उल्लेखनीय हैं कि इसमें उस अल्पसंख्यक भय को जीने की कोशिश है। ध्यातव्य यह भी है कि यह कहानी 1984 और 1992 के ऐन बीचों-बीच पड़ने वाले साल 1988 में प्रकाशित हुई थी।

अशोक वाजपेयी ने अपने 'जनसत्ता' के कॉलम 'कभी-कभार' में कभी एक सुंदर बात कही थी कि 'परंपरा एक बहुमुखी मार का अस्त्र है।' 'बोधिवृक्ष' पुनः प्रियंवद के सर्जनात्मक प्रतिरोध के नये आयामों को प्रकाशित करता है। प्रतिरोध की यह विरल जमीन प्रियंवद की इतिहास की समझ से उपजी है। सांप्रदायिकता किस कदर हारी साझी विरासत को मिटाने पर आमादा है, इसे असगर मेंहदी के दर्द के जरिये समझा जा सकता है। जायकों की लुप्तप्राय हो चुकी 'रेसिपी' का हकदार असगर मेंहदी इस मुल्क के किसी बाशिंदे को नहीं बल्कि राशेल को पाता है। इस किस्म की दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बनाओं के मूल में इस मुल्क का मुकद्दर छिपा है। उन अंदेशों को सही-सही पढ़ पाने की काबिलियत प्रियंवद को आज के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय बनाती है। बोधिवृक्ष का सम्बन्ध बुद्ध के बुद्धतत्व की प्राप्ति से है। बाद में जिसकी शाखायें अलग-अलग देशों में गईं, फैलीं। पर उसका मूल यहीं था। पर अब हम इन विरासतों के समूल नाश में रत हैं।

1997 से 2007 के दौरान प्रियंवद ने ग्यारह कहानियां लिखीं, पर इनमें वह चमक कम से कमतर होती चली गई है। इस दौर की सबसे अच्छी कहानी 'दर्शक' है और कुछ छूट के साथ 'अधेड़ औरत का प्रेम'। यह महज इत्तेफाक नहीं है कि जिन कहानियों में उनकी चमक बची मिली वह दोनों कहानियां अवैध संबंधों पर आधारित हैं। यह उस्ताद के अपने पुराने पैंतरों से अपने अखाड़े को गुलजार करने की कोशिशें हैं, जहां अब भी वे अपराजित योद्धा की तरह खड़े हैं। प्रियंवद अब हिन्दी के हस्ताक्षर हैं। उन्होंने अपनी एक शैली विकसित की है। संभव है कि आगे चलकर इस स्कूल में कुछ लोग दीक्षित हों, अब भी हो रहे हैं। पर जो बात प्रियंवद की कहानियों में सबसे मार्के की है, वह है उनकी भाषा, सांप्रदायिकता के प्रति

‘जीरो टालरेन्स’ की उनकी प्रतिबद्धता और अवैध संबंधों के प्रेम के प्रति पक्षधरता। तत्सम और तद्भव की जुगलबंदी से उन्होंने एक सम्मोहक भाषा ईजाद की है। भाषा को उन्होंने एक ऐसे ‘मेलिंग पॉट’ में तब्दील कर दिया है, जिसमें दुनिया-जहां की चीजें डाल दी जायें पर जब वो उनसे निकलती हैं, तो उसमें ‘प्रियंवदपन’ तारी रहती है। इतिहास, मिथक, दर्शन, राजनीति सब घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। चिप्पियों की तरह यह कहानियों पर थोपे हुए नहीं लगते। कहानी में दिलचस्पी को बनाये रखने के लिए उन्होंने जिस ढंग से ‘शॉक-थ्रिल-सरप्राइज’ को कहानी के घटकों के तौर पर विकसित किया, उससे उनकी किस्सागोई एक निखरे हुए रूप में उभर कर आई। बांगला भावुकता को उन्होंने हिन्दी के रुमानियत में तब्दील कर दिया। दृश्यात्मकता से लबरेज उनकी कहानियां ‘सिनेमेटिक सेन्स’ से आप्लावित हैं। अक्सरहां अपनी कहानियों में त्रासदी के अंतरालों को उन्होंने दृश्यों से पाटा है। उनकी कहानियों को पढ़ते हुए एक-एक चीज को ‘विजुअलाइज’ किया जा सकता है। जो इस बात की तस्दीक करता है कि जब तक कहानियां उनके जेहन में सीझती नहीं हैं, तब तक वे उसे पन्नों पर पसारते नहीं हैं। एक ओर अगर उनकी कहानियों में पात्रों के अंतर्विरोध उनके पात्रों को ज्यादा मानवीय बनाते हैं, तो दूसरी ओर प्रियंवद के स्वीकार का साहस उन्हें ज्यादा मानवीय बनाता है। पर सर्वत्र अपने पुरुष पात्रों में एक जन्मजात बौद्धिकता को परोसने की उनकी प्रवृत्ति ने उनके पुरुष पात्रों के व्यक्तित्वों की हत्या की है। सूत्रधार के रूप में सर्वत्र प्रियंवद की मौजूदगी का अहसास होता रहता है। प्रेम कहानियों में कभी-कभी सार्वनामिकता की अतिशयता अबूझ लगने लगती है। मृत्यु और बुढ़ापे की अलग-अलग छठाओं से भरा-पूरा प्रियंवद का रचना संसार उसकी विस्तृत व्याख्या की मांग करता है। स्त्री के अलग-अलग रूपों (मां, बहन, बेटी, प्रेमिका, पत्नी, परस्त्री) के प्रति अपनाये गये प्रियंवद के रुख के विश्लेषण की मांग करता है। प्रियंवद की कहानियों में व्याप्त जटिलताओं और अन्तर्मन की परतों को खोलना एक सुदीर्घ लेख या स्वतंत्र पुस्तक की मांग करता है। यहां उस सुदीर्घपने का अवकाश नहीं है। फिर भी संक्षेप में ऊपर वर्णित ‘प्रियंवदपने’ को समझना है तो प्रियंवद की इन कहानियों से गुजरा जा सकता है। ‘बूढ़े का उत्सव’, ‘आर्तनाद’, ‘कहो रिपुदमन’, ‘बोधिवृक्ष’, ‘एक अपवित्र पेड़’, ‘दर्शक’। ‘उसने कहा था’ की धत्त...!, तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम की इस्स...! के बराबर की वजन का अरे...। आपको ‘एक अपवित्र पेड़’ में मिलेगा। और उन सब पर विस्तार से फिर कभी।

जितेन्द्र श्रीवास्तव

बाँचना तद्भव का दुःख अर्थात्
होना केदारनाथ सिंह

सन्त कवि
चलने से पहले का नमन स्वीकार हो
दिल्ली से आया हूँ
चाहूँ न चाहूँ
जाना होगा दिल्ली ही
और दिल्ली आज की सीकरी है सन्तप्रवर
तब तो एक थी
अब एक के अन्दर एक
जाने कितनी सीकरियाँ हैं!

(कवि कुम्भनदास के प्रति, सृष्टि पर पहरा, पृष्ठ-16)

केदारनाथ सिंह समकालीन हिन्दी कविता के शिखर कवि हैं, इससे शायद ही किसी को इंकार हो। कविता/साहित्य की राजनीति करने वाले लोगों से निरपेक्ष, कुम्भनदास और कबीरदास जैसे संत कवियों के प्रति गहरी कृतज्ञता से भरे, ऐसी कविताएं लिखते हैं जिनमें हमारी भाषा और उस भाषा में जीवन जी रहे लोगों का स्वाभिमान और संघर्ष वाणी पाता है। उनकी कविताएं 'राजनीतिक कविता' होने का शोर नहीं राजनीति की लालिमा से वह रसायन तैयार होता है जो केदारनाथ सिंह की कविता की जीवद्रव्य बनता है। एक ऐसे कवि की कविता का जीवद्रव्य जो

‘आप्तवचन’ रचने के अहंकार का हर समय प्रतिवाद करता है और एक पुरखे के समक्ष अपना प्रश्न इस तरह रखता है -

जानता हूँ-समाधि से फूटकर
आता नहीं कोई उत्तर
फिर भी कविवर जाते-जाते पूछ लूँ
यह कैसी अनबन है-
कविता और सीकरी के बीच
कि सदियाँ गुजर गईं
और दोनों में आज तक पटी ही नहीं!

और यह भी तय है, जब तक ‘सीकरियाँ’ सत्ता के दंभ और दमन-शोषण के आक्सीजन पर चलेंगी। यह पटरी बैठने वाली नहीं है। कविता सभी प्रकार की सीकरियों का सर्वाधिक पुरातन और स्थायी प्रतिपक्ष हैं। केदारनाथ सिंह की कविताएं पिछले साठ वर्षों से न सिर्फ इस मनुष्यधर्मी प्रतिपक्ष का निरंतर सृजन कर रही है बल्कि उसे शक्ति-सम्पन्न भी बनाती रही हैं।

केदार जी अस्सी पार के कवि हैं। अक्सर यह देखा गया है कि वय के इस मुकाम पर (जब कोई अनुभव के शिखर पर होता है फिर भी) कवि जाने-अनजाने दुहराव के शिकार होने लगते हैं। पाठकों-आलोचकों को महसूस होता है कि उस कवि के संसार में वे पहले भी कुछ उसी तरह की ध्वनियाँ सुन चुके हैं। लेकिन केदारसिंह के नए संग्रह ‘सृष्टि पर पहरा’ को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत नहीं होता। एक ऐसी उम्र जब थकान स्थायी भाव बन जाती है तब केदारनाथ सिंह का कवि उम्र के बोध के बावजूद सूर्य को अपना समकालीन बताता है। वह उसे अपने पहले प्रेम के प्रतिद्वन्दी की जगह रेखांकित करते हुए धीरे से यह भी कहता है -

मैं उसे इसलिए भी जानता हूँ
कि वह बहमांड का
सबसे सम्पन्न सौदागर है
जो मेरी पृथ्वी के साथ
ताप और ऊर्जा की तिजारत करता है
ताकि उसका मोबाइल
होता रहे चार्ज।
कुछ बातों को कई कवि असाधारण चिल्लाहट के साथ कहते हैं, फिर भी

बात अनसुनी रह जाती है। इसके समानान्तर केदार जी बहुत संयत ढंग से अपनी बात कहते हैं और वह सुनने वाले/वालिओं को अपनी बात लगने लगती है। वह 'स्व' के 'अन्य' में विलोपन से निःसृत कला है जो कविता को अपेक्षित उष्मा से भर देती है।

दो

केदारनाथ सिंह की कविताओं में विद्रोह के कई रूप हैं। वे एक ऐसे कवि हैं जो 'वस्तु' और 'निष्प्राण' मान ली गई चीजों की चेतना को रेखांकित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'अति साधारण' के प्रति निष्ठा का प्रमाण है। 'विद्रोह' शीर्षक कविता में बिस्तर अपने कपास में वापस जाना चाहता है। 'कुर्सी और मेज' संवेदनहीनता की इस अकाल बेला को इस तरह परिभाषित करते हैं-

आपको सहते-सहते

हमें बेतरह याद आ रहे हैं हमारे पेड़

और उनके भीतर का यह जिन्दा द्रव

जिसकी हत्या कर दी है आपने।

केदारसिंह की कविताएं उन चीजों और संवेदनाओं का पुनराविष्कार करती हैं जो हमारे जीवन में गहरे शामिल हैं लेकिन जिनको हम भूल गए हैं। वे 'कपास' के फूलों पर कविता लिखते हुए उन पक्षों पर विचार करते हैं, जिन पर किसी की दृष्टि लगभग जाती ही नहीं। कविता की आरंभिक पंक्तियाँ हैं-

वे देवता तो पसन्द नहीं

लेकिन आश्चर्य इस पर नहीं

आश्चर्य तो ये हैं कि कविगण भी

लिखते नहीं कविता कपास के फूल पर

प्रेमीजन भेंट देते नहीं उसे

कभी एक-दूसरे को

जबकि यह है कि नंगा होने से

बचाता है सबको

और सुतर गया मौसम

तो भूख और प्यास से भी

बचाता है वह

ईश्वर को तो ठंड लगती नहीं
वैसे नंगा होना भी
वहाँ उतना ही सहज है
उतना ही दिव्य
इसलिए इतना तय है कि ठंड के विरुद्ध
आदमी ने ही खोजा होगा
पृथ्वी पर पहला कपास का फूल।

यह पूरी कविता साहचर्य, सौन्दर्यबोध और विस्मरण की नयी व्याख्या करने के साथ ही बहुत तेजी से अर्थहीन हो रहे एक शब्द 'कृतज्ञता' को अपने पाठकों की स्मृति की हिस्सा बनाती है। जो खो रहा है लेकिन जिसे हर हाल में बचना चाहिए, केदारनाथ सिंह की कविताएं अपनी पूरी सामर्थ्य से उसके साथ और उसके पक्ष में खड़ी हैं। वे पृथ्वी से उसके घर का पता पूछते हुए घास के पास जाते हैं, उसकी परेशानी को समझने की कोशिश करते हैं और अपने समय की सबसे जरूरी इबारत लिखते हैं -

कुछ सूचनाएँ हैं उसके पास
कुछ बातें जरूरी
जो वह बुदबुदाना चाहती है
तुम्हारे कान में
कभी भी...
कहीं से भी उग आने की
एक ज़िद है वह
दुनिया की सबसे खूबसूरत ज़िद
ताकि 'उगना' शब्द जिन्दा रहे तुम्हारे शब्दकोश में।

देखना चाहिए कि केदारनाथ सिंह किस प्रकार दूब जैसी मामूली घास को विद्रोह, स्वाभिमान और सृजन के एक बड़े प्रतीक में बदल देते हैं। यही वह दृष्टि है जो उन्हें विशेष और अग्रणी बनाती है। इन दिनों हमारे देश में जनतंत्र की जो स्थिति है, उसमें इन पंक्तियों के गहरे राजनीतिक आशयों को समझा जा सकता है-

कभी-कभी लगता है
और पिछले कुछ समय से

कुछ ज्यादा ही लगता है
कि आदमी के जनतंत्र में
घास के सवाल पर
होना चाहिए लम्बी एक अखंड बहस

पर जब तक वह न हो
शुरूआत के तौर पर मैं घोषित करता हूँ
कि अगले चुनाव में
मैं घास के पक्ष में
मतदान करूँगा

कोई चुने या न चुने
एक छोटी-सी पत्ती का बैनर उठाए हुए
वह तो हमेशा मैदान है।

वही एक सर्जक का प्रतिपक्ष है। कविता का श्लाघ्य सौन्दर्य-बोध।

तीन

दुनिया में तीन तरह के कवि होते हैं। एक, जो उधार की सम्पदा पर अपने जन्मकाल से ही वैश्विक होते हैं। दो, जो सिर्फ स्थानीय होते हैं और उसी के साथ बीत जाते हैं। तीन, जो स्थानीयता के महत्व के साथ वैश्विक भाव-बोध से भरे होते हैं। इस तीसरे ढंग के कवि ही हर भाषा में पहली पंक्ति के कवि माने जाते हैं। हिन्दी में इस तीसरे ढंग की व्याख्या के लिए केदारनाथ सिंह की कविताएं विश्वसनीय आधार सामग्री का कार्य करती हैं। 'गीता-शैली' में लिखी उनकी कविता 'एक पुरबिहा का आत्मकथ्य' स्थानीय और वैश्विक भाव-बोध का सुन्दर उदाहरण है। यह कविता भारतीय होने (अन्य राष्ट्रवादी के अर्थ में नहीं) को भी सुन्दर ढंग से व्यंजित करती है। उसकी अंतिम पंक्तियाँ हैं-

इस समय यहाँ हूँ
पर ठीक इसी समय
बगदाद में जिस दल को
चीर गयी गोली

वहाँ भी हूँ
हर गिरा खून
अपने अँगोछे से पोंछता
मैं वही पुरबिहा हूँ
जहाँ भी हूँ।

इस पूरी कविता में सीधे-सीधे कहीं जिक्र नहीं आया है लेकिन इसे पढ़ते हुए अहिंसा के महान प्रस्तोता महात्मा बुद्ध और मनुष्यता के अमर गायक कबीर जैसे विश्व-चेतस पुरबियों की स्मृति स्वाभाविक रूप से उभर जाती है। काव्य मर्मज्ञों से अलग से यह कहने की जरूरत नहीं पड़ती कि इस कविता का सर्जक बुद्ध और कबीर की धरती से आया है।

केदारनाथ सिंह की काव्य-कला का एक प्रमुख रूप तब देखने में आता है जब वे किसी साधारण सी बात से कविता शुरू करते हैं लेकिन उसे पूर्णता एक ऐसी सूक्ति में ले जाकर देते हैं जो पाठक के लिए न सिर्फ समकालीन होती है बल्कि अर्थ की बहुस्तरीयता उसे असाधारण उच्चता प्रदान करती है। 'विज्ञान और नींद' एक ऐसी ही कविता है।

एक कवि के पूरे जीवन में कुछ कविताएं ऐसी होती हैं जिसका महत्व उस कवि के लिए जितना होता है, उतना ही उस भाषा के लिए भी जिसमें वह कवि संभव हुआ होता है। केदार जी के लम्बे कवि-जीवन में ऐसी कई कविताएं हैं। इन्हीं में एक है- मंच और मंचान। कविता के आरंभ में एक छोटी-सी टिप्पणी है जो भिक्षु के बहाने यह कविता मनुष्य, मनुष्यता, घर और राजनीति की अंधेरी गलियों तक अथक और अथक आवाजाही सम्पन्न करती है। कह सकते हैं कि 'मंच और मंचान' कविता एक विशेष कालखण्ड का काव्यात्मक दस्तावेज है। कवि ने चीना बाबा का जो परिचय दिया है उसमें जितनी कविता है, उतनी ही जीवन की आभा -

पत्तों की तरह बोलते
और तने की तरह चुप
एक टिंगने से चीनी भिक्खु थे वे
जिन्हें उस जनपद के लोग कहते थे
चीनी बाबा

कब आये थे वे रामाभार स्तूप पर

यह कोई नहीं जानता था
पर जानना जरूरी भी नहीं था
उनके लिए तो बस इतना ही बहुत था
कि वहां स्तूप पर खड़ा है
चिड़ियों से जगर-मगर एक युवा बरगद
बरगद पर मचान है
और मचान पर रहते हैं वे
जाने कितने समय से।

आगे इस कविता में प्रधानमंत्री का जिक्र आया है। कविता की पंक्तियां हैं-
प्रधानमंत्री!

खिल गए लोग
जैसे कुछ मिल गया हो सुबह-सुबह
पर कैसी विडम्बना
कि वे जो लोग थे
सिर्फ नेहरू को जानते थे
प्रधानमंत्री को नहीं!

कहने की आवश्यकता है कि यहाँ नेहरू की स्मृति सिर्फ कविता की जरूरत नहीं है। आज हमारा लोकतंत्र जिन परिस्थितियों में है, उनमें नेहरू जैसे स्वप्नदर्शी की धर्मनिरपेक्ष अगुवा को याद करना उम्मीद के चिराग को जलाए रखना है। कविता में आगे नेहरू की उदासी का भी संदर्भ है। वह किसी प्रधानमंत्री की नहीं, एक ईमानदार राष्ट्र निर्माता की उदासी है। एक विकसित हो रहे नवजात राष्ट्र का मुखिया अपनी आँखों का सपना दिखा सकता था, दंभ से भरकर छप्पन इंच का सीना नहीं। नेहरू बनने के लिए धर्म के व्यापार की नहीं, आत्मा का पहरूआ होने की जरूरत है। बहरहाल, यह कविता कुशीनगर से दिल्ली और दिल्ली से बीजिंग होती हुई 'घर' के प्रश्न से टकराती है। एक वृक्ष को काटकर गिराए जाने पर यह सिर्फ एक बौद्ध भिक्षु की चिल्लाहट भर नहीं है -

'घर है... ये... ये... मेरा घर है'

वह कविता मनुष्य को धर्म के ऊपर स्थापित करती हुई एक अस्थायी घर को

भी किसी स्थायी स्तूप से अधिक महत्व देती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में एक प्रसंग है। बाणभट्ट, निऊनिया, भट्टिनी सब नाव से जा रहे हैं। अचानक बोझ से नाव डूबने की स्थिति आ जाती है। अब नदी में कौन कूदे ? भट्ट रक्षक हैं, कूद नहीं सकते। भट्टिनी को कूदने के लिए कहा नहीं जा सकता। बचे निऊनिया और 'वाराह'। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निऊनिया के जीवन को भगवान वाराह पर भारी पाया। भट्ट भगवान वाराह की मूर्ति को जल में प्रवाहित कर देते हैं और जाति व्यवस्था में निम्न मानी गई निऊनिया के जीवन को राजकुमारी भट्टिनी के समकक्ष स्थापित करते हैं। यह साहित्य का न्याय है। 'सुझाव' कविता में केदार जी लिखते हैं-

भारत का सृजन
अगर फिर से करना
तो जाति नामक रद्दी को
फेंक देना अपनी टेबुल के नीचे की
टोकरी में!

जाति रहित भारत का पुनर्सृजन डॉ. भीमराव अम्बेडकर का स्वप्न था। यह कितना सुखद है कि डॉ. अम्बेडकर का स्वप्न एक मार्क्सवादी कवि का स्वप्न बन गया है। मनुष्यधर्मी विचारों के बीच की ऐसी ही आवाजाही कवि-कर्म को महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बनाती है।

अपनी एक अन्य कविता 'अगर इस बस्ती से गुजरो' में पितृसत्ता पर चोट करते हुए केदारनाथ सिंह कहते हैं-

थोड़ा आगे जाने पर
एक छोटा-सा जर्जर घर तुम्हें मिलेगा
कुछ समय पहले तक
उसमें एक बुढ़िया रहती थी -
मर्दों की दुनिया से लड़ती-झगड़ती
एक निपट अकेली खुद्दार औरत

वह इस बस्ती की
सबसे दमदार आवाज थी

जरा सोचना इस पर
क्या यह सम्भव नहीं कि उस घर को
कर दिया जाय घोषित
एक राष्ट्रीय धरोहर।

जाहिर है, ये पंक्तियाँ सिर्फ संस्कृति समीक्षा का उद्यम नहीं करतीं बल्कि ये एक नई संस्कृति की प्रस्तावना भी तैयार करती हैं। इस संग्रह में कई ऐसे प्रसंग और पंक्तियाँ हैं जो जाति व्यवस्था और पितृसत्ता के समूह नाश का उद्घोष करती हैं।

चार

केदारनाथ सिंह अपने कवि जीवन के आरंभ से ही उम्मीद के कवि है लेकिन वे अपने समय की कुरूपता को ढकने की कोशिश नहीं करते। 'सृष्टि पर पहरा' कविता में एक सूखते वृक्ष पर बचे तीन-चार पत्ते यदि उन्हें रोकते और लुभाते हैं तो बबूल के नीचे एक मजदूर स्त्री का सौ रहा बच्चा भी उन्हें रोकता और व्यथित करता है। वे निहायत सादा दिखती 'पड़ोसी' कविता में अपने समय की विडम्बना को चीन्हते हुए पाठक को संवेदना का थर्मामीटर थमा देते हैं। ऐसा वही कवि कर सकता है, जिसकी कला सीझ गई हो। अधकचरा कवि ऐसी कविताओं में मुंह के बल गिरता है।

'पत्नी की अट्ठाइसवीं पुण्यतिथि पर' शीर्षक कविता इस संग्रह में एक अलग तरह की रचना है। यह कविता गहरे आत्मालोचन से निःसृत है। अपनी पत्नी को याद करते हुए केदार जी लिखते हैं-'

पहले वह गई
फिर बारी-बारी चले गए
बहुत से दिन
और ढेर सारे पक्षी
और जाने कितनी भाषाएं
कितने जलस्रोत चले गए दुनिया से
जब वह गई।
फिर आगे केदार जी लिखते हैं-
एक दिन यह सोचकर
कि जो खाली है

शायद कुछ भर जाए
वाया कविता हो आया क्रेमलिन
देख आया-
लन्दन
पेरिस
और सात समुन्दर पार का
लिबर्टी स्टेच्यू...
यानी एक बूढ़ी चिड़िया की
चूँ... चूँ... चूँ... चूँ...

और जो खाली था
होता रहा खाली और खाली।

कुछ रिक्तियों को यात्राएं, पद, पुरस्कार-सब मिलकर भी नहीं भर पाते।
यही मनुष्य होने की निशानी भी है। अपनी एक छोटी-सी कविता 'आँसू का वजन'
में केदार जी जो कहते हैं उसे इस कविता के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। 'आँसू
का वजन' की पंक्तियाँ हैं-

कितनी लाख चीखों
कितने करोड़ विलापों-चीत्कारों के बाद
किसी आँख से टपकी
एक बूँद को नाम मिला-
आँसू

कौन बताएगा
बूँद से आँसू
कितना भारी है!

पाँच

चुप्पी लोकतंत्र के लिए एक बड़ा खतरा है। हम एक ऐसे समय में हैं जब
चुप्पी धीरे-धीरे एक धर्मनिरपेक्ष आचरण में बदलती जा रही है। जिधर देखिए लोग
अपनी-अपनी चुप्पी में अपना भला ढूँढ़ रहे हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसे

अलग-अलग कवि अलग-अलग दृष्टि से देखते और अभिव्यक्त करते हैं। केदारनाथ सिंह इसे बिल्कुल जुदा लेकिन बेहद प्रभावी ढंग से कविता में लाते हैं। 'चुप्पियाँ' शीर्षक कविता में जब इन पंक्तियों के साथ वे आते हैं, तब पाठक के भीतर कुछ टूटता है-

चुप्पियाँ बढ़ती जा रही हैं
 उन सारी जगहों पर
 जहाँ बोलना जरूरी था
 बढ़ती जा रही हैं वे
 जैसे बढ़ते हैं बाल
 जैसे बढ़ते हैं नाखून
 और आश्चर्य कि किसी को वह गड़ता नहीं।

'एक चुप्पी' एक व्यक्ति या परिवार को खाती है लेकिन 'चुप्पियाँ' अन्ततः एक राष्ट्र को गूंगा कर देती हैं। केदारजी की यह कविता बिना अतिरिक्त बोले हुए चुप्पियों के विरुद्ध आवाज उठाती है। एक बड़ा कवि (उस्ताद कवि) सिर्फ कविता नहीं लिखता, वह अपने बाद आने वाले कवियों के लिए सबक भी तैयार करता है। कहने की जरूरत नहीं कि केदारनाथ सिंह की कविताएं कविता भी हैं और कविता की पाठशाला भी। 'सृष्टि पर पहरा' में एक कविता 'कवि देवेन्द्र कुमार' शीर्षक से है। यह कविता केदार जी के समकालीन और अभिन्न मित्र देवेन्द्र कुमार (बंगाली जी) के बारे में है। वे मूलतः दलित समाज से थे। उनकी कविताओं में ऐसे प्रसंग और संकेत भरे पड़े हैं जो तथाकथित सवर्ण समाज में जनमे कवियों के वहां संभव ही नहीं हो सकते। मार्मिक पंक्तियों और स्मृतियों से भरी यह कविता एक साथ श्रद्धांजलि, भावांजलि और काव्यांजलि है। इस कविता की ये पंक्तियाँ शब्दों में समाए अर्थ से कुछ अधिक कहती हैं-

चलते थे सड़क पर
 तो इतने अनन्य साधारण
 कि अँट नहीं सकते थे
 किसी महाकाव्य में
 पर मिल सकते थे आपको
 किसी भी मोड़ पर

यद्यपि उनको गए
काफी दिन हुए
पर चौँकि एगा मत
अगर किसी दिन सहसा
उन-सा कोई दिख जाय
किसी जातक-कथा में।

छः

केदारनाथ सिंह की कविताओं में संघर्षशील जीवन के अनेक चित्र हैं। वे बगुलों पर लिखते हुए मजदूरों के जीवन में प्रवेश करते हैं। यह रेखांकित करते हैं कि मजदूरी में भी स्त्री-पुरुष का भेद कितना गहरा है। शाम को थके-हारे लौट रहे बगुलों के झुण्ड को देखकर उन्हें 'खेत मजूर' याद आते हैं। उनकी संवेदना इसी तरह अपना विस्तार रचती है।

इस संग्रह में संकलित 'कंधे की मृत्यु' शीर्षक कविता महज इस संग्रह की नहीं, हिन्दी कविता की एक उपलब्धि है। मेरी अधिकतम जानकारी में एक 'हलवाहे' के औदात्य पर लिखी गई यह हिन्दी की अकेली कविता है। यह कविता उस व्यवस्था पर प्रश्न उछाती है जिसमें खेत का 'मालिक' कोई और होता है और उसमें अन्न उपजाने वाला, उसे अपने पसीने से सींचने वाला महज नौकर होता है- एक हलवाहा। इस कविता के 'लालमोहर' 'एक' होते हुए भी मात्र 'एक' नहीं हैं। वे इस देश के करोड़ों खेतिहर मजदूरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। धरती को ऊँवर बनाने वाले, अन्न उपजाने वाले अन्नदाता लालमोहर का घर आप भी देखिए-

घर तो क्या था
पर दूसरा कोई शब्द है नहीं मेरी भाषा में
इसलिए 'घर' ही कहूँगा।

और इसी घर में गहरी मूर्च्छा में लेटे हुए हैं धीरोदत्त नायक लालमोहर,
जिनके बारे में सब जानते हैं-

एक बार जब भरे आषाढ़ में
वे चला रहे थे हल
और आधी से ज्यादा हो चुकी थी बोआई
तो अचानक ऐसा हुआ

कि धसककर बैठ गया बायाँ बैल
 'असगुन है ये' - वे बुदबुदाए
 फिर बाएँ को प्यार से पुचकारा
 जुए को हटाया उसके कंधे से
 और उसके नीचे रख दिया अपना कंधा
 अब बाएँ आदमी
 दाहिने बैल
 कहते हैं-उस बरस
 ऐसी फसल हुई
 जैसी कभी नहीं हुई थी।

लेकिन सब जानते हैं, इसके बदले लालमोहर को कुछ नहीं मिला होगा। तय है, इसके बाद भी उनका परिवार कभी आधे पेट और कभी भूखे पेट ही सोया होगा। केदार जी ने इस अमानवीय और शोषण पर आधारित असमान व्यवस्था को रेखांकित करते हुए लिखा है-

-तो अब ये वही कंधे थे
 वही लालमोहर-
 जो बरसों तक किसी और के खेत में
 हल चलाने के बाद
 इस समय सो रहे थे गहरी मूर्च्छा में
 अपनी ही खाल की खरहरी खटिया पर
 इस तरह-जैसे मरना भी कोई दिया गया काम हो जरूरी
 जिसे पूरी जिम्मेदारी से पूरा ही करना था साँझ होते-होते।

एक ऐसा जीवन जिसमें अपने श्रम पर अपना अधिकार न हो, मरते हुए भी देखकर ऐसा लगे जैसे यह किसी और का दिया काम है, मनुष्य जीवन की इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी! केदारनाथ सिंह की यह कविता इस विडम्बना को जिस आवरणरहित ढंग से सामने रखती है, उसे देख-पढ़कर आत्मा का मुंह खुला रह जाता है। पूरी कविता में एक शब्द भी अतिरिक्त नहीं है। कह सकते हैं, यह कविता हमारी संवेदना की बुनावट पर प्रहार करते हुए एक ऐसा आईना सामने रख देती है, जिसमें हमारे सभी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक छद्म मुँह छिपाते दिख

जाते हैं।

सात

एक कवि और चिंतक के रूप में केदारनाथ सिंह मातृभाषाओं के पक्षधर हैं। वे अपनी कविताओं में भाषिक साम्राज्यवाद का प्रतिकार करते हैं। 'भोजपुरी' पर लिखी उनकी कविताओं को इसी दृष्टि से देखना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक साम्राज्यवाद और भाषिक साम्राज्यवाद एकदूसरे के प्रबल पक्षधर और सहयोगी हैं। पूरी दुनिया में यदि आर्थिक साम्राज्यवाद के साथ-साथ भाषिक साम्राज्यवाद को सफलता मिल जाएगी तो तय है कि एक बड़ी आबादी मुँह में जुबान के बावजूद गूंगी हो जाएगी। माँ के अंतिम संस्कार के बाद गंगा से निवेदन में कही गई इन पंक्तियों में जो है, वह मात्र अपनी माँ के प्रति व्यक्त की गई चिन्ता नहीं है बल्कि आने वाले एक बड़े खतरे का संकेतक है-

मैंने भागीरथी से कहा -

माँ,

माँ का ख्याल रखना

उसे सिर्फ भोजपुरी आती है।

इस संग्रह में 'भोजपुरी' शीर्षक से एक स्वतंत्र कविता ही है। एक और कविता 'देश और घर' शीर्षक से है जिसमें दो भाषाओं में सामानान्तर जीवन जीने के सुख और द्वन्द्व का प्रभावी अंकन है। 'देवनागरी' शीर्षक कविता में भाषा सिद्धांतों को धता बताते हुए जो जीवन राग विन्यस्त है, वह केदारनाथ सिंह की असल पहचान है। ऐसा जीवन राग गहरी सामाजिक संलग्नता की कोख से पैदा होता है। ऐसा कम कविताओं के साथ होता है कि उसकी प्रत्येक पंक्ति आपको अंकवार देती चले। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए -

'न' एक स्थायी प्रतिरोध है

हर अन्याय का।

या इन पंक्तियों को देखिए-

'स' के संगीत में

संभव है एक हल्की-सी सिसकी

सुनाई पड़े तुम्हें

हो सकता है एक खड़ीपाई के नीचे
किसी लिखते हुए हाथ की
तकलीफ दबी हो

कभी देखना ध्यान से
किसी अक्षर में झाँककर
वहाँ रोशनाई के तल में
एक ज़रा-सी रोशनी
तुम्हें हमेशा दिखाई पड़ेगी

यह मेरे लोगों का उल्लास है
जो ढल गया है मात्राओं में
अनुस्वार में उतर आया है
कोई कंठावरोध

पर कौन कह सकता है
इसके अन्तिम वर्ण 'ह' में
कितनी हँसी है
कितना हाहाकार!

केदार जी का लेखन बताता है कि वे भारतीय भाषाओं के बीच आवाजाही के समर्थक हैं। वे हिन्दी को प्यार करते हैं लेकिन साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति गहरा अनुराग रखते हैं। इस संग्रह में 'हिन्दी' शीर्षक से एक कविता है जो मलयालय के प्रसिद्ध कवि के. सच्चिदानन्दन को समर्पित है। यह समर्पण अपने आप में एक पूरा विचार है। 'अन्य' के प्रति आदर का सूचक है। यह कविता 'राजभाषा' के सरकारी खेल से पर्दा उठाती है। इसमें एक अनन्य हिन्दी प्रेमी (जो हिन्दी का बड़ा कवि भी है) लगभग आर्तनाद करते हुए कहता है-

मेरा अनुरोध है
भरे चौराहे पर करबद्ध अनुरोध
कि राज नहीं-भाषा
भाषा-भाषा सिर्फ भाषा रहने दो मेरी भाषा को

इसमें भरा है पास-पड़ोस
और दूर-दराज की इतनी ध्वनियों का
बूँद-बूँद अर्क
कि मैं जब भी उसे बोलता हूँ
तो जैसे कहीं गहरे
अरबी-तुर्की बांग्ला तेलुगू
यहां तक कि एक पत्ती के हिलने की आवाज़ भी
मैं सब बोलता हूँ ज़रा-ज़रा
जब बोलता हूँ हिन्दी

और जब भी बोलता हूँ
यही लगता है-
सारे व्याकरण में
एक कारक की बेचैनी हूँ
एक तद्भव का दुख
तत्सम के पड़ोस में।

कहना होगा, केदारनाथ सिंह की भाषा संबंधी सभी कविताएं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का तीक्ष्ण प्रतिवाद करते हुए भाषिक लोकतंत्र का परिवेश सृजित करती हैं।

आठ

केदार जी के लेखन का आरंभ गीतों से हुआ था। यह अकारण नहीं है कि उनकी कविताएं कविता की शर्त पर 'कविता' हैं। उन्हें बलात् कविता सिद्ध करने की जरूरत नहीं पड़ती। उनकी कविताओं में गहरा अनुशासन विन्यस्त होता है लेकिन उनमें रूप और अन्तर्वस्तु को अलगाकर देखना असंभव है। केदार जी में रूप का आग्रह है लेकिन अपनी पूर्णता में वे अन्तर्वस्तु के सौन्दर्य के कवि हैं। उनमें उनकी कविताओं से गुजरते हुए सिर्फ विषय का चयन नहीं, शब्दों का चयन और भाषिक विन्यास भी देखना चाहिए। उनकी 'बाजार में आदिवासी' कविता हो या कैलाशपति निषाद, शुभनारायण शर्मा और निजामुद्दीन जैसे इस महादेश के साधारण लोगों को समर्पित 'जहाँ से अनहद शुरू होता है' शीर्षक कविता हो, उनकी

असंदिग्ध प्रतिबद्धता अपने पाठकों का स्वागत करती मिलती है। उनकी कविताओं में महाकवि निराला की आवाज का स्मरण है तो 'आदमी और पशु के बीच पुल बने हीरा भाई' का भी स्मरण है, जिन्हें कोई नहीं जानता। यह याद रखने की बात है कि केदारनाथ सिंह मूलतः उन लोगों के कवि हैं जो दुनिया बनाते हैं लेकिन जिन्हें यह दुनिया न जानती है, न जानना चाहती है। इस अर्थ में वे महात्मा गांधी के 'आखिरी आदमी' और डॉक्टर अम्बेडकर के सपनों के कवि हैं। वे 'एक ठेठ किसान के सुख' को काव्य-विषय बनाते हैं और उदारीकरण के इस दौर में जब स्त्री को महज एक वस्तु में बदलने की हर संभव कोशिश की जा रही है तब कृतज्ञता का आदिम राग सुनाते हैं-

किसी को प्यार करना
तो चाहे चले जाना सात समुंदर पार
पर भूलना मत
कि तुम्हारी देह ने एक देह का
नमक खाया है।

इस संग्रह में कई कविताएं छन्द में हैं और आखिरी कविता में जीवन का छन्द है। अमरता की पारम्परिक समझ और धारणा का प्रत्याख्यान करते हुए साधारण के औदात्य का गीत सुनाने वाला यह कवि धीरे से कहता है-

जाऊँगा कहाँ
रहूँगा यहीं

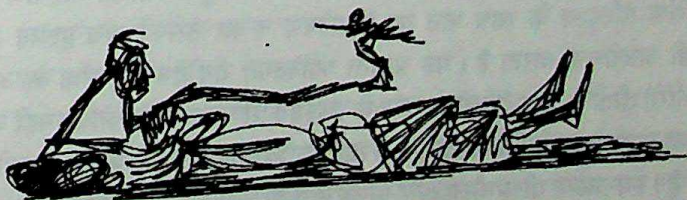
किसी किवाड़ पर
हाथ के निशान की तरह
पड़ा रहूँगा

किसी पुराने ताखे
या संदूक की गंध में
छिपा रहूँगा मैं

दबा रहूँगा किसी रजिस्टर में
अपने स्थायी पते के
अक्षरों के नीचे

या बन सका
तो ऊँची ढलानों पर
नमक ढोते खच्चरों की
घंटी बन जाऊँगा
या फिर माँझी के पुल की
कोई कील
जाऊँगा कहाँ
देखना
रहेगा सब जस का दस
सिर्फ मेरी दिनचर्या बदल जाएगी
साँझ को जब लौटेंगे पक्षी
लौट आऊँगा मैं भी
सुबह जब उड़ेंगे
उड़ जाऊँगा उनके संग-

कहना होगा, 'सृष्टि पर पहरा' हमारे समय की हिन्दी कविता का प्रतिनिधि
चेहरा है।



अमिताभ राय

सम्पूर्णता की तलाश में

चूँकि मैं पाठ को सबसे ज्यादा महत्व देता हूँ और समाज, राजनीति, इतिहासबोध यहां तक कि अपने निजी अनुभव तक को भी पाठ तक पहुंचने की कुंजी मानता हूँ, इसीलिए मैं पाठक के इर्द-गिर्द ही रहता हूँ। परन्तु लीलाधर जगूड़ी की पुस्तक पर बात की शुरुआत मैं आलोचना की दयनीय स्थिति से करना चाहता हूँ। इसकी गुंजाइश भी पाठ के बहाने ही है। वे 'नीरस जमाने में सरस कवि' नामक अपनी कविता में लिखते हैं -

“आलोचना में यह बंजर

लोकार्पण के बहाने प्रायोजित समालोचना के बावजूद फैल रहा है”

इस 'बंजर' का संदर्भ कविता में ही है और कविता के बाहर हमारे आलोचनात्मक विवेक में भी है। आलोचना का यह बंजर 'नासमझ की सराहना और समझदार की चुप्पी से' फैल रहा है। साथ ही यह 'लोकार्पण के बहाने प्रायोजित समालोचना के बावजूद' नहीं, के साथ फैल रहा है। संभवतः उसके कारण ही फैल रहा है। आलोचक साहस के साथ अपने युग के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिदृश्य के साथ पाठ का विश्लेषण न कर उसकी अंध प्रशंसा अथवा तीखी आलोचना करता है। यह प्रवृत्ति व्यक्तिगत राग द्वेष की मात्रा के अनुसार निर्धारित होती है। वह किसी समस्या के आलोक में पाठ को विश्लेषित नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि आलोचना में तार्किक विश्लेषण पद्धति का अभाव होता जा रहा है। रचनाकार भी समीक्षा और आलोचना के नाम पर केवल प्रशंसा चाहता है। हर समीक्षा या आलोचना प्रत्येक कृति को महान, शानदार साबित करती है। इस

लोकतांत्रिक समय में रुचियों की विभिन्नता को देखते हुए ऐसा हो भी सकता है, परन्तु महानता अंतर्विरोधविहीन नहीं होती। महानतम तथ्यों, व्यक्तियों, प्रवृत्तियों में भी अंतर्विरोध होते हैं। महानता अंतर्विरोधों के साथ और अंतर्विरोधों के बावजूद होती है। आलोचक बस इन अंतर्विरोधों की ओर ध्यान नहीं देते या देना चाहते। इस प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी है। जो चतुर आलोचक हैं वे इन अंतर्विरोधों को समझते हैं पर इन्हें उजागर करने के स्थान पर चुप रह जाते हैं। उनकी चुप्पी इसी कारण अज्ञान का पर्याय नहीं है। इस कारण आलोचना युग और रचना का वास्तविक परिदृश्य उपस्थित नहीं कर पा रही है। वैसे विचारधाराविहीन, उपभोग को ही जीवनमूल्य की तरह स्वीकार करती और सामाजिक-राजनैतिक अवमूल्यन की शिकार समाज व्यवस्था में पल रहा व्यक्ति (लेखक पहले सामाजिक नागरिक और व्यक्ति ही होता है) उपर्युक्त प्रवृत्तियों का शिकार हो जाए तो यह बहुत बड़ी बात नहीं। आलोचक और साहित्यकार भी तो सामाजिक संबंधों के बीच ही निर्मित होता है। आलोचना की बुरी स्थिति के बारे में तमाम रचनाकार और आलोचक बात करते हैं, उसकी दयनीय स्थिति की ओर संकेत करते हुए भाषण देते हैं, परन्तु जब खुद समीक्षा या आलोचना लिखते हैं, तो वहां भी कमोबेश वे ही स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। यह हमारे समय की आलोचना की विडम्बना है।

लीलाधर जगूड़ी का काव्य संसार लगभग पचपन वर्षों में फैला है। इन वर्षों में इनके बारह संग्रह प्रकाशित हुए हैं। वरिष्ठ कवि लीलाधर जगूड़ी का सद्यः प्रकाशित काव्य संग्रह 'जितने लोग, उतने प्रेम' उनका बारहवाँ संग्रह है। इसके पूर्व 'ईश्वर की अध्यक्षता में', 'रात अब भी मौजूद है', 'बची हुई पृथ्वी', 'घबराए हुए शब्द', 'भय भी शक्ति देता है', 'अनुभव के आकाश में चांद', 'महाकाव्य के बिना', 'खबर का मुंह विज्ञापन से ढका है' आदि संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'अनुभव के आकाश में चांद' के लिए इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है। वरिष्ठ कवि अपने संग्रह की पहली कविता 'मेरे बहाने' में लिखते हैं -

"संघर्ष हो, आराम हो सबको कलाओं में बदला गया मेरे बहाने

इस दुनिया में हमेशा रहना चाहता हूँ

एक और दुनिया ढूँढ़ने के बहाने

इस तरह अपने बहाने बनाए रखना चाहता हूँ सारी पुरानी दुनिया।"

पुराने काव्यशास्त्र में काव्य को ब्रह्मानंद स्वाद सहोदर कहा गया है। इस नाते काव्य का सर्जक या रचयिता कवि ब्रह्म के समान हुआ। ब्रह्म सर्जक की भूमिका के कारण विशिष्ट माना जाता है, परन्तु ब्रह्म की स्थिति और उपस्थिति संदिग्ध है।

कवि सर्जक है और हमारे सामाजिक संबंधों के भीतर से निर्मित है, प्रत्यक्ष है। वह सर्जक के नाते सारी स्थितियों, वस्तुगत सच्चाइयों के साथ ही मानवता के कलुष पक्ष को भी रेखांकित करता है। यहां जितने संदर्भों में और जितने अर्थों में 'मेरे बहाने' शब्दबंध का इस्तेमाल हुआ है वह किसी की वैयक्तिक क्षमता के नितांत परे है और सामान्य सहज जीवन में व्यक्ति को इतने संदर्भों में खुद को जोतने की जरूरत भी नहीं है। यह कविकर्म के साथ मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास की अन्नयता का विशिष्ट बोध है। इसी कारण वह कहता है कि संघर्ष हो या आराम सबको मेरे बहाने कला में बदला गया। यहां संघर्ष और आराम दो ध्रुव हैं, विपरीत संदर्भ हैं और नितांत विपरीत ध्रुवों को भी कला में बदलना कवि की विशिष्ट सांस्कृतिक भूमिका है। कवि कहता है कि 'मेरे जिस भूख के बहाने फसलें उगाई गईं/जिस स्वाद के मारे अन्नो को पकवानों में बदला गया/वह भूख मेले से मॉल तक पहुंच गयी मेरे बहाने' जब कवि मेरी भूख कहता है तब वह व्यक्ति वाचक नहीं रह जाता क्योंकि एक व्यक्ति मात्र के भूख के निवारण के लिए तो फसल नहीं उगायी जाती। इसमें पूरे समाज की भूख का सामूहिक निवारण होता है। हां उस फसल को पकवान में एक व्यक्ति के कारण बदला जा सकता है। परन्तु यह भूख व्यक्ति समूहों के कारण जब मेले से मॉल तक पहुंचती है तो इसकी पहचान और परख आवश्यक हो जाती है। मेले की उत्सवधर्मिता का मॉल कल्चर में विकसित होना या उसमें तब्दील हो जाना सामाजिक आस्वाद में आए बदलाव का सूचक है। कवि ने इस बदलाव का विवरण नहीं दिया है। शायद कविता में इसकी गुंजाइश भी नहीं होती है। यह बदलाव उग्र पूंजीवादी विकास के कारण संभव हुआ है। इस पूंजीवादी विकास में मुनाफाखोरी ही संभवतः सबसे बड़ा मूल्य है। जो भूख मेले से मॉल तक पहुंची है, वह अन्नहीन लोगों की भूख नहीं है। वह स्वादलोलुप लोगों की भूख है और बिना भूख के ही स्वाद के लिए पकवानों के क्रय में सक्षम लोगों की भूख है। यह भूख क्रय क्षमता पर निर्भर करती है। समाज का ऐसा सुविधाभोगी वर्ग वैयक्तिकता को सामाजिक संबंधों से कटे किसी मूल्य की तरह प्रवर्तित करता है। जबकि व्यक्ति अथवा वैयक्तिकता सामाजिक संबंधों का समुच्चय होता है। व्यक्ति सामाजिक संबंधों के बिना न जी सकता है, न विकसित हो सकता है और न मर ही सकता है। यह कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि मैं व्यक्ति की निजता को अस्वीकार कर रहा हूं। इसका एक प्राइवेट स्पेस होता है, परन्तु उसका विकास समाज के भीतर ही संभव है। कवि ने कहा है कि 'व्यक्तिगत सुरक्षा भी सामूहिक का बोझ उठाए बिना नहीं हो सकती'।

भाषा हो या सामाजिक आचार-व्यवहार या व्यक्ति की अन्य प्रवृत्तियाँ - वे शुभ-शोभन हो या अशुभ और कलुष, सबकी उत्पत्ति का आगार समाज ही होता है। व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रतिभा उसमें बहुत थोड़ा परिवर्तन ही कर पाती है या कर सकती है। गीता में जब कृष्ण (वेद व्यास) कहते हैं कि यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता तो यह व्यक्ति के निर्माण में व्यक्ति की न्यूनतम भूमिका को ही दर्शाता है, प्रत्यक्षीकृत करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विकास की धार्मिक सरणियों को मैं स्वीकार कर रहा हूँ। यह व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया को दर्शाता है और इससे बहुत साफ है कि व्यक्ति का विकास स्वायत्त और निरपेक्ष न होकर किन्हीं और व्यवस्थाओं के साथ संदर्भित होता है। मनुष्य का विकास समाज के बिना संभव ही नहीं है। कवि कहता है -

“नश्वर लोगों के इतिहास में यश-अपयश, दाग धब्बों सहित
जैसे जीवन का प्रतिनिधित्व असर किया जा रहा हो
लाखों वर्षों से झांकता उतनी दूर का चेहरा
देख रहा है हर समय चट्टान के पीछे से हमें”

इतिहास नश्वर लोगों का है। पर अपने दार्शनिक धरातल पर इतिहास अनश्वर है क्योंकि मानव सभ्यता का इतिहास निरंतरता और सातत्यता में है। अनश्वर शब्द इस संदर्भ मात्र में इतिहास के अनुरूप है अन्यथा यह शब्द इतिहास की प्रकृति के अनुरूप नहीं है। यह जब जीवन के हास-परिहास को, गुण-दोष को, राग-द्वेष को बताता है तब इतिहास पाठ्य पुस्तक की सामग्री न रहकर जीवन के स्पंदन का विषय बनने लगता है। नश्वर लोगों के इतिहास में जीवन का प्रतिनिधित्व केवल शुभ और शुभ्र तत्व नहीं कर रहे हैं। यश-अपयश, दाग-धब्बों सहित जीवन का प्रतिनिधित्व है, और उसी रूप में वह सतत है, अतः अमर है। ‘काली चट्टान’ दिन-रात हमारा पीछा कर रही है तो यह काली चट्टान परम्परा के शुभ-अशुभ सबका समुच्चय है।

कम से कम इस संग्रह में लीलाधर जगूड़ी सम्पूर्णता पर बहुत बल देते हैं। ऊपर मैंने विरोधी स्थितियों को दिखाने की कोशिश की है, वह सम्पूर्णता की आकांक्षा का ही पर्याय है। इस सम्पूर्णता की आकांक्षा के कारण ही कवि धुर विरोधी स्थितियों के सामंजस्य की परिकल्पना करता है। इस क्षणभंगुर जीवन और संसार में पीढ़ियों के माध्यम से सातत्य की बात करता है, नए में पुरानेपन को

तलाशता है और पुरानेपन की नवता को तलाशता है-

‘पुरानेपन की उम्र पुरानों से भी पुरानी-धुरानी है
फिर भी आग जो वर्तमान में नहीं है इतिहास से
चुरानी है इसको आधुनिक राख में बदलने के लिए
आधुनिक राख का मिट्टी बनना
थोड़ा-थोड़ा उसका पुराना बनना है
कुछ नयी प्रजाति के बेल-बूटे हैं
वाकई थोड़ा-थोड़ा पुराना हुआ हूँ मैं।’

इसे केवल शाब्दिक कलाबाजी न मानकर गहराई से विचार किया जाए तो इससे सम्पूर्णता की आकांक्षा स्पष्ट हो जाती है। यहां यह भी स्पष्ट है कि यह सम्पूर्णता की आकांक्षा है, सम्पूर्णता की सिद्धि नहीं। सम्पूर्णता वर्तमान में सिद्ध हो सकती है, अतीत और भविष्य से उसका विशेष संबंध नहीं होता। अगर सम्पूर्णता का संबंध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों से होता है तो यह मानव सभ्यता की भौतिकवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंग बन जाती। ऐसा नहीं होने के कारण ही इन कविताओं में भी पूर्णता क्षण में ही घटित होती है। इस क्षण के बाहर फिर वहीं अपूर्णता है और इस अपूर्णता से कवि भर उठता है-

“उत्तर की ओर जाना हुआ तो भूकंप भूस्खलन और बाढ़ के कारण लौट आना हुआ

दक्षिण की ओर जाना हुआ तो सुनामी ने तटीय जीवन का नामोनिशान मिटा दिया

तब फिर एक और लौट आना हुआ”

इन कविताओं में यह सम्पूर्णता द्वैत के सातुल्यता से उपजाने की कोशिश की गयी है, न कि द्वैत की समाप्ति के द्वारा। यह मध्ययुगीन और आधुनिक मानव के विवेक का फर्क है। मध्ययुगीन मानसिकता द्वैत को समाप्त कर सम्पूर्ण होती है। इन द्वैतों की समाप्ति के उपरान्त जीवन धवल, निष्कलुष और स्वायत्त-सम्पूर्ण हो जाता है। परन्तु जीवन के भौतिक धरातल पर द्वैत कभी समाप्त नहीं होते। जैसे चुम्बक के दो ध्रुव कभी समाप्त नहीं होते। उन्हें चाहे जहां से और जितनी बार तोड़ा जाए दो ध्रुव सदैव मौजूद रहते हैं, वैसे ही जीवन का द्वैत कभी समाप्त नहीं होता। सदैव मौजूद इन द्वैतों को किसी विधि से समाप्त नहीं किया जा सके तो एक बैलेंस के निर्माण की जरूरत होती है। यह बैलेंस ही सम्पूर्णता का आधार है जगूड़ी जी की कविताओं में। इस संग्रह में प्रेम के जो विविध रूप दिखायी देते हैं वह प्रेमी युगल

की सामान्य क्रिया-कलापों, इच्छाओं-आकांक्षाओं से अधिक व्यापक हैं। कवि प्रेम के माध्यम से मनुष्य की सम्पूर्णता को तलाशने की कोशिश करता है, उसे उद्दात मानवीय वृत्तियों का पर्याय बनाता है। तब प्रेम केवल स्त्री-पुरुष के बीच का मनोभाव नहीं रह जाता है, वह युग की स्थितियों से संघर्ष का साधन बनता है -

“धर्मसंकट की तरह पूरे समाज में

उसे एक व्यक्ति से शुरू होना है

व्यक्ति जो एक दुर्लभ कोना है प्रेम का

व्यक्ति भी एक समाज हो जाता है प्रेम में

इतिहास और भूगोल फिर हिलते-डुलते दिखते हैं।”

व्यक्ति जब प्रेम में समाज हो जाए तो यह स्वाभाविक ही है कि उसमें इतिहास और भूगोल की ऐतिहासिक प्रक्रियाएं पुनः प्रतिभाषित होने लगती हैं। क्या इस पुनर्भासन में केवल शुभ और राग के ही दर्शन होंगे? क्या इसमें खाप पंचायतों अथवा मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था की झलक नहीं उभरेगी जो प्रेम को या तो येनकेन प्रकारेण दबा देती हैं अथवा जब इससे भी काम नहीं चलता तो प्रेमी युगल की हत्या करवा देती हैं? क्या इसमें उन लोगों के दर्शन नहीं होते जो प्रेम को सेक्स का पर्याय मानते हैं और इस इच्छा की पूर्ति के बाद प्रेमी का त्याग कर देते हैं? इन पुनर्भासन में शुभ और शुभ्र के साथ अशुभ और अशोभन के भी दर्शन होते हैं। इसके बावजूद प्रेम के उद्दात और धवल रूप को कवि कभी नहीं छोड़ता। यहां एक बात बहुत स्पष्ट है कि कवि को समाज की मौजूद प्रवृत्तियों में अपनी पक्षधरता साफ रखनी पड़ती है। इसके लिए समस्यात्मकता को स्वीकार कर संघर्ष की अपेक्षित योग्यता के साथ ही साथ ऐतिहासिक विवेक के साथ अपने पक्ष का चयन करना पड़ता है। ऐतिहासिक विवेक कहने का तात्पर्य यह कि परिस्थितियों के मकड़जाल और संश्लिष्टता में सही और गलत का खाका सदैव साफ और स्पष्ट नहीं होता है। इन उलझी और संश्लिष्ट स्थितियों के बीच अपने पक्ष का चयन ऐतिहासिक विवेक के बिना संभव नहीं है। इस विवेक की परीक्षा भी व्यक्तियों को हमेशा देनी पड़ती है और इसका कोई फार्मूला भी नहीं है। उपर्युक्त पंक्तियों में लीलाधार जगूड़ी अपनी पक्षधरता साफ करते हैं और यह उनके कवि की सिद्धि ही कही जाएगी। संभवतः इसी कारण कवि कहता है कि ‘कुछ प्रसिद्ध प्रेम याद रह जाते हैं/जिनमें से कई फिर से इस हिली हुई दुनिया को/जमाने में लगे दिखते हैं।’ अर्थात् समाज को व्यवस्थित करने का कार्य प्रेम ही करता है। तब प्रेम और प्रेम के प्रकारांतर से कविता जीवन को योग्य बनाने की प्रस्तावना बनती है और गैरमानवीय परिस्थितियों

के विरुद्ध खड़ी हो जाती है। फिर यह प्रेम सद्भाव, भाईचारे, बंधुत्व सबका पर्याय बनने लगता है -

“शादी-ब्याह वाले प्रेम से थोड़ी फुर्सत निकालकर
बर्फ किस तरह गलती है
नदी किस तरह बहती है
फूलों में क्या खिलता दिखता है आंखों को
फलों में क्या पकता है जीभ के लिए

फूल मुरझाते हैं, फल टपक पड़ते हैं
पके (पत्ते) झर जाते हैं, पेड़ उखड़ जाते हैं
प्रेमी मरते हैं, प्रेम नहीं मरता।”

प्रेम भाव है, भौतिक शरीर (प्रेमी) के नष्ट हो जाने पर भी भाव नहीं मरता। यह भावों की निरंतरता और सातत्यता को ही प्रदर्शित करता है, जो कि उदारता और मानवीयता आदि गुणों से सम्पुष्ट होता है। कवि कहता है कि प्रेम ‘बिना दिए हिस्से नहीं आता।’

यहां ठहर कर यह विचारना होगा कि उदारता, उद्दात्तता, महानता जैसे तत्व जो आधुनिकता के साथ आए हैं, क्या इस भूमंडलीकृत पूंजीवादी और उत्तर आधुनिक व्यवस्था में जीवित रह गए हैं? कवि जब कहता है कि ‘बहुत फैलाया जा रहा है कि प्रेम भी मर गया है/मतलब कि प्रेम भी कहीं अफवाह तो नहीं?’ तब पहला प्रश्न उठता है कि यह अफवाह कौन फैला रहा है कि प्रेम मर गया है? निश्चित रूप से यह भूमंडलीकृत पूंजीवादी व्यवस्था ही फैला रही है, जो कि प्रत्येक भाव, विचार, मूल्य, तत्व, तथ्य को वस्तु में बदलकर उसे लाभकारी विनिमय के लिए इस्तेमाल करती है। यह डिस्कोर्स के रूप में पश्चिमी मुल्कों से आया है। वहां लगभग सभी के अंत की घोषणा की जा चुकी है - इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत आदि-आदि। भारतीय समाजों में जहां अभी आधुनिकता के दर्शन ठीक से नहीं हो पाए हैं, उत्तर आधुनिकता के छिटपुट लक्षणों के सहारे पश्चिमी मूल्यों को प्रस्तावित करना किसी बड़े मूल्य का संकेत नहीं है। आधुनिकता तो दूर की बात है, भारत के अधिकांश हिस्सों में अभी सामंती जड़ता के अनगिनत अवशेष शेष हैं। इन सामंती अवशेषों का पूंजीवादी शक्तियों से गठजोड़ है। ये शक्तियां महानता, उदारता, उदात्तता के सारे संदर्भों को खारिज कर रही हैं। ऊपर कवि स्टेटमेंट देता है कि प्रेम ‘बिना दिए कभी हिस्से नहीं आता’ और फिर प्रश्न करता है कि ‘मतलब कि प्रेम भी

कहीं अफवाह तो नहीं?' तो यहां कवि की निष्ठा का ज्ञान तो होता ही है साथ ही इस प्रश्न के साथ प्रेम के विरोधी शक्तियों के प्रतिकार की आवश्यकता भी प्रस्तावित करता है। इसी कारण कवि कहता है -

“देखो, फूल नए का बीज होने को मुरझाते हैं
बीज खोते हैं दुबारा पैदा होने को
जितना हमने लड़ा उससे कहीं ज्यादा जीवन जड़ा है स्मृतियों में
मेरी तरह मोक्ष नहीं फिर से जन्म चाहती होओगी तुम”

पूरे उपभोक्तावादी मूल्यों के समानांतर विरोध और संघर्ष की कितनी गहरी ताकत इन पंक्तियों में है। फूल नए का बीज होने के लिए मुरझाता है। नए का बीज भविष्य की संभावनाशीलता का पर्याय है। क्या इस नयी संभावनाशीलता के एवज में बीज का कोई गुप्त लाभ होता है? खुद को नष्टकर क्या वह निःस्वार्थ भाव से भविष्य की संभाव्यता को प्रस्तावित नहीं करता? क्या आज की भूमंडलीकृत पूंजीवादी व्यवस्था की डिक्शनरी में निःस्वार्थ जैसे शब्द रह गए हैं? वह चैरिटी भी करता है तो इंकमटैक्स बचाने के लिए। कवि कहता है -

“शब्द और मौन के बीच में
होंठों की पंखुड़ियों से इजहार के लिए कहा गया था
नाखून, दांत और हथियार मारने को नहीं कहा गया था

ऐसे बरतने के लिए कहा गया था
कि स्वार्थ भी निस्वार्थ लगने लगे
ऐसे करना था प्रेम के बराबर तुले रहें”

स्त्री-पुरुष की सीमा के बाहर निकलकर कवि का ध्यान बारम्बार बाजार और लाभ की ओर जाता है तो इसकी वजह समय का गहरा बोध है। कवि के अनुसार प्रेमी - ‘प्रेम की बढ़ती जाती सशुल्क शैली को न समझते हुए/बाजार से ऐसे गुजरे/जैसे गर्मियों में बर्फ की भारी-भारी सिल्लियां/ढोने वाले गधे हैं।’ बाजारवादी और उपभोक्तावादी दौर में इंसानों के संबंधों की परस्परता, सौहार्द का स्थान उनके एक-दूसरे का इस्तेमाल कर लेने की प्रवृत्ति ने लिया है। यह सशुल्क शैली है। इसका बढ़ना बदलती सामाजिक प्रक्रिया है। यह इस्तेमाल की शैली पहले भी रही होगी पर आज के बाजारवादी दौर में बढ़ गयी है। इसको न समझना मूर्खता भी हो सकती है क्योंकि अगर आप इस प्रवृत्ति को पहचानेंगे नहीं तो उसका विरोध भी नहीं कर सकते। परन्तु अगर सुख के श्रोत को पहचानता है तो युग को भी समझता

है। तब इसे न समझना भी एक किस्म की मौकापरस्ती है और इसी कारण वह बाजारवादी प्रवृत्तियों को अनदेखा कर देता है। इसीलिए वह 'किसी बड़े मुनाफे के लिए' प्रेम का जीवन में नहीं, 'जीवन का प्रेम में निवेश' करता है। ये पंक्तियां युग धर्म के सामानांतर ही सार्थक होती हैं।

इन कविताओं में कवि व्यवस्था और प्रेम (प्रेम की शक्ति चाहे जो हो) के बीच आवाजाही करता है। वह कविता में अनेक ऐसे संदर्भ छोड़ता है जो इस आवाजाही को स्पष्ट रूप से प्रस्तावित करे। 'प्रेम में स्थानीयता' में कवि कहता है कि 'इस तरह सारे भूमंडलीकरण से निकलकर/बार-बार आना पड़ा मुझे अपनी स्थानीयता में।' विकास का जो मॉडल आज अपनाया गया है वह क्षेत्रवाद के संदर्भ में क्षेत्रीयता को तो बढ़ावा दे रहा है, स्थानीयता को नहीं। स्थानीयता शहरों के बाजारों में और अमीरों के ड्राइंग रूम में सुशोभित होती है, जीवन में उसको अपनाया नहीं जाता। भूमंडलीकरण के साथ विकसित हो रहे मॉडल में विकास के सारे अवसर शहरों तक सीमित हो गए हैं। ऐसे में व्यक्ति जीवन-यापन, जीवन की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लिए इस व्यवस्था के साथ हो लेता है। चूंकि इस संग्रह में संवेदनशील कवि उदारता, उद्दात्तता, मानवीयता के आदर्श गुणों का पूर्ण परित्याग नहीं कर पाता, इसीलिए स्थानीयता और उससे जुड़े मूल्यों का भी त्याग नहीं कर पाता। इससे जो दूसरी बात उभरती है, वह है विभिन्न सामाजिक और व्यक्तिगत मनोभाव व्यवस्था के गिर्द ही आकार पाते हैं। व्यवस्था और प्रेम की आवाजाही के कारण ही कवि प्रेम के अतिरिक्त अन्य विषयों और प्रवृत्तियों पर भी ध्यान दे पाता है। जब कवि सामाजिक प्रवृत्तियों पर बात करता है तो बात सीधे-सीधे नहीं करता, वह दृष्टांत या अन्योक्ति का सहारा लेता है-

“दुनिया की सारी चंचल लहरों से बनी नदी के संक्षिप्त शरीर-सी गिलहरी
पूँछ के अन्तिम बाल तक धुली-खिली, मुँह से दुम तक की
स्पन्दित लहरियों में गिन नहीं पा रहा मैं जिसकी एक भी लहर

स्थितप्रज्ञता की अन्तिम स्थिति में छोटी गिलहरी की चंचराई
चंचलता क्या याक की, घंटे जैसी लटकी ध्यानस्थ दुम बन सकती है ?
जो अपनी पीठ पर बैठने वाली मक्खियों को वैसे ही उड़ा देती है
जैसे हम उसे चंचर बनाकर भगवानों पर डुलाते हैं
दुनिया के अनर्थों को उन तक न पहुंचने देने के लिए।”
अथवा

पतन से यदि कुछ सीखना हो तो
पानी और पत्ते के पतन से भी कुछ सीखो

* * *

“पानी का गिरना ही नहीं रमना और समाना भी देखो
उगना ही नहीं गिरना भी देखो पत्ते का
उड़-उड़कर धूल से लिपटना और गलना भी देखो
प्राणों से कैसे मिट्टी को प्राणवान बनाता है”

साफ है कि कवि की प्रवृत्ति यहां भी उद्दात्ततावादी मानवीय मूल्यों के साथ ही है। समाज के साथ ही वह प्रेम के संदर्भ में भी ऐसे ही मनोभावों को अभिव्यक्त करता है-

“प्रेम खुद एक भोग है जो प्रेम करने वालों को
भोगता है
प्रेम खुद एक रोग है जिसमें प्रेम करने वाले
रहे हैं बीमार

थोड़ा भी बन्धनों से मुक्त करे वह मुश्किल प्रेम
कहीं दिखता नहीं
प्रेमीजन बचें किसी एकमुखी प्रेम में गिरफ्तार
होने से”

जब प्रेम बंधनों से युक्त होता है तो प्रेम भोग और रोग की तरह है परन्तु जो बंधनों से मुक्त करे वह व्यक्तित्व को विकसित करने वाला होता है। परन्तु इस प्रेम को कवि ‘मुश्किल प्रेम’ कहता है। ऐसा उन्हीं बाजारवादी स्थितियों के कारण है जिसका जिक्र कवि ‘प्रेम की स्थानीयता’ में करता है। ऐसी पंक्तियों में कवि में संदेश देने का भाव प्रत्यक्ष नजर आता है। यह संदेश देने की प्रवृत्ति काव्योत्कर्ष में बाधक है। इनके काव्य में जो बहुत ज्यादा सूक्तियां मिलती हैं, उसकी वजह यह प्रवृत्ति ही है।

भाव के धरातल पर कवि सम्पूर्णता की तलाश करता नजर आता है, परन्तु यह बात हम इनके काव्य शिल्प के संदर्भ में नहीं कह सकते। इनके शिल्प में फैलाव है, विस्तार है। सामान्यतः यह देखा गया है कि सम्पूर्णता की तलाश वाले कवियों का शिल्प संकेन्द्रित होता है। यहां यह अंतर्विरोध कैसे उत्पन्न हो रहा है? क्या यह आधुनिकतावादी और उत्तर आधुनिकतावादी स्थितियों के एक साथ पनपने का

अंतर्विरोध नहीं है ? उत्तर आधुनिक और भूमंडलीकृत पूंजीवादी विकास ने संचार, बाजार और मीडिया का अत्यंत विकास किया है। इस विकास ने जीवन में घटनात्मकता और विवरणात्मकता को बढ़ावा दिया है। कवि का शिल्प संभवतः इन्हीं का काव्यात्मक प्रस्फुरण हो।

लीलाधर जगूड़ी की कविताएं एक विचार अथवा एक भाव के कौंध से निर्मित प्रतीत होती हैं। वह आज की कविता का सामान्यीकृत पैटर्न है। शास्त्रीय शब्दावली में आज की कविता संचारी भाव की कविता कही जा सकती है। परन्तु प्रत्येक कवि का इन क्षणिक भावों के अथवा विचारों के प्रस्तुतीकरण का विधान अलग है। यह अलगाव केवल कला का प्रश्न नहीं है। कला उसका एक अंग मात्र है। इसमें कवि की विचारधारा और इस विचारधारा का मनुष्यों, समाज और उसके विभिन्न उपादानों तथा अपने समय के साथ कैसा संबंध है - इसकी महती भूमिका है। लीलाधर जगूड़ी के विधान की विशेषता यह है कि वे अपने विचारात्मक कौंध को अतिरिक्त आयास के साथ चराचर जगत के साथ जोड़ते हैं। यह भी उनकी सम्पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। पूर्णता की यह तलाश केवल भाव तक सीमित नहीं है अपितु यह कविता में विवरण के स्तर पर भी है। इसीलिए कविता के चयनित विषय के इर्द-गिर्द कवि उनके संदर्भों की सर्जना करता है और अनेक टिप्पणियों की सहायता लेता है। इनकी सम्पूर्णता अपने आप, अपने भीतर नहीं उपजती। ऐसी प्रवृत्ति को लुकाच ने ठीक ही 'सेल्फ साइकिक सिस्टम' कहा है। यह सम्पूर्णता समाज और उसके विभिन्न अवयवों तथा विभिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं से खुद को जोड़कर प्राप्त की गयी है। शिल्प के स्तर पर जो विवरणात्मकता है उसकी एक दूसरी वजह यह भी है। जगूड़ी जी विचार से विवरण के विस्तार में जाते हैं और फिर विचार में लौट जाते हैं। जहां इस पद्धति को नहीं अपनाया गया है वहां भी कविता का आधार विचार ही है। विचार को समाज, व्यक्ति अथवा समस्त चराचर जगत में विस्तार देने की आकांक्षा का लाभ यह है कि विचार को जीवन से जुड़ा हुआ दिखाया जा सकता है। जहां वह जुड़ पाता है वहां तो कविता सिद्ध हो जाती है परन्तु कहीं-कहीं विचार का फैलाव अतिरिक्त हो गया है। जहां ऐसा हुआ है वहीं कविता जटिल और दुरुह हुई है। इस अंतर को 'नए जूते' अथवा 'सरल नदी' की तुलना में 'प्रेम में' की जटिलता से समझा जा सकता है। यह जटिलता तब और बढ़ जाती है जब संदर्भों का क्षीप्र परिवर्तन होता है। इसके बावजूद इन विवरणों के बीच काव्य की कौंध सदैव मौजूद रहती है। इन विचारों के निर्माण में इतिहास और सामाजिक संबंधों की विशिष्ट भूमिका होती है। इसी कारण ये काल्पनिक नहीं

हो जाते, ठोस स्थितियों के प्रस्तुतकर्ता होते हैं। यह जगूड़ी जी की कविताओं की अपनी विशेषता और संरचना है। इस संदर्भ में इनकी कविताओं में एक बात और रेखांकित की जा सकती है। इन कविताओं में जो विवरण है वह किसी नैरेटिव का हिस्सा नहीं है। 'पुरुषोत्तम की जनानी' जैसी कुछ कविताएं हैं जिसमें विवरण है वह किसी नैरेटिव का अंग होकर प्रत्यक्षीकृत हुए हैं। अन्यथा इनके यहां विवरण केन्द्रीय विचार को संपुष्ट करने के साधन हैं। इसी कारण इनकी कविता संवेदना से ज्यादा तार्किक आरोहण से निर्मित होती है।

कवि ने प्रतीकों का बहुत इस्तेमाल किया है। जब काव्य में प्रतीकों का इस्तेमाल होगा, काव्य में संदर्भ ग्राह्यता आ जाती है। ये संदर्भ ही कविता को सामयिक और अर्थगर्भी बनाते हैं। जब कवि कहता है कि 'इस शकल में कई रेगिस्तान हैं/सवारों सहित कई ऊंट मरे पड़े हैं' तो रेगिस्तान प्रतीक होने के कारण व्यापक अर्थ ग्रहण करता है। यह रेगिस्तान भूगोल का नहीं है - शकल का है। विचार की प्रधानता के बावजूद प्रतीकों के कारण ही इनकी कविता सपाट बयान होने से बच जाती है, ये संदर्भ ग्रहण करती हैं, अर्थ का विस्तार करती हैं।

इस संग्रह की भूमिका में कवि आलोचकों के समक्ष एक चुनौती भी रखता है - 'जीवन भाषा के नए अनुभव, नए औजार किसी आलोचक को इन कविताओं में तभी मिल सकता है जब वह शब्द सन्दर्भ की संवेदना के माध्यम से नए रास्ते बनाना जानता हो और किवाड़ों वाली परिकल्पना के नए दरवाजे खोलना भी।' यह चुनौती अपनी जगह है और कविता अपनी जगह। इसे कोई चाहे तो कवि का अहंकार भी कह सकता है अथवा अपनी कविता की उत्कृष्टता के प्रति अतिरिक्त आस्वशित। जबकि कवि विनम्र बने रहने का प्रयास भी भरपूर करता है - "अपनी कविता के बारे में मैं क्या कहूं? कविता में ही सब कुछ कहने के चक्कर में मैं कविता को क्या बनाना चाह रहा हूं और कविता मुझे किस तरह बना रही है यह तो कोई दूसरा मर्मज्ञ ही बता सकता है।" यह अंतर्विरोध आलोचना की स्थिति के कारण ही उभरता है जिसकी ओर मैंने शुरुआत में ही इशारा किया और उपर्युक्त चुनौती संभवतः इसी कारण है। एक बात और कि चुनौती पाठकों को नहीं सिर्फ आलोचकों को दी गयी है। परन्तु इसका अर्थ यह कतई नहीं कि आलोचकों को इनकी कविता में अंतर्विरोध नहीं दिख सकता और वह उसका उल्लेख नहीं कर सकता। इनकी कविता शुद्ध गद्य की कविता है। गद्य की ताकत से लबरेज ये कविताएं विषय के धरातल पर विविधवर्णी हैं और यह कवि के विचारधारात्मक और संवेदनात्मक समृद्धि का पर्याय है, जो सुदीर्घ काव्य यात्रा का परिणाम है।

रचनाकारों से सम्पर्क

रविभूषण	-	09431103960
रोहिणी अग्रवाल (रोहतक)	-	012 62 238881
राहुल सिंह (देवधर)	-	09308990184
प्रियम अंकित (आगरा)	-	09359976161
प्रियवंद (कानपुर)	-	09839215236
अनिरुद्ध उमट (बीकानेर)	-	09251413060
राजेन्द्र धोड़पकर (नई दिल्ली)	-	09811507352
यादवेन्द्र (रुड़की)	-	09411100294
मनोज रुपड़ा (नागपुर)	-	09823434231
कैलाशचन्द्र (रीवा)	-	09424621852
तरुण भटनागर (ग्वालियर)	-	09425191559
जितेन्द्र भाटिया (जयपुर)	-	09460885550
अमिताभ राय (नई दिल्ली)	-	09582502101
जितेन्द्र श्रीवास्तव (नई दिल्ली)	-	09818913798
विमलचन्द्र पांडे (वाराणसी)	-	09820813904
फ़रेन (नैनीताल)	-	उपलब्ध नहीं
जीतेन्द्र गुप्ता (पुणे)	-	09420732622

अंतिका प्रकाशन की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

पुस्तक का नाम : लेखक

मूल्य (सजिल्द/पेपरबैक)

आलोचना

इतिहास : संयोग और सार्थकता : सुरेन्द्र चौधरी	450.00/210.00
हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति : सुरेन्द्र चौधरी	550.00/275.00
साधारण की प्रतिज्ञा : अंधेरे से साक्षात्कार : सुरेन्द्र चौधरी	350.00/160.00
गद्य की पहचान : अरुण प्रकाश	350.00
कहानी के फलक : अरुण प्रकाश	350.00
उपन्यास के रंग : अरुण प्रकाश	300.00
स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न और नागार्जुन के उपन्यास : श्रीधरम	395.00

यात्रा-वृत्तांत

खरामा-खरामा : पंकज बिष्ट	295.00/150.00
रास्ते की तलाश में : असगर वजाहत	425.00/225.00
वह भी कोई देस है महाराज : अनिल यादव	295.00/150.00

रेखाचित्र, कला, स्त्री-विमर्श, मीडिया

हमसफ़रनामा : स्वयं प्रकाश	225.00/110.00
समकालीन भारतीय चित्रकला:हुसैन के बहाने: अशोक भौमिक	350.00/160.00
इस उस मोड़ पर : चन्द्रकला त्रिपाठी	200.00/100.00
स्त्री : संघर्ष और सृजन : श्रीधरम	200.00
डिजास्टर : मीडिया एण्ड पॉलिटिक्स : पुण्य प्रसून वाजपेयी	200.00
राजनीति मेरी जान : पुण्य प्रसून वाजपेयी	300.00
देखते रहिये : रवीश कुमार	225.00/130.00

उपन्यास

कामिनी काय कांतारे (खण्ड : 1 एवं 2) : महेश कटारे	830.00
अधूरे सूर्यों के सत्य : प्रकाश कांत	300.00/160.00
शिप्रा एक नदी का नाम है : अशोक भौमिक	200.00/100.00
भूलन कांदा : संजीव बख्शी	200.00/100.00
मोड़ पर (मैथिली) : धूमकेतु अनु. स्वर्णा	450.00/225.00
डॉक्टर ग्लास (स्वीडिश) : जलमार सॉडरवैरिए अनु. द्रोणवीर कोहली	240.00/130.00
धर्मस्थल : प्रियंवद	225.00/110.00
स्वर्गदिवा! पाणि, पाणि : विद्यासागर नौटियाल	200.00/100.00
नंदित नरक में : हुमायूँ अहमद	145.00/70.00
मोनालीसा हँस रही थी : अशोक भौमिक	200.00/100.00
समंदर : मिलिंद बोकिल	200.00/100.00
महामाया : सुनील चतुर्वेदी	300.00/160.00

कहानी-संग्रह

रेल की बात : हरिमोहन झा	125.00/70.00
भैया एक्सप्रेस : अरुण प्रकाश	210.00/110.00
जल-प्रांतर : अरुण प्रकाश	200.00/100.00
नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं : अनिल यादव	200.00/100.00
छछिया भर छाछ : महेश कटारे	200.00/100.00
पाताल पानी : मदन मोहन	225.00/110.00
कोहरे में कंदील : अवधेश प्रीत	200.00/100.00
शहर की आखिरी चिड़िया : प्रकाश कान्त	200.00/100.00
नाच के बाहर : गौरीनाथ	300.00/140.00
पाँच का सिक्का : अरुण कुमार असफल	225.00/110.00
भेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान : सत्यनारायण पटेल	200.00/100.00
लाल छोट वाली लूगड़ी का सपना : सत्यनारायण पटेल	225.00/110.00
बाणमूठ : मुरारी शर्मा	200.00/100.00
कुछ भी तो रूमाती नहीं : मनीषा कुलश्रेष्ठ	200.00/100.00

कविता-संग्रह

जीवन भी कविता हो सकता है : विष्णु नागर	250.00/150.00
स्याही ताल : वीरेन डंगवाल	200.00/100.00
घर के बाहर घर : विष्णु नागर	200.00/100.00
एक बहुत कोमल तान : लीलाधर मंडलोई	200.00/100.00
बाग-ए-बेदिल : कृष्ण कल्पित	850.00/450.00
गलत पते पर समय : नईम	225.00
हर कोशिश है एक बगावत : राजेन्द्र कुमार	350.00
बुरे समय में नींद : रामाज्ञा शशिधर	200.00/100.00
वे जो लकड़हारे नहीं हैं : सुरेश सेन निशान्त	200.00/100.00
पगडंडियाँ गवाह हैं : आत्मा रंजन	200.00/100.00

पुस्तकें मँगवाने के लिए राशि अग्रिम भेजना आवश्यक है। कम-से-कम ₹ 200 की किताब पर डाक खर्च हम वहन करेंगे। ₹ 300 से ₹ 500 तक की किताबों पर 10%, उसके बाद ₹ 1000 तक की किताबों पर 15% और उससे ज्यादा की व्यक्तिगत खरीद पर 20% की छूट दी जाएगी। पुस्तकें मँगवाने के लिए राशि अंतिका प्रकाशन के नामे मनीऑर्डर, ड्राफ्ट या चेक के रूप में भेजी जा सकती है। मनीऑर्डर भेजने की स्थिति में ई-मेल/एसएमएस से आदेश की जानकारी दें।



अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन-2,
गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.)

फ़ोन : 0120-2648212 ई-मेल : antika56@gmail.com
वेबसाइट : www.antikaprakashan.com

अकाल की कला और जैनुल आबेदिन

अशोक भौमिक



अं

अंतिका प्रकाशन
मो. 56 पुणे-4
शालीमार गार्डन, एम्बरदहन 11
गर्जनावाट 201005 (उ.प्र.)

मूल्य : 250



अशोक भौमिक

अं



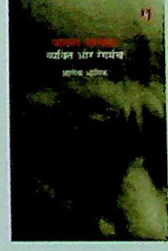
अं

सजिल्द 250.00/पेपरबैक 150.00

सदी की तमाम घटनाओं-दुर्घटनाओं से गुजरते हुए भारतीय कला ने एक सार्थक जनपक्षधर चेहरा अख्तियार किया। देवी-देवताओं और राजा-रानियों की कथाओं से बोझिल और उबाऊ भारतीय चित्रकला के इतिहास की न केवल तिकारी घटना थी बल्कि इस कला ने शोषित पीड़ित आम जनता और उनकी मार्मिक कथाओं को चित्रों के केंद्र में कर कला को एक नई दिशा दी थी। जैनुल आबेदिन को हम कला की ऐसी साहसिक धारा के रूपाकारों की पहली में पाते हैं। बंगाल के महा अकाल पर उनकी चित्र-शृंखला में जहाँ उन्होंने महानगर की सड़कों पर भीख माँगते हुए और मरते ग्रामीण जनता को चित्रित कर विश्व कला में एक अभूतपूर्व त्रासदी को दर्ज करने का ऐतिहासिक दायित्व है, वहीं किसानों, मछुआरों, मल्लाहों और गाँव-देहातों के आम जनो को बार-बार अपने चित्र का विषय बनाया है। आबेदिन की यह विरल पक्षधरता उन्हें इस महादेश के विशिष्ट चित्रकार के रूप में अमर बनाती है। 1971 में बांग्लादेश स्वतंत्र के दौरान बनाए गए उनके यादगार चित्र आज दुनिया भर के मुक्तिकामी जनता की धरोहर हैं।

सुपरिचित चित्रकार अशोक भौमिक ने इस पुस्तक में जैनुल आबेदिन के जीवन, उनकी कला और राजनीति पर विस्तार नि व्याख्या प्रस्तुत की है। यह शायद किसी भी भारतीय भाषा में लिखी जैनुल आबेदिन पर पहली किताब है।

अशोक भौमिक की अंतिका प्रकाशन से प्रकाशित अन्य पुस्तकें



नीसा हँस रही थी
(उपन्यास)
मूल्य : 200.00/100.00

शिशा एक नदी का नाम है
(उपन्यास)
मूल्य : 200.00/100.00

आइस-पाइस
(कहानी संग्रह)
मूल्य : 180.00/90.00

समकालीन भारतीय चित्रकला
(संशोधन ग्रंथ)
मूल्य : 350.00/160.00

बदल सकर : व्यक्ति और रंगमंच
(अनुसंधान ग्रंथ)
मूल्य : 225.00/110.00

विद्युतशक्ति से सशक्तकरण तक



हमारे पूर्वोत्तर राज्यों के स्वप्न आलोकित हुए

त्रिपुरा राज्य में ओएनजीसी की बड़ी विद्युत परियोजनाओं की प्रथम इकाई (363.3 मेगा वाट) भारत के पूर्वोत्तर को प्रकाशमय कर रहा है और यह संयुक्त राष्ट्रसंघ में पंजीकृत विश्व की बृहत्तम स्वच्छ विकास तंत्र परियोजनाओं में से एक है। ओएनजीसी ने राज्य में बेंत उत्पादों को बनाने वाले कई स्वयं सहायता समूहों की भी मदद की है और इस प्रकार महिलाओं को अपने परिवारों का भरण पोषण करने के लिए आजीविका कमाने हेतु सशक्त कर रहा है।

ओएनजीसी कंपनियों का समूह

